कर्ण की आत्मकथा

मनु शर्मा

"यही तो विडंबना है कि तू सूर्यपुत्र होकर भी स्वयं को सूतपुत्र समझता है, राधेय समझता है; किंतु तू है वास्तव में कौंतेय। तेरी माँ कुंती है।" इतना कहकर वह रहस्यमय हँसी हँसने लगा। थोड़ी देर बाद उसने कुछ संकेतों और कुछ शब्दों के माध्यम से मेरे जन्म की कथा बताई।

"मुझे विश्वास नहीं होता, माधव!" मैंने कहा।

"मैं समझ रहा था कि तुम विश्वास नहीं करोगे। किंतु यह भलीभाँति जानो कि कृष्ण राजनीतिक हो सकता है, पर अविश्वस्त नहीं।" उसने अपनी मायावी हँसी में घोलकर एक रहस्यमय पहेली मुझे पिलानी चाही, जो सरलता से मेरे गले के नीचे उतर नहीं रही थी। वह अपने प्रभावी स्वर में बोलता गया, "तुम कुंतीपुत्र हो। यह उतना ही सत्य है जितना यह कहना कि इस समय दिन है, जितना यह कहना कि मनुष्य मरणधर्मा है, जितना यह कहना कि विजय अन्याय की नहीं बल्कि न्याय की होती है।"

"तो क्या मैं क्षत्रिय हूँ?" एक संशय मेरे मन में अँगड़ाई लेने लगा, 'आचार्य परशुराम ने भी तो कहा था कि भगवान् भूल नहीं कर सकता। तू कहीं-न-कहीं मूल में क्षत्रिय है।···तब लोगों ने सूतपुत्र कहकर मेरा अपमान क्यों किया?' मेरा मनस्ताप मुखरित हुआ, "जब मैं कुंतीपुत्र था तो संसार ने मुझे सूतपुत्र कहकर मेरी भर्त्सना क्यों की?"

"यह तुम संसार से पूछो।" हँसते हुए कृष्ण ने उत्तर दिया।

"और जब संसार मेरी भर्त्सना कर रहा था तब कुंती ने उसका विरोध क्यों नहीं किया?"

—इसी पुस्तक से

कर्ण
की
आत्मकथा
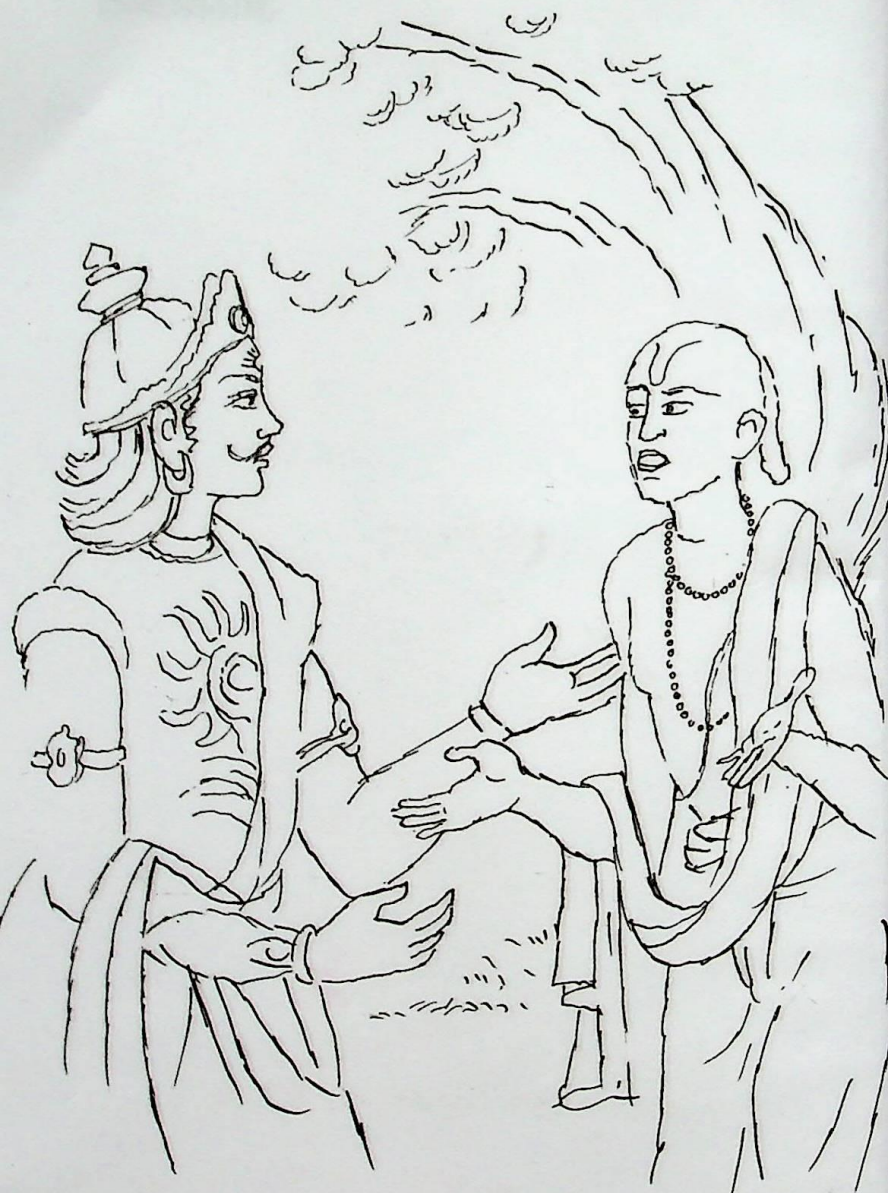
कर्ण की आत्मकथा

मनु शर्मा

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
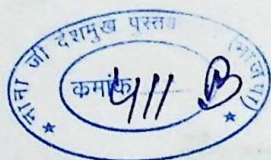
कर्ण की आत्मकथा

एक

मैं जब अपने मस्तिष्क की मंजूषा खोलता हूँ, महत्त्वपूर्ण प्राचीन अभिलेखों की भाँति अनेक चित्र मेरे सामने आते-जाते हैं : विषम, अव्यवस्थित और कुछ-कुछ अनचीन्हे और अनजाने भी। आप हँसते होंगे कि मेरे ही चित्र और मेरे ही मस्तिष्क में बंद, फिर भी उनमें कई मुझसे बिलकुल अपरिचित! यह कैसे हो सकता है?

किंतु श्रीमान, हुआ ऐसा ही है। आप विश्वास करें। अत्यंत संदिग्ध लगनेवाला मेरा यह कथन बिलकुल असंदिग्ध है। जैसे नन्हे से बीज के भीतर सोए वृक्ष की विशालता एक अबोध बालक के लिए एकदम अपरिचित होती है वैसे ही मेरे मस्तिष्क में पड़े मेरे ये चित्र पहले मेरे ही लिए नितांत अपरिचित थे। बाद में परिस्थितियाँ इनका रहस्य खोलती गईं और जीवन-गाथा आगे बढ़ती गई।

ऐसा ही एक चलचित्र है।

उन दिनों मेरे पिताजी महाराज धृतराष्ट्र के रथवाहक थे। बहुधा सवेरे-सवेरे ही उन्हें हस्तिनापुर चला जाना पड़ता था। उधर उनका अश्व उन्हें लेकर राजपथ की ओर बढ़ता और इधर मैं धनुष-बाण लेकर जंगल की ओर निकल पड़ता।

वर्षा के दिन थे। नभ में मेघ दुंदुभि बजा रहे थे। फिर भी मेरा बाल-सुलभ मन नहीं माना। माँ रोकती रह गई, पर मैं फुदकता हुआ निकल ही आया। वृक्षों पर झूले पड़े थे। मैं अपने साथियों के साथ झूलने लगा। आकाश में बादल झूल रहे थे, हवा में वृक्ष झूल रहे थे और वृक्षों से लटका धरती पर मैं झूल रहा था।

मेरी अवस्था यही आठ-नौ वर्ष की रही होगी।

झूलते-झूलते मुझे चक्कर आने लगा। मैं अपना धनुष-बाण लिये ही धरती पर 'धम' से कूद पड़ा और कुछ समय तक भूमि पकड़े रहा। सारी धरती जैसे कुम्हार की चाक की तरह घूम रही थी। जब चक्कर का आवेग कुछ कम हुआ तब लड़खड़ाता उठा और पेड़ के तने के सहारे चुपचाप खड़ा हो गया।

"क्या हो गया, वसु?" दूर से माला चिल्लाई और दौड़ी हुई मेरी ओर लपकी।

उन दिनों लोगों का प्यार मुझे 'वसु' पुकारता था, यों तो मेरा पूरा नाम वसुषेण था। कितना टेढ़ा था मेरा नाम! उच्चारण करने में जिह्वा को अच्छी-खासी करवट लेनी पड़ती थी।

"धरती चक्कर काट रही है।" मैंने कहा।

"धरती चक्कर काट रही है या तेरा मस्तिष्क ही चकरा रहा है?"

माला मुसकराई। वह मुझसे अवस्था में बहुत बड़ी थी। मुझे बेहद मानती थी। उसने पास आ वृक्ष से मुझे छुड़ाया। फिर भी मैं गिरने लगा। तब दोनों हाथों से उसने मुझे अपने बाहुपाश में जकड़ लिया। ऐसा लग रहा था जैसे हम दोनों एक-दूसरे से लिपटे हुए अब भी झूल रहे हैं।

थोड़ी देर बाद माला ने पुनः पूछा, "गंगा किनारे चलोगे?"

बिना कोई उत्तर दिए मैंने उसके कंधे पर हाथ रखे और हम गंगातट की ओर लपक पड़े।

गंगा का गदराया तन उफान मार रहा था। बाढ़ का पानी हमारे गाँव के निकट के आदित्य मंदिर तक चला आया था। मैं इस मंदिर पर बहुधा जाता था। इस समय भी मैं इस मंदिर की ऊँची पीठिका पर चढ़कर जलप्रवाह देखने लगा।

सरिता का पाट दुष्ट अमात्य की महत्त्वाकांक्षा की तरह विशाल हो गया था। वह गरजती हुई बह रही थी। उखड़े हुए पेड़, मरे हुए पशु, जंगली झाड़-झंखाड़, लता-गुल्म सबके सब बहते चले जा रहे थे। जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक जल-ही-जल दिखाई देता था। कितना विचित्र था! धरती भी गँदली, आकाश भी गँदला। धरती चीखती हुई, आकाश गरजता हुआ।

हम अविकल एकटक देख रहे थे। पानी मंदिर की जगत से टकराता था। जल में बड़ी-बड़ी भँवरियाँ बनती थीं। माला उनमें वृक्ष की टहनियाँ तोड़-तोड़कर फेंकती जाती थी। हलकी होते हुए भी भँवरियाँ उन्हें उदरस्थ कर लेती थीं। फिर अनेक नाच नचाती हुई उन टहनियों को उगल देती थीं। बड़ा विचित्र लग रहा था,

साथ-ही-साथ मोहक भी।

"वह देखो, वह!" माला ने मध्य धारा की ओर संकेत किया।

"हाँ, कोई जानवर बहता हुआ जा रहा है।" मैंने कहा।

"लगता है, वह जीवित है। देखो, उसने दुम पानी के बाहर निकाली।"

माला की ध्वनि में आश्चर्य था। वह शायद पल भर के ही लिए रुकी, फिर जैसे वह मेरी परीक्षा लेते हुए बोली, "इतने तेज प्रवाह में बहते लक्ष्य को तुम वेध सकते हो?"

"क्यों नहीं!" और मैंने प्रत्यंचा ठीक की। बाण चढ़ाने को ही था कि पीछे से एक गंभीर आवाज आई, "क्या करते हो?"

मेरा हाथ एकदम रुक गया। मैंने परम आश्चर्यान्वित हो पीछे की ओर देखा। कहीं कोई नहीं था, केवल सुनसान मंदिर था और उससे टकराता सरिता का हाहाकार।

"यह आवाज कहाँ से आई?"

"मुझे नहीं मालूम!" चकित दृष्टि से मंदिर की ओर देखती हुई माला बोली।

हमने चारों ओर फिर दृष्टि घुमाई। कोई दिखाई नहीं दिया। मंदिर के भीतर भी झाँका। किसीकी आहट तक नहीं थी। कुछ क्षणों तक हम दोनों स्तब्ध खड़े रहे। फिर मैं चिल्लाया, "कौन हैं आप हमें रोकनेवाले?"

कोई उत्तर नहीं मिला।

इस बीच हमारा लक्ष्य बहुत दूर बहकर निकल गया था; फिर भी वह मेरे दृष्टि-पथ में था।

"कुछ भी हो, मैं अभी उसे बेधकर दिखाता हूँ।" इतना कहते हुए मैंने धनुष पर बाण चढ़ाया। हम दोनों की दृष्टि लक्ष्य की ओर लगी। अचानक मेघों के मंद रव जैसी हँसी मुझे सुनाई पड़ी। ऐसा लगा जैसे किसीने मेरे दाहिने कंधे पर हाथ रखा। मैं यंत्रवत् घूम पड़ा। मेरे साथ माला भी मुड़ी।

श्वेत वस्त्रधारी अत्यंत प्रतापी वृद्ध हमें दिखाई दिए। रक्ताभ गौर वर्ण, सफेद भौंहों के गढ़े में जड़ी ज्योति उगलती हुई आँखें मानो हमारे बाल-सुलभ चापल्य पर हँस रही थीं। वायु के झोंकों से टकराते धवल मेघों की भाँति उनकी झूमती लटों, श्वेत श्मश्रु और रुई जैसी दाढ़ी से घिरी उनकी आकृति में मेरे प्रति ममता कहाँ से आकर समा गई थी, कह नहीं सकता।

हम दोनों एकटक देखते रह गए। वह मुसकराते रहे।

''तुम्हें धारा में बहते जीव पर कभी प्रहार नहीं करना चाहिए।''

मैं बिलकुल चुप था, या यों कहिए, कुछ बोल नहीं पाया। केवल उन्हें देखता रहा, अविकल देखता रहा।

पर माला की चेतना ने उस स्थिति में भी जिज्ञासा व्यक्त की, ''क्यों?''

''जो स्वयं बह रहा है, उसपर धनुर्धर बाण नहीं चलाते।'' बूढ़ा पुनः जोर से हँसा, ''और कौन जाने, तुम किसी वसुषेण को ही मार बैठो।''

फिर उसकी रहस्य भरी खिलखिलाहट हवा में तैरने लगी।

''वसुषेण को! वसुषेण तो मैं ही हूँ!'' चकित होकर मैं बोला।

''हाँ-हाँ, तुम भी वसुषेण हो!''

''तब दूसरा वसुषेण कैसा?''

''क्यों, तुम्हारे रहते कोई दूसरा वसुषेण नहीं हो सकता?'' वह पुनः जोर से हँसने लगे। कितनी रहस्यमय हँसी थी उनकी। अचानक उनकी मुद्रा बदली, ''प्रवाह में बहते किसी जीव पर कभी शर-संधान मत करना, वत्स!'' उन्होंने गंभीर ध्वनि में आदेश दिया।

मैं पूछने ही वाला था कि 'क्यों?' किंतु उन्होंने स्वयं ही कहा, ''क्योंकि तुमपर किसीने शर-संधान नहीं किया था। यदि किया होता तो तुम न होते।''

''मैं न होता! यह क्या कह रहे हैं आप?'' मैं कुछ समझ नहीं पाया। मेरा मन रहस्य के जंगल में भटकने लगा। मैं उन्हें देखता रह गया और माला हम दोनों को देखती रह गई।

उनकी रहस्यमय हँसी सरिता की धारा से अधिक तरल थी।

''देखो, वह क्या है?'' उन्होंने मेरा ध्यान गंगा के इसी तट पर दूर एक वटवृक्ष की ओर आकृष्ट किया।

उन्होंने पुनः पूछा, ''देखते हो, क्या है?''

''हाँ, वट की निचली डाल पर बैठा मयूर।''

''यदि तुम लक्ष्यभेद करना ही चाहते हो तो उसका वेधन करो।''

मैं बिना किसी सोच-विचार के लक्ष्यभेद के लिए तैयार हो गया। मेरे मन की विचित्र स्थिति थी, मानो किसीने मुझपर सम्मोहन कर दिया हो। मैं यंत्रवत् उनके निर्देश का पालन करने लगा।

मैं लक्ष्य की ओर बड़े ध्यान से देख रहा था। माला भी उधर अपलक निहारती रही। क्षण भर में बाण चलाकर मैंने मयूर को धराशायी कर दिया। फिर मैं विजयी योद्धा की मुद्रा में उन वृद्ध से यह कहने के लिए मुड़ा, 'देखा आपने मेरा कौशल?'

किंतु वे अदृश्य हो गए थे। उनके खोजने में नितांत असफल मेरी विस्मयपूर्ण दृष्टि माला से जैसे पूछ रही थी, कहाँ गए वे बूढ़े बाबा? पर वह भी कुछ बताने में असमर्थ थी।

मैंने आसपास, इधर-उधर, चारों ओर देखा, कहीं कुछ नहीं था। सोचा, शायद मंदिर से कोई आया हो। फिर माला को साथ लेकर मंदिर में घुसा। वातावरण में शब्दहीन सीलन की गंध के अतिरिक्त कुछ नहीं था। केवल दो-चार गिलहरियाँ धमा-चौकड़ी कर रही थीं। उनमें से एक भगवान् भास्कर की भव्य प्रतिमा के समक्ष रखे रसाल फल को कुतर रही थी।

इस विस्मयकारी स्थिति में मैं एकदम घबरा गया। मेरा हृदय उड़ने में असमर्थ कपोत की तरह पंख फड़फड़ाने लगा। मैंने उस विशाल प्रतिमा को बार-बार देखा। पूर्व के गवाक्ष से पड़ते प्रकाश में मुझे वह प्रतिमा अत्यंत अद्भुत लगी। पता नहीं किस मन:स्थिति में मैं उसी प्रतिमा से पूछ बैठा, "भगवान्, कौन थे वे बूढ़े बाबा?"

एक मुसकराहट जैसे उस प्रतिमा से छूटकर मेरे मन पर बिखर गई।

बड़ी देर तक मैं मंत्रमुग्ध सा उस सूर्यमूर्ति की आँखों में कुछ खोजता रहा। माला भी चुप थी। आप मेरी मन:स्थिति का अनुमान इसीसे लगा सकते हैं कि मैंने उस गिलहरी तक को भी नहीं हटाया, जो कभी उस रसाल को कुतरती थी और कभी मूर्ति पर चढ़ने की असफल चेष्टा करती थी।

माला बड़े मनोरंजक ढंग से मेरी समाधि भंग करते हुए बोली, "क्या ललचाई दृष्टि से देख रहे हो! आम खाना चाहते हो तो उठा लो, मैं किसीसे कुछ नहीं कहूँगी।"

"धुत!" कहते हुए मैंने अपनी झेंप मिटाई और तीर-सा मंदिर के बाहर आया। आसमान पसीजने लगा था।

"लगता है, जोर की वर्षा होने वाली है।" माला ने घर लौटने का संकेत किया। पर मैं विचित्र स्थिति में था। मेरे मन में उस बाबा की ध्वनि स्वयं अपनी ही प्रतिध्वनि से निरंतर टकरा रही थी, 'क्योंकि तुमपर किसीने शर-संधान नहीं किया था, यदि किया होता तो तुम नहीं होते।'

आकाश में बादल उमड़ रहे थे। सामने गंगा की लहरें गरज रही थीं। मेरे मन में कोई चीख रहा था, 'बताओ, यह रहस्य क्या है?'

मेरे जीवन का यह पहला चित्र है, कितना रहस्यपूर्ण! कितना अज्ञात!

किंतु मैं गड़गड़ाते बादलों से घिरे आकाश की तरह चुप था, लहरों से

टकराती चट्टान की तरह चुप था।

पर इस चित्र ने मुझे विकल कर दिया था। मैं दौड़ा-दौड़ा अपने घर पहुँचा। पिता तो थे ही नहीं। माँ जौ के कोठार में थी। मैं धनुष-बाण फेंककर कोठार की ओर लपका और जाकर माँ से लिपट गया।

लगता है, माँ बहुत देर से मुझे खोजवा रही थी। मुझे देखते ही वह ममता भरे स्वर में तड़पी, "किधर चला गया था रे? मैं कब से तुझे खोजवा रही थी! कितना दिन चढ़ आया, पर तुझे दूध पीने की जरा सी सुधि नहीं रही!"

"मैं दूध नहीं पीऊँगा, माँ।"

"दूध नहीं पिएगा तो घास खाएगा?" इतना कहती हुई माँ मुझे कोठार से बाहर ले आई और एक सेविका से भोजनालय के छीके पर टँगी हाँड़ी से दूध ले आने के लिए कहा।

मैंने फिर कहा कि दूध नहीं पीऊँगा।

"रोज तो दूध के लिए मार करता था, आज क्या हो गया है तुझे?"

"पहले एक बात बताओ, माँ।" इतना कहते-कहते खाट पर बैठी माँ के गले में हार की भाँति दोनों हाथ डालकर मैं झूलने लगा।

माँ मुझे चूमते हुए बोली, "क्या बताऊँ? पूछ तो सही!"

मैंने सारी बातें उसे बता दीं।

सबकुछ सुन लेने के बाद उसकी पकड़ मेरे प्रति ढीली पड़ गई। उसने अत्यंत भावाकुल नेत्रों से आकाश की ओर देखा। फिर उसकी आँखें स्वतः मुँद गईं, जैसे वह किसीका श्रद्धापूर्वक स्मरण कर रही हो। मैं चुपचाप उसे देखता रहा। मुझे आश्चर्य था कि मेरी बात सुनने के बाद माँ आवश्यकता से अधिक गंभीर क्यों हो गई।

मेरी जिज्ञासा ने पुनः उफान मारा, "क्यों माँ, प्रवाह में बहते किसी जीव पर क्यों नहीं शर-संधान करना चाहिए?"

"मुझे नहीं मालूम?"

"तो फिर उस बूढ़े ने मना क्यों किया?"

इस बार माँ चुप थी। पता नहीं क्या सोचती रही।

"वह बूढ़ा कौन था?" मैंने पुनः पूछा।

"मुझे क्या मालूम, बेटे!" उसकी मुद्रा अचानक बदली। उसने मेरा चुंबन लेते हुए पुनः दूध पीने के लिए कहा।

"मैं नहीं पीऊँगा।" मैं अपने हठ पर अड़ा रहा, "पहले यह बताओ, उसने

यह क्यों कहा कि यदि बहते जीव पर शर-संधान किया गया होता तो तुम नहीं होते?''

माँ इस बार भी कुछ बोल नहीं पाई। मैंने अनुभव किया, जैसे वह उलझन में है। फिर भी मैंने कहा, ''बोलो न, माँ!''

''मैं कुछ नहीं जानती, बेटे। यह सबकुछ पिताजी से पूछना, शायद वह बता सकें।''

माँ के बार-बार कहने पर मैंने दूध पी लिया, क्योंकि मैं भूखा था।

तन में भूख तो शांत हुई, पर मन की भूख अब भी बनी रही; बल्कि बढ़ती गई। मैं फिर बाहर की ओर प्रशस्त दालान में आया। वर्षा तेज हो गई थी। आसमान फटा पड़ रहा था। मैं बाहर जा नहीं सकता था, नहीं तो फिर उसी मंदिर पर जाता। शायद वह बूढ़ा मिल जाता। रहस्य और जिज्ञासा ने मेरे मस्तिष्क को बुरी तरह दबोच लिया था। मेरा मन उसीके दायरे में घूमता रहा। आकाश में बादल गरजते रहे। धरती पानी-पानी होती रही। दालान में पड़ी एक चौकी पर मैं ढुलक गया। कदाचित् थोड़ी देर बाद ही सो गया।

माँ ने ही मुझे भोजन के लिए जगाया। अब वर्षा थम चुकी थी। मध्याह्न का सूर्य बादलों के झीने परदे से अपनी प्रभा बिखेर रहा था।

मेरा मन मंदिर पर जाने के लिए व्याकुल था, पर माँ भोजन के लिए बार-बार बाध्य कर रही थी। मुझे जो कुछ खाना था, मैंने जल्दी-जल्दी खाया और एक पक्षी की भाँति घोंसले से उड़ चला।

पहले तो मैं मंदिर की ओर लपका, फिर विचार आया, क्यों नहीं माला के घर चलूँ। फिर क्या था! जैसे मैं नहीं मुड़ा, डगर ही मुड़ गई।

मैंने दूर से ही देखा, माला विशाल वटवृक्ष के तने के पास बैठी भूमि से कुछ चुन-चुनकर मिट्टी के पात्र में रख रही है। बादल अब फट चले थे। धूप तेज हो गई थी।

निकट आ उसकी क्रिया को अच्छी तरह देखने के बाद भी मेरे मुँह से निकल पड़ा, ''यह क्या कर रही हैं?''

''बीरबहूटी चुन रही हूँ। देखते नहीं हो, कैसी लाल-लाल, कितनी चमकदार और कैसी अच्छी हैं!'' इतना कहते हुए उसने वह मृत्तिका पात्र मुझे दिखाया। बहुत सारी बीरबहूटियाँ उसमें किलबिला रही थीं।

''आदित्य मंदिर की ओर चलोगी?'' मैंने पूछा।

''क्यों?''

"सोचता हूँ, चलो, शायद वह बूढ़े बाबा मिल जाएँ।"

"मिल भी सकते हैं और नहीं भी मिल सकते।" उसने बड़े विश्वास से कहा, जैसे वह उन्हें जानती हो। उसकी आकृति पर कुतूहल की एक रेखा भी नहीं थी।

"क्या तू उन्हें जानती है?"

"जानती तो नहीं हूँ, पर माँ से पूछा था।"

"क्या बताया माँ ने?" मेरी उत्कंठा चरम बिंदु पर थी।

"माँ ने बताया कि हो न हो, वे आदित्य मंदिर के देवता ही रहे हों।"

"देवता! देवता तो पत्थर के होते हैं न, वह तो मनुष्य जैसे थे।"

"पर माँ तो कह रही थी कि वे देवता ही थे।" अब माला के चेहरे पर भी विस्मय के भाव उभर आए।

हम दोनों मंदिर की ओर बढ़े। फिर अचानक उसे जैसे याद हो आया, "इन बीरबहूटियों को मैं अपने घर में रख आऊँ, तब तक तुम खड़े रहो।" वह घर की ओर दौड़ी। मैं उसकी प्रतीक्षा में खड़ा रहा।

जब हम दोनों उस मंदिर पर पहुँचे तब वहाँ एकदम सुनसान था। गंगा का प्रवाह मंदिर के और निकट चला आया था।

मंदिर के भीतर सीलन भरी गंध से लिपटी निष्प्राण नीरवता थी। मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। कहीं कुछ नहीं था। पश्चिम के कोण की ऊपरी धरन से एक बड़ा सा चमगादड़ उलटा लटक रहा था। मैं कई बार चिल्लाया, "हे आदित्य देवता! मेरे प्रश्नों का उत्तर दो।" पर कहीं कोई सामने नहीं आया। मेरी आवाज दीवारों से टकराकर मंदिर के विशाल मंडप में गूँजती हुई खो गई।

माला चकित सी खड़ी रही।

"तू तो कहती थी कि प्रतिमा से ही बूढ़े बाबा निकले थे; पर कितनी देर से चिल्ला रहा हूँ, कहीं कोई दिखाई नहीं देता है।"

"मैं क्या करूँ? माँ तो यही बता रही थी।"

"तुम्हारी माँ झूठ बोलती होगी।" मैं छूटते ही बोला, "कहीं पत्थर से देवता निकल सकते हैं! यह मूर्ति तो पत्थर की है, जो अपने ऊपर चढ़ती गिलहरी को रोक नहीं सकती, वह प्रवाह में बहते जीव पर शर-संधान से मुझे क्या रोक सकती है!"

मेरे मानस में हठ का बीज बचपन से ही अंकुरित होने लगा था। मेरा अबोध मन बूढ़े बाबा की बात स्वीकार करने के लिए कदापि तैयार नहीं था। मैंने अपनी

पूरी शक्ति के साथ घोषित किया, ''अब मैं प्रवाह में बहते प्रत्येक जीव पर प्रहार करूँगा।''

''तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।'' एक धीर-गंभीर ध्वनि उस मंदिर में बड़ी देर तक गूँजती रही।

मेरी चकित दृष्टि चारों ओर खोजने लगी, पर कहीं कोई नहीं दिखाई दिया। मैंने माला की ओर देखा, वह विस्मयाभिभूत जड़वत् खड़ी थी।

''कौन हैं आप?'' आश्चर्य की पराकाष्ठा पर मैंने पूछा।

''मैं तुम्हारा पिता हूँ।'' एक तरल खिलखिलाहट उस निस्तब्ध वातावरण में तैर गई।

''आप मेरे पिता! यह कैसी बात?''

फिर वैसी ही हँसी गूँजी।

''आप मेरे पिता हैं और मेरे सामने आ भी नहीं सकते?''

उसी खिलखिलाहट से एक आवाज उभरी, ''आ भी सकता हूँ और नहीं भी आ सकता।''

विस्मय का आतंक मेरे मस्तिष्क पर छाने लगा। मैंने अनुभव किया कि माला भी घबरा गई है।

''घर लौट जाओ, बड़ी तेज वर्षा होने वाली है।'' और तभी बादलों की तेज गड़गड़ाहट मंदिर के भीतर पहुँचकर काँपने लगी।

अभी तो आकाश निरभ्र था। अचानक यह गड़गड़ाहट कैसी? हम दोनों बाहर आए, सचमुच घटा उमड़ी चली आ रही थी। चुपचाप अत्यंत कुतूहलपूर्ण मन:स्थिति में हम लौट पड़े।

मैंने सारी बातें माँ से कहीं। वह भी सुनकर मन-ही-मन कुछ सोचती रही; पर मेरी शंकाओं का समाधान न कर सकी। मेरे सामने दो ही मुख्य प्रश्न थे। क्या पत्थर की मूर्ति से भी देवता निकल सकते हैं? मेरा असली पिता कौन है? वह, जिसे मैं पिता कहता हूँ अथवा वह, जिसकी ध्वनि मंदिर में गूँज रही थी?

मैंने कई बार माँ से पूछा। उसने यह तो बताया कि मंत्रों के बल से मूर्ति में देवताओं का आवाहन किया जाता है।

''तब क्या पत्थर की मूर्ति में देवता आ जाते हैं?''

''अवश्य आ जाते हैं।'' माँ ने बड़े विश्वास से कहा।

किंतु मेरे बाल-सुलभ मन में बात कुछ बैठी नहीं। उसकी बात मान लेने के सिवा मेरे लिए कोई चारा भी तो नहीं था।

"वह मंदिर के देवता मेरे पिता कैसे हैं ?" मैंने अपनी मुख्य जिज्ञासा रखी।

"यह मुझे ज्ञात नहीं।" माँ बोली।

"ऐं, तुम्हें ज्ञात नहीं!" मैंने आश्चर्य व्यक्त किया, "तुम मेरी माँ हो और मेरे पिता को नहीं जानतीं ?"

माँ एकदम भभक पड़ी, "व्यर्थ की बकवास मत किया कर! मैं देखती हूँ, तू बड़ा दुर्विनीत होता जा रहा है।"

माँ इतनी तेजी से बोली कि मैं एकदम सकपका गया। मुझे लगा कि जैसे मैंने कोई भूल कर दी है, क्योंकि मेरी माँ कभी इतना तेज नहीं डाँटती थी। वह मुझे बड़ा प्यार करती थी। पर सच कहता हूँ, मैं समझ नहीं पाया कि मैंने कौन सी गलती की है। और साहस भी न हुआ कि फिर माँ से पूछूँ ही।

संध्या हो चली थी। वर्षा भी थमने का नाम नहीं लेती थी। मघा झकझोर-झकझोरकर बरस रहा था। मेरी दालान भी चूने लगी थी। इसी बीच भीतर से एक दासी आई। उसने बताया कि अन्न के कोठार में पानी आ गया है। माँ उस ओर लपकी।

अब मैं अकेला था। सामने दूर तक केवल जल-ही-जल था। मनुष्य की कौन कहे, कोई जीव तक दिखाई नहीं देता था। मेरे मन में निरंतर संघर्ष चल रहा था। यह अदृश्य मेरा पिता कौन है ? माँ क्यों नहीं बताती ? फिर उसने मुझे प्रवाह में बहते जीव को मारने से रोका क्यों ? ये ऐसे प्रश्न थे जिनका उत्तर मेरा अबोध मन चाह रहा था।

किंतु बालक भी बड़ा निरीह जीव होता है। बड़े लोगों की डाँट-डपट उनकी उन जिज्ञासाओं का सहज ही गला घोंट देती है जिनका बड़े समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते। मेरा मुँह भी बंद कर दिया गया। किंतु मेरा मन हजार मुखों से मुझसे ही पूछ रहा था और मैं कुछ न सोच पाने के लिए विवश था।

यद्यपि मेरे और भी मित्र थे, पर माला से मेरी अधिक निकटता थी। यदि वर्षा न होती तो मैं उसके यहाँ ही जाता और उसकी माँ से पूछता। पर ऐसा कुछ न हो सका। दो-एक बार मैं भीतर भी गया।

माँ कोठार से पानी निकलवाने में लगी थी। वह मुझे देखते ही चीखी, "इधर-उधर मत कर, एक स्थान पर चुपचाप बैठ। भीगेगा तो ज्वर हो आएगा।"

मैं शयन प्रकोष्ठ में जाकर चुपचाप लेट गया। सोचने लगा कि अब माँ से इस संबंध में बात ही नहीं करूँगा। पिताजी से ही पूछूँगा। पर कौन जाने आज वे आएँ, न आएँ; क्योंकि वे बहुधा हस्तिनापुर में ही रह जाते थे। फिर आज तो मौसम

भी ठीक नहीं है। यही सोचते-सोचते जाने कब सो गया।

इतना याद है कि मैं भोजन के लिए उठाया गया था। अब भी पानी बरस रहा था। माँ एक सेविका से कह रही थी कि रात का प्रथम प्रहर बीत चला, लगता है, अब तो वे नहीं ही आएँगे।

भोजन के बाद कदाचित् नींद ने मुझे फिर धर दबोचा। मैं नहीं कह सकता, कितनी रात बीती होगी। मैंने स्वप्न देखा कि चारों ओर जल-ही-जल है। मैं पानी से घिर गया हूँ। गंगा की बाढ़ बढ़ती ही जा रही है। उसकी एक गंभीर लहर आई और मुझे भी बहा ले गई। मैं जल के थपेड़ों में बहता चला जा रहा था। तब तक एक सनसनाता तीर मेरे ऊपर से निकल गया। मैंने उधर देखा, एक आदिवासी चांडाल पुनः मुझपर शर-संधान करने जा रहा है। किंतु वही गौर वर्ण, श्वेत वस्त्रधारी वृद्ध उसका हाथ पकड़ लेते हैं। उसे बाण चलाने से मना कर रहे हैं; पर वह नहीं मान रहा है। मुझे ही लेकर थोड़ी देर में वृद्ध का उससे मल्लयुद्ध आरंभ हो जाता है।

वृद्ध होते हुए भी वह परम तेजस्वी हैं। उन्होंने उसे उठाकर धारा में फेंक दिया। अब वह चांडाल मेरी ओर बढ़ा। मैं तो धारा में बहता जा रहा था। वह तैरता हुआ मेरा पीछा कर रहा था। जब वह बिलकुल मेरे पीछे आ गया, मैं एकदम घबरा गया और 'नहीं-नहीं' चिल्लाता अपने पलंग से उठकर भागने लगा।

मेरी चेतना अपने वश में नहीं थी। लगता है, मैंने बड़ी जोर की आवाज लगाई थी। बाहर दालान में पड़े पिताजी अचानक बोल उठे, "क्या है, राधा? क्या बात हो गई?"

मेरी माँ का नाम राधा था। पिताजी उसे इसी नाम से पुकारते थे।

पिताजी दौड़े हुए भीतर आए और मुझे गोद में उठा लिया। फिर भी मैं सचेत नहीं हुआ, भय से काँपता रहा।

मुझे तो विश्वास था कि पिताजी आज नहीं आएँगे, पर भीगते हुए भी उन्हें दुर्दिन में घर की चिंता खींच लाई थी। मुझे अब भी लगा कि मैं पिता की गोद में नहीं वरन् उसी चांडाल की गोद में हूँ। मैं अब भी चिल्ला रहा था, "मुझे छुड़ाओ, मुझे छुड़ाओ!"

मेरे पिता एकदम घबरा गए। रात्रि में मेरे घर में एक दीपशिखा निरंतर जलती थी। पिताजी मुझे उधर ले आए, "देखो बेटा, मैं कोई और नहीं, तुम्हारा पिता हूँ।"

मेरे पिता कई बार और कई ढंग से कहते रहे। माँ ने भी उनका समर्थन करते हुए मुझे सचेत करने की चेष्टा की। धीरे-धीरे मैं प्रकृतिस्थ हुआ। फिर भी मैं काँप

रहा था। पिता मुझे अपनी गोद में भलीभाँति चिपकाए रहे। पानी अब भी बरस रहा था। बादल की गरज से मैं काँप जाता था, किंतु बिजली की संक्षिप्त चमक में मैं माता-पिता को विस्फारित नेत्रों से देखता था। शनैः-शनैः आश्वस्त हो गया।

"लगता है, किसी भयानक स्वप्न ने इसे डरा दिया है।" पिताजी ने कहा।

"हाँ, आज दिन भर इसकी मनःस्थिति कुछ ऐसी ही रही है।" माँ बोली। और उसने कुछ शब्दों तथा कुछ संकेतों में बहुत कुछ बातें बताने का प्रयास किया।

पिताजी ने फिर मुझे अपने साथ ही सुलाया और मुझे बहलाने के लिए इधर-उधर की कहानियाँ सुनाने लगे।

किंतु मेरा चकित मन अपनी शंका का समाधान चाहता था। बिना किसी भूमिका के मैं अचानक बोल बैठा, "आप मेरे पिता हैं न?"

"क्यों? इसमें भी कोई संदेह है?" पिताजी खिलखिलाए। स्पष्ट लगा कि उनकी हँसी बनावटी है।

"पर आदित्य मंदिर के देवता ने तो बताया है कि मैं तुम्हारा पिता हूँ। ये दो पिता कैसे? पिता तो एक ही होता है न?"

अत्यंत संक्षिप्त मौन के बाद वे बोले, "दो पिता भी हो सकते हैं।"

"कैसे?"

"एक पिता और दूसरा परमपिता। परमपिता हम सबका पिता है।"

"आपका भी और गाँव के सब लोगों का भी?"

"बिलकुल।"

"किंतु उन्होंने माला से ऐसा नहीं कहा। केवल मुझसे ही कहा कि मैं तुम्हारा पिता हूँ।"

अब पिताजी चुप थे, एकदम चुप। लगता था जैसे वह कुछ सोचने लगे थे। फिर वे मेरा सिर सहलाने लगे, जिससे मैं जल्दी सो जाऊँ। नींद की लहरें मेरी आँखों तक आती थीं, किंतु मेरी व्यग्रता बड़ी निर्ममता से उन्हें धकेल देती थी। मैंने करवट बदली और अपनी शंका को दोहराया, "माला से तो नहीं कहा कि मैं तुम्हारा पिता हूँ।"

"यदि माला भी उनकी बात न मानती और शर-संधान करती तो वे कदाचित् उससे भी कहते।"

अब मेरे मस्तिष्क में दूसरा प्रश्न, जो करीब-करीब सो चला था, अचानक जाग उठा, "फिर वह मुझे शर-संधान करने से रोकना क्यों चाहते थे?"

"बहते जीव को लक्ष्य बनाना शास्त्रसंगत नहीं है।"

''उन्होंने यह भी कहा कि यदि बहते जीव पर शर-संधान किया गया होता तो तुम न होते। क्या कभी मैं भी बह रहा था?''

इसी समय मैंने दामिनी द्युति में देखा, वे अत्यंत गंभीर थे। फिर भी बोले, ''यह तो मुझे नहीं मालूम।''

''पर माँ तो कह रही थी कि पिताजी से पूछना।''

''वह तुम्हें बहका रही थी।'' बनावटी हँसी के बीच वे बोले।

मैं द्विमनस्क सा पड़ा रहा। मेरी चेतना को नींद ने न जाने कब पूरी तरह ढक लिया।

दूसरे दिन जब नींद खुली, सवेरा हो गया था। वर्षा थम चुकी थी। बादल लगभग फट चले थे। मेघों के झीने आवरण से झाँकते सूर्य की अरुणिमा मेरे दालान तक चली आई थी। पिताजी कुछ दूरी पर कदंब वृक्ष से बँधे अश्वों का मर्दन कर रहे थे। थोड़ी दूरी पर ही अश्वहीन रथ की दोनों बाँहों का छोर गीली धरती पर प्राणहीन सा पड़ा था।

पिताजी अश्व-मर्दन के साथ-ही-साथ गाँव के कई लोगों से बातें कर रहे थे। इसी बीच ईशान की ओर से माला की माँ माघी आती दिखाई दी। पीछे-पीछे माला भी थी।

वह अभी पास पहुँची भी नहीं थी कि पिताजी को संबोधित करते हुए चिल्लाई, ''अधिरथ! जरा सुनना तो।''

निश्चित था कि वह पिताजी को उनके साथियों से दूर हटाकर कुछ महत्त्वपूर्ण बात करना चाहती थी; पर लोगों को दिखाते हुए वह उच्च स्वर में बोलती रही, ''कल इंद्र का प्रकोप ऐसा हुआ कि मेरा उडुप (छोटी नाव) बह गया।'' इतना कहते हुए उसने आँखों से निकट आने का संकेत किया।

''तो मैं क्या करूँ?'' बोलते हुए पिताजी माघी की ओर बढ़े।

''वह जंगली झाड़ों के साथ आदित्य मंदिर के सामनेवाले वट के तने से फँसा पड़ा है।''

''तब लकुच से क्यों नहीं कहतीं?'' लकुच माला के पिता का नाम है। वह जाति का निषाद है और मछलियाँ पकड़ता है।

''वह परसों से ही मत्स्य लादकर हस्तिनापुर गए हैं।'' माघी ने बताया।

पिताजी हँसने लगे। उसी हँसी के बीच बोले, ''ऐसा तो नहीं हो सकता कि अब तक मछलियाँ बिकी न हों। हो न हो, सबकुछ बेच-बाचकर वह पी गया हो और किसी वारांगना के पार्श्व में मेघ-महोत्सव मना रहा हो।''

पिताजी के साथ ही माघी भी जोर से हँस पड़ी। पर मेरी समझ में कुछ नहीं आया। मैं बड़े सहजभाव से उठा और माला की ओर बढ़ा।

"जा, वसु के साथ खेल, हम आते हैं।" इतना कहकर वह पिताजी को लेकर आदित्य मंदिर की ओर चल पड़ी और माला मेरी ओर लपकी।

"कल मैंने माँ से सबकुछ बता दिया था।" माला ने मेरा हाथ पकड़ते हुए कहा।

"क्या?"

"वही देवतावाली बात।"

"तब माँ ने क्या कहा?"

"वह कुछ नहीं बोली।"

"तब तुमने दुबारा नहीं पूछा?"

"पूछा था।"

"क्या?"

"देवता ने प्रवाह में बहते जीव पर शर-संधान करते हुए वसु को क्यों रोका?"

"तब माँ ने क्या कहा?"

"माँ बिगड़ते हुए बोली, 'देवताओं की बातें बच्चों की समझ के बाहर होती हैं।...कल मैं वसु के पिता से बातें करूँगी।' "

"तब हो सकता है, तुम्हारी माँ पिताजी से कुछ उसी संबंध में बातें करें।"

माला कुछ कह तो नहीं पाई, पर हम दोनों आदित्य मंदिर की ओर बढ़े।

"शायद वे लोग हमें अपने निकट आता देखकर बिगड़ पड़ें।" माला ने कहा।

पर मैंने कारण जानने की इच्छा व्यक्त नहीं की। चुपचाप उसी पगडंडी की ओर मुड़ गया, जो अरण्य के बीच से मंदिर की ओर जाती थी।

फिर अचानक मेरे मन में एक विचार कौंधा, धनुष-बाण लेता चलूँ। मैं माला को वहीं खड़ा कर घर की ओर लपका। अभी द्वार पर ही आया था कि मेरे मन में जैसे कोई बोल उठा, भीतर गए नहीं कि माँ हाथ-मुँह धोने और दूध पिलाने के लिए पकड़ लेगी। मैं लौट पड़ा। इस समय एक क्षण का भी विलंब मुझे सह्य नहीं था।

"क्यों, धनुष लेने गए थे न?" माला ने कहा।

"हाँ, गया तो था।"

"तब लौट क्यों आए?"

"यदि माँ रोक लेती तो?"

"और यदि जंगल में कोई मृग मिल गया तब क्या होगा?"

"होगा क्या!" इतना कहते हुए पास ही पड़ी एक पेड़ की बड़ी सी डाल मैंने उठा ली और पुनः बोला, "लगता है, तू जानवरों से बहुत डरती है।"

"जानवरों से तो मैं उतना नहीं डरती जितना तेरी दुष्टता से। तू किसी भी जीव को बिना छेड़े नहीं मानता।"

मुझे हँसी आ गई। पर वह गंभीर खड़ी रही और जब तक आश्वासन नहीं ले लिया कि मैं जंगल में किसी जीव को छेड़ूँगा नहीं, वह आगे नहीं बढ़ी।

मैं आगे-आगे फुदकता हुआ चल पड़ा। माला मेरे पीछे-पीछे थी। मैं उस डाल को जमीन पर पटकता हुआ चला जा रहा था। मिट्टी कुछ सूख चली थी। इस बार मेरी डाल का छोर एक खुले विवर के मुख पर गिरा। उससे एक नाग फनफनाता हुआ निकला। वह मेरी ओर आने की बजाय अपनी प्राणरक्षा के लिए कुछ दूरी पर स्थित घनी झाड़ी की ओर भाग चला। मैंने उसका पीछा किया। माला ने टोका, मना किया; किंतु अब भला मुझे कौन रोक सकता था। जब तक उस नाग का मुख कुचल नहीं दिया, मैंने दम नहीं लिया।

माला क्रोध में तमतमा गई। उसने मुझे आश्वासन की याद दिलाई और बोली, "तुमने कहा था न कि चुपचाप चलूँगा!"

"चुप ही तो चल रहा था; पर नाग निकल आया तो मैं क्या करूँ!"

"वह तुम्हारा क्या कर रहा था? वह बेचारा तो जंगल की ओर भाग चला था।"

"भागने से क्या होता है! था तो विषधर! माँ कहती है कि विषधर को देखते ही कुचल देना चाहिए, वह भले ही तुमपर वार करे या न करे। उसका विष कभी-न-कभी तुम्हारे लिए घातक हो सकता है।"

"तब जाओ, मानो अपनी माँ की बात! मैं तुम्हारे साथ नहीं जाती।" माला एकदम लौट पड़ी।

मैं उसे मनाने लगा। मैंने ज्यों-ज्यों उसे मनाने की चेष्टा की, उसे रोका, उसकी चाल उतनी ही तेज होती गई। लाचार होकर मेरे स्वर में कातरता उतर आई। मैंने अनुनय-विनय किया, तब जाकर वह रुकी। कोई दूसरा अवसर होता तो मैं उसे छोड़ भी देता, पर इस समय मैं उसे छोड़ने की स्थिति में नहीं था; क्योंकि वह मुझसे बहुत बड़ी थी और वह सारी बातें भी समझ लेती थी जो मैं समझ नहीं

पाता था। मेरी जिज्ञासा उसे मुझे साथ रखने के लिए विवश कर रही थी।

"किंतु तू अपनी दुष्टता से बाज नहीं आएगा!"

"नहीं। अब तुम जो भी कहोगी, मानूँगा।" मैंने हँसते हुए कहा। वह फिर मुसकराते हुए मेरे साथ चल पड़ी। मैंने हँसते हुए ही अपनी दाहिनी भुजा उसके ऊँचे बाएँ कंधे पर रखी और आकाश की ओर देखा। पूरब के छोर पर भगवान् भास्कर हम दोनों पर जैसे खिलखिला रहे थे। उष्णता अत्यधिक बढ़ गई थी।

मेरे मन में विचारों की सुगबुगाहट चल रही थी। आगे बढ़ते हुए विवशता भरे स्वर में मैं बोल पड़ा, "कितनी विचित्र स्थिति है, माला! मैं तुम्हारी बात मानूँ कि अपनी माँ की बात मानूँ, या पिता की अथवा उस मंदिर के देवता की?"

माला चुप थी।

मुझे अब अनुभव होता है कि उस समय मेरे स्वर की बाल-सुलभ सहजता जाने कैसे खो गई और बड़े-बूढ़ों जैसी लाचारी उसमें समा गई थी। कदाचित् जिज्ञासु मन जब अधिक छटपटाता है तब उसकी यही स्थिति होती है।

निकट पहुँचकर हमने देखा, रात भर में गंगा काफी बढ़ आई हैं। आदित्य मंदिर की ऊँची वेदी तक पानी आ गया है। जल में उफान तेज है। कभी-कभी उसका झोंका मंदिर में भी प्रविष्ट हो जाता है। मुझे साफ दिखाई दिया कि पिताजी और माघी पानी में हलकर वेदिका पर पहुँच चुके थे और झाड़ी में फँसे उडुप की ओर देखकर वे कुछ बातें कर रहे थे। उनकी मुद्रा गंभीर थी। निश्चित था कि किसी समस्या पर वे सोच रहे हैं।

हम लोग एक झाड़ी के पीछे छिपकर उन्हें देख रहे थे। थोड़ी देर में चारों ओर दृष्टि घुमाकर वे मंदिर में चले गए। तब मैंने माला से कहा, "अब हम लोगों को भी मंदिर के पीछे की ओर से चलना चाहिए।"

"क्या करोगे वहाँ चलकर?"

"मंदिर के पिछले वातायन से सटकर सुनूँगा कि क्या बात हो रही है!"

"यह गंदी बात है।"

"क्यों?"

"किसीकी बात छिपकर नहीं सुननी चाहिए।"

"यदि कोई छिपाए तो क्या किया जाए?" मेरे बालहठ ने दुराग्रह किया, "पर मैं गंदी ही बात करूँगा।"

माला मुसकराने लगी। लगता है, सुनने के पक्ष में वह भी थी, अन्यथा वह मेरे दुराग्रह पर नाराज हो जाती। उसने बस इतना ही कहा, "पानी में हलकर

चलना पड़ेगा। तेरे तो गले तक जल आ जाएगा।''

''इससे क्या ? तू तो साथ है ही।''

''तेरी बुद्धि का क्या ठिकाना! वहाँ भी तू कोई दुष्टता कर बैठे तो मैं क्या करूँगी ?''

''कुछ मत करना, मुझे बहने देना; क्योंकि बहते जीव पर कोई प्रहार नहीं करता।'' इतना कहकर मैं हँसने लगा।

माला के भी अधरों के बीच मुसकराहट रेंग गई।

किसी तरह जल में हलकर हम लोग भी मंदिर की पिछली वेदिका पर चढ़े और बंद वातायन से सटकर खड़े हो गए। मुझे मेरे पिता की आवाज स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी, ''हे भगवान्, तुमने यह क्या किया ? ऐसे संदेह का बीज उसके मन में बो दिया कि अब मैं क्या करूँ ? यदि सत्य कह दूँ कि तू गंगा में बहता हुआ पाया गया है, तब वह मुझे अपना पिता ही नहीं समझेगा। पिता बनने की अदम्य आकांक्षा, जो लगभग मुरझा गई थी, तुम्हारी कृपा से हरी हुई थी। अब फिर तुमने उसमें ऐसा विष डाल दिया कि वह कुम्हलाने लगेगी।···जरा सोचो तो, उस राधा बेचारी का क्या होगा ? उसने पुत्र-प्राप्ति के लिए क्या नहीं किया! एक पुत्रेष्टि यज्ञ को छोड़कर उसने सबकुछ कर डाला था।···तुम्हारी ही आराधना करती रही। पक्ष-पक्ष भर निराहार रहकर, इसी मंदिर में तुम्हारे सामने बैठकर वह पुत्र के लिए याचना किया करती थी। कोई रविवार ऐसा नहीं गया, जिस दिन उसने जल भी ग्रहण किया हो।

''···उस दिन वह कितनी खुश थी जिस दिन उसने लकड़ी की खुली मंजूषा में उसे गंगा में बहता हुआ पाया था! वह कैसी प्रसन्न थी! कितनी विह्वल थी! पागलों जैसी नाचती उसे अपनी गोद में लेकर वह गाँव में आई थी और उन्मत्त सी चीख रही थी, 'देखो, आज रविवार है। रवि देवता मुझपर खुश हुआ है। उसने मुझे पुत्र दिया है।···कितना सुंदर है पुत्र! अरे, यह तो कानों में कुंडल भी पहने है। कैसा आकर्षक है कुंडल!' ''

इतना सुनना था कि मेरा दाहिना हाथ अचानक मेरे दाहिने कान पर चला गया और कुंडल का स्पर्श कर लौट आया। मेरा बायाँ कान वातायन से अभी भी चिपका था। मेरे पिता की आवाज मुझे बराबर सुनाई पड़ रही थी, ''···याद है, प्रभु, वह आत्मविभोर होकर व्यक्ति को अपना बच्चा दिखाती हुई कह रही थी, 'आदित्य देवता ने ही मेरी गोद भर दी। अब मुझे किस बात की कमी है ?' इसके बाद वह तुम्हारे इस मंदिर में आकर घंटों विह्वलता में उस बच्चे को लेकर नाचती रही, गाती रही।···वह उसी समय हटी थी जब बच्चा दूध के लिए मचलने लगा था। लोगों

को कितना आश्चर्य हुआ था, जब स्तन पिलाते-पिलाते···तुम्हारी ही कृपा से उसमें दूध भी आ गया था। उस समय गाँव की उसकी सखियों ने उससे कहा था, 'भले ही यह बच्चा तेरे पेट से पैदा न हो, पर तेरा दूध तो पी रहा है। सचमुच तू धन्य है! भगवान् भास्कर ने तेरी कोख खाली रखकर भी तेरी गोद भर दी।' ''

फिर कुछ क्षणों तक कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ी। हम लोगों ने सोचा कि अब पिताजी चुप हो गए हैं और बाहर निकलने वाले हैं। चोर का जी आधा। माला ने मेरा हाथ खींचा और चलने का संकेत किया। किंतु मेरा मस्तिष्क आश्चर्य, कुतूहल और जिज्ञासा में ऐसा डूबा था कि बिलकुल निकलना ही नहीं चाहता था। मैं जड़वत् खड़ा रहा, जैसे मुझे काठ मार गया हो। इसी बीच भीतर से पिताजी की आवाज सुनाई पड़ने लगी। लगता है, भावातिरेक में वे कुछ समय के लिए चुप हो गए थे।

''किंतु नाथ, अब क्या करूँगा? एक सत्य छिपाने के लिए मुझे सौ झूठ बोलने पड़ेंगे। फिर भी उस हठी बालक से मैं वास्तविकता क्या छिपा सकूँगा? कदाचित् असंभव है। तब?···उसकी दृष्टि में न मैं उसका पिता होऊँगा और न राधा उसकी माँ। जरा सोचो तो, जब राधा यह सब सुनेगी तो वह क्या सोचेगी? वह चीख पड़ेगी, व्याकुल हो जाएगी और तुम्हारे ही सामने आकर अपना सिर पटक देगी। तुमसे ही पूछेगी—बताओ प्रभु! मैंने कौन सा अपराध किया था कि पुत्र देकर भी तुमने मेरे वात्सल्य पर आघात किया!''

इसके बाद गंभीर नीरवता छा गई। लगता है, मेरे पिता चिंतन की अतल गहराई में डूब गए या व्याकुलता की अंतिम सीमा पर अपनी चेतना खो बैठे।

किंतु मैं जहाँ था वहीं खड़ा रह गया। माला भी स्थिर रही। व्यग्रता का चक्रवात मेरे मस्तिष्क में उठता रहा, जिसने जीवन की डोर को बेतरह उलझा दिया था। केवल एक ही छोर हाथ लगा कि अधिरथ मेरा पिता नहीं है, राधा मेरी माता नहीं है। मैं तो बहता हुआ पा लिया गया हूँ, जैसे बाढ़ के जल में झाड़ बह रहे हैं और हवा में बादल।

एक ऐसे बालक के कोमल मस्तिष्क में लगातार बनती-मिटती रेखाओं का अनुमान आप स्वयं लगा सकते हैं, जिसे यह पता चल जाए कि उसकी माता वास्तव में उसकी माता नहीं है, उसका पिता वस्तुतः उसका पिता नहीं है। मेरे बाल-मन को इसका अनुमान अच्छी तरह हो गया था कि जीवन जिस डगर पर चल रहा है, वह अनचीन्ही दिशा से अनजान दिशा की ओर जाती है।

मेरा दुर्भाग्य एक और था कि बालकों में जितनी संवेदनशीलता होनी चाहिए,

मुझमें उससे बहुत अधिक थी, जो मेरे विकसनशील व्यक्तित्व के लिए हानिकारक थी। पर मैं करता ही क्या, अपनी स्थिति से लाचार था। अब मैं कभी-कभी यह भी सोचने लगता था कि ये सारी बातें यदि माला को न मालूम हुई होतीं तो अच्छा था।

पर जब माघी ही जानती है तब गाँव के सभी बड़े-बूढ़े इस तथ्य से अवश्य ही परिचित होंगे। भले ही कोई मुझसे कुछ न कहे, पर आपस में तो लोग बातें करते ही होंगे कि यह बिना माँ-बाप का लड़का है।

माघी बात करते हुए ही मेरे पिताजी के साथ मेरे घर पर आई, उसके पहले ही मैं लौट आया था। मेरे मस्तिष्क की एकाग्रता ने माला को बहुत पहले ही छोड़ दिया था। चकित मस्तिष्क स्वयं में ही इतना उलझा रहता है कि न तो वह किसी सहयोग की अपेक्षा करता है और न उसे किसीके साथ की ही अनुभूति होती है। आप विश्वास करें या न करें, पर सत्य यही है कि मेरे साथ माला भी है, इसका भान मुझे जरा भी नहीं था।

मैं दालान में पड़ी काठ की बड़ी चौकी, जिससे उठकर गया था उसी पर ढुलका पड़ा था। अनिश्चितता का काला घुप्प अँधेरा मेरे मन को घेरने लगा।

बचपन की ऐसी गंभीरता पर अब मुझे हँसी आती है। क्या आवश्यकता थी ऐसी गंभीरता की ? मेरे माता-पिता का पता नहीं था, न होता। पर मैं वात्सल्य से वंचित नहीं था। राधा और अधिरथ मुझे किसी और के वास्तविक माता-पिता से कम नहीं मानते थे। फिर भी मैं उस समय अतिशय शांत था।

गंभीरता का अँधेरा बाल चापल्य की कंपित दीपशिखा के समीप कभी नहीं आता, और यदि कभी वह बालक के मन को घेर भी लेता है तो बालपन को बुझा ही समझिए। ऐसी स्थिति में मानसिक धरातल पर किसी बालक और बूढ़े में अंतर नहीं रह जाता। यह सामान्य स्थिति बालक के व्यक्तित्व के विकास में सदा अपनी घातक भूमिका ही निभाती है।

सभी सुख-सुविधाओं से युक्त पूर्ण वात्सल्य प्राप्त होते हुए भी यह बात मेरे अवचेतन मन में निश्चित रूप से बहुत दिनों तक पड़ी रही कि एक ऐसा पुत्र हूँ, जिसके माता-पिता का पता नहीं है। शायद इसी स्थिति ने मेरे स्वभाव को अनावश्यक रूप से हठी बना दिया था। फिर भी इस बात को यहीं छोड़ दीजिए।

□

माघी ने दूर से ही मुझे शांत पड़ा देखा और दौड़ी हुई आई। उसने मुझे एक झटके से गोद में उठा लिया और बोली, ''अरे बेटा, तू अब तक सो ही रहा है ?''

मैं कुछ नहीं बोला। उसने ही मेरी माँ को पुकारा, ''अरे राधा, ओ राधा!

कहाँ चली गई राधा ?'' फिर प्रश्नवाचक मुद्रा में उसने पिताजी की ओर देखा। अब तक भीतर से रेवा आ गई। रेवा मेरे यहाँ सेविका का कार्य करती थी और दिन-रात रहती थी। उसीने बताया कि वह वसु को ही खोजने वन की ओर गई हैं।

"पर वसु तो यहीं लेटा था। कितनी विचित्र बात है यह ! गोद में लड़का और नगर में ढिंढोरा!''

रेवा एकदम सकपका गई।

"मैंने स्वयं तीन-चार बार आकर देखा था, पर यह तो यहाँ नहीं था।'' रेवा बोली।

"यहाँ नहीं था! पर मुझे तो यहीं मिला।'' माघी चकित थी।

पिताजी के नेत्रों से भी आश्चर्य टपक रहा था।

"क्यों बेटा, तुम यहीं थे न ?'' माघी ने पूछा।

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

"तब कहाँ गए थे ?''

मैंने तर्जनी से अरण्य की ओर संकेत किया।

इसके पहले कि वह मुझसे जाने का कारण पूछे, मैंने बातों को दूसरी ओर ढकेलते हुए कहा, "क्यों चाची, तेरा उडुप मिल गया ?''

"मेरा उडुप तो तू ही है, बेटा।'' उसने बड़ी प्रसन्नता से मुझे गोद में दबा लिया।

"मैं उडुप हूँ तो क्या मैं ही बह गया था ?'' मैं मुसकराया।

पर इतना सुनते ही, मैंने अनुभव किया, माघी और मेरे पिता दोनों की आकृतियाँ अत्यंत गंभीर हो गई थीं।

माघी कुछ बोली नहीं। उसने पिताजी पर एक रहस्यमय दृष्टि डाली। और पिताजी का मुँह बंद-का-बंद ही रहा।

इसी बीच मैंने देखा, माँ भी बड़ी तेजी से जंगल की सघनता से निकलती चली आ रही है। उसके पीछे-पीछे माला भी थी।

"बड़ा दुष्ट है! नींद टूटी नहीं कि आँखें चुराकर भागा।'' माँ मुझे देखकर बोली, "आसपास का सारा वनप्रदेश देखा। जब यह कहीं नहीं मिला तब मैं तुम्हारे यहाँ गई।'' वह माघी को संकेत कर कहती गई, "यह तो कहो, माला मिल गई, तब उसने सब बताया।'' इतना कहते हुए माँ ने मुझे माघी की गोद से ले लिया।

बाद में मुझे पता चला कि माला ने केवल इतना बताया था कि हम लोग

जंगल की ओर गए थे। किंतु माँ के 'सब बताया' कहने पर मैंने समझ लिया कि उसने छिपकर पिताजी की बातें सुनने की बात भी बता दी है।

"कहाँ चले गए थे, बेटा?" माँ ने बड़ी आत्मीयता से पूछा।

मैं समझ नहीं पाया कि माला ने जब सब बता ही दिया है तब माँ मुझसे क्यों पूछ रही है। फिर भी, मैंने कुछ संकेतों से और कुछ शब्दों का सहारा लेते हुए उसे बताया कि यह देखने गया था कि झाड़ में फँसी उडुप रस्सी के सहारे कैसे बाँधकर लाई जाती है।

"तो क्या देखा?" अत्यंत व्यग्रता से मेरे पिता ने पूछा।

"देखा नहीं, सुना।"

"क्या?"

"जो आप आदित्य देवता के सामने कह रहे थे।"

इतना सुनना था कि पिताजी की आकृति का रंग ही जैसे उड़ गया। उनका चेहरा एकदम फीका पड़ गया। अपनी गोपनीयता में स्वयं को कितना आतंकित कर देने की शक्ति एक रहस्य में होती है, इसका भान मुझे अपने जीवन में पहली बार हुआ था।

□

दो

समय की आड़ी-तिरछी रेखाओं से कई विलक्षण चित्र बनते हैं। स्मृतियाँ उनमें कुछ विकल रंग भरती हैं। और वे मेरे ही चित्र मुझे अत्यधिक व्यग्र कर देते हैं।

यही व्यग्रता मेरा निर्माण करना आरंभ कर देती है। गीली मिट्टी से भी कहीं अधिक स्निग्ध मेरा मानस एक निश्चित आकार लेने लगता है।

वर्षा के दिन बीत चले थे। कार्तिक के आकाश में दम तोड़ते मेघों के एकाध टुकड़े निरुद्देश्य आवारा श्वान शिशुओं की तरह इधर-उधर भागते दिखाई पड़ जाते थे। उद्दाम यौवन के द्वार पर खड़ी शस्य-खेतों की हरीतिमा प्रात: से ही हमें अपने पास बुला लेने का प्रयास करती थी। किंतु डर की स्थिति विचित्र थी। जब से मुझे अपने जन्म की वास्तविकता का आभास लग गया था तब से अधिरथ और राधा मुझे और अधिक मानने लगे थे। वे बहुधा मुझे अपनी आँखों से ओझल होने देना नहीं चाहते थे।

एक रात की बात है।

मैं अपनी माँ के पास ही लेटा था। सर्दी अभी आई नहीं थी, पर हवा में शीत समाने लगी थी। माँ ने मुझे अच्छी तरह एक उत्तरीय ओढ़ा दिया था। वह सोच रही थी कि मैं सो गया हूँ; पर मुझे नींद नहीं आई थी। फिर भी मैं चुप था।

पिताजी भी माँ से थोड़ी दूरी पर ही एक दूसरी खाट पर सो रहे थे। वे बड़े धीरे से बोले, ''अरे सुनती हो?''

माँ चुप थी। उसने करवट बदल ली।

पिताजी की आवाज फिर सुनाई पड़ी, ''बड़ी जल्दी सो गई।'' इतना कहते हुए कुछ आगे की ओर झुककर उन्होंने माँ की चोटी खींची। इसे मैंने देखा नहीं, केवल अनुभव किया। माँ ने 'उहूँ' कहकर चोटी छुड़ा ली और बोली, ''परेशान

मत करो।''

''तब बोलती क्यों नहीं?''

''क्या बोलूँ? लगता है, तुम्हारी नीयत खराब हो रही है।''

''पगली कहीं की! हर बात में हमारी नीयत दिखती है, पर हमें नहीं देखती।'' अँधेरे में भी उनकी मुसकराहट का आभास मुझे हुआ।

''तुम्हें देखते-देखते तो बीस साल हो गए।''

''और हमारी नीयत को?''

''उसे भी बीस वर्षों से देख रही हूँ।''

''क्या देख रही हो?''

''यही कि वह अँधेरे में ठीक नहीं रहती।''

''अरे पगली, परमात्मा ने अँधेरा इसीलिए बनाया है। संसार की हर वस्तु प्रकाश में दिखाई देती है, पर नारी को पुरुष की नीयत अँधेरे में। भगवान् जाने, यह नीयत देखते समय नारियों की आँखों में उल्लू आकर कहाँ से बैठ जाता है!''

माँ को हँसी आ गई। इसी बीच पता नहीं कैसे मैं 'किनकिना' उठा। माँ बोली, ''अभी चुप रहो। लगता है, वसु सोया नहीं है।''

''मैं उसीके संबंध में कह रहा था।''

''क्या?''

''आज हस्तिनापुर से लौटते समय आचार्य कौशिक मिले थे। मैंने उन्हें अपने रथ पर बैठाकर आश्रम तक पहुँचाया भी। ...मैंने उन्हें वसु के संबंध में सारी बातें बताईं।''

''तो क्या कहा उन्होंने?'' माँ के स्वर में व्यग्रता अधिक थी या जिज्ञासा, यह तो मैं नहीं कह सकता।

''उन्होंने सारी बातें बड़े ध्यान से सुनीं और सोचते हुए बोले, 'कल प्रातः मैं तुम्हारे द्वार की ओर से निकलूँगा। तब मैं कुछ अवश्य करूँगा।' ''

''क्या करेंगे?'' माँ ने पुनः पूछा।

''यह तो उन्होंने नहीं बताया।''

''तब तो तुम्हें स्वयं चाहिए कि सूर्योदय के पूर्व ही रथ ले जाओ और उन्हें लिवा लाओ।''

''मैंने उनसे कहा था, पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया और कहा कि मैं एकदम अप्रत्याशित ही तुम्हारे ग्राम में आ जाऊँगा। मेरे आगमन की पूर्व सूचना भी तुम किसीको मत देना।''

"तब तुमने मुझसे क्यों बता दिया?"

"क्योंकि तू इस समय मेरी नीयत पर संदेह करने लगी थी।"

माँ अवश्य हँसी थी, किंतु उसकी खिलखिलाहट खुलकर बिखर न सकी। उसकी छाती कुछ देर तक हिलती रही, क्योंकि उसीसे चिपका मैं पड़ा था। लगता है कि उसकी हँसी बहुत कुछ भीतर-ही-भीतर रह गई। फिर वह बोली, "एकांत में, नारी के सान्निध्य में पुरुष की नीयत अग्नि के पार्श्व में पड़े घृत के समान है, जिसे पिघलते और भभकते देर नहीं लगती।"

इस बार पिताजी कुछ जोर से हँसे, "पगली, एक तो आज रवि संक्रांति, दूसरे कल ऋषि आगमन की संभावना! हर दृष्टि से संभोग वर्जित रात्रि। फिर भी मेरी नीयत पर संदेह। कहीं तुम्हारी नीयत स्वयं तो···"

"नारी की नीयत तो गंगा की धारा के बीच पड़ी रेत की तरह निर्मल रहती है।"

माँ अपना वाक्य पूरा भी न कर पाई थी कि पिताजी बोल पड़े, "और जब वह धँसने लगती है तब जल की अतल गहराई के अतिरिक्त कहीं नहीं ठहरती।"

इस बार दोनों हँस पड़े; पर मेरे पल्ले उस समय कुछ नहीं पड़ा। बुद्धि की नादान असमर्थता पर अब मुझे हँसी आती है। मैं तो केवल इतना ही जान पाया कि कल कोई ऋषि आएँगे।

मैं कब सो गया, पता नहीं।

आँखें खुलीं तो देखा, सवेरा अच्छी तरह हो गया है। पिताजी बहुत पहले ही गंगास्नान कर लौट आए हैं। माँ बाहरी द्वार के सामने की उपशाला (ओसारा) गोबर से लिपवा रही थी।

मुझे जगा हुआ जानकर सबसे पहले माँ ने ओसारा लिपवाने का कार्य छोड़कर पल भर में मुझे उठाया, हाथ-मुँह धुलाकर दूध पिलाया। शौच के बाद ही मुझे नहलाने चली।

"पर मैं इस समय नहीं नहाऊँगा। मुझे ठंड लग रही है।" मैंने विरोध किया।

"अच्छा, पानी गरम करवा लेती हूँ।" इतना कहते ही उसने पानी गरम करने के लिए रेवा को निर्देश दिया।

"रोज तो तू मुझे इस समय नहीं नहलाती थी।" मेरा विरोध उभरा।

"तू जानता नहीं है। अरे, आज···" इतना कहते-कहते जैसे किसीने उसकी जबान पकड़ ली। वह एकदम चुप हो गई। उसकी भाव-भंगिमा से लगा कि बात बदलने के लिए वह रास्ता ढूँढ़ रही है।

उसने रेवा को जल्दी करने के लिए सावधान किया और मुझे एक उत्तरीय देते हुए बोली, ''ले, इसे ओढ़ ले और यहीं खड़ा रह। मैं अभी आती हूँ।'' फिर वह बाहर दालान में लिपाई की व्यवस्था देखने चली गई।

माँ थोड़ी ही देर बाद लौटी। तब तक पानी भी आ गया और मुझे वह नहलाने लगी। मैंने एक बार फिर आनाकानी की। मेरा मन तो प्रतिदिन की भाँति माला के यहाँ जाने को विकल था और वह मल-मलकर नहलाए जा रही थी, जैसे देह का सारा कलुष वह आज ही धो डालेगी।

घबराहट में मैं बोल पड़ा, ''अच्छा, अब बस करो।''

''तू जानता नहीं है, आज ऋषि पर्व है। शरीर को एकदम स्वच्छ रहना चाहिए।'' इतना कहते हुए उसने मेरे तन पर फिर गुनगुने पानी का एक पात्र और उड़ेल दिया। ऋषि पर्व सुनते ही मुझे रात की बात अचानक याद हो आई। लेकिन मैंने इसे न उस समय ठीक से समझा था और न इस समय ठीक से समझ पाया। किसी ऋषि के आगमन का आभास मुझे पहले से ही मिला था।

नहला लेने के बाद माँ ने मुझे अच्छी तरह पोंछना आरंभ किया। मैंने कई ऋषि देखे थे। सबको दाढ़ी-मूँछें थीं, सब साधु की तरह ही लगते थे। पर यह नहीं जानता था कि साधु और ऋषि में क्या अंतर है।

मेरी सहज बुद्धि अचानक पूछ बैठी, ''यह ऋषि कौन होते हैं?''

''अरे, तुम ऋषि नहीं जानते? ऋषि माने ज्ञानी, तपस्वी—यानी हम सबसे महान्...त्रिकालदर्शी...देवता!'' माँ और भी न जाने क्या कह गई। मैं कुछ समझ नहीं पाया। 'देवता' शब्द सुनते ही आदित्य मंदिर के उस बूढ़े की आवाज मेरे कानों में गूँजने लगी। उनकी आकृति मेरी आँखों में साफ उभर आई। मन स्वयं से ही कहने लगा, विचित्र है यह देवता भी। कहीं मूर्तियों में पत्थर बन जाता है और कहीं ऋषियों की दाढ़ी-मूँछों में समा जाता है।

पर मैंने माँ से कुछ नहीं कहा। उसने मेरे शरीर को अच्छी तरह पोंछ लेने के बाद बड़े प्रेम से उसपर तैल-मर्दन किया और आँखों में काजल लगाया। इतना तो वह प्रतिदिन करती थी, पर आज उसने पैरों में अलक्तक भी लगाए। फिर उत्तरीय से अच्छी तरह तन ढककर मस्तक पर रक्तचंदन का तिलक दिया और मुझे घर के बाहर ले आई। मैंने देखा, पश्चिम की ओर से माधी और माला भी आ रही हैं।

माला को देखकर अचानक मेरे अधरों पर मुसकराहट उभर आई। वह दौड़ी हुई मेरे निकट आई और बड़े सहजभाव से मेरे कानों में बोली, ''आज तो बड़े अच्छे लग रहे हो, वसु!''

तब तक माघी भी बोल पड़ी, "अरे राधा, तुझे भी क्या कहूँ! सजा-सँवारकर बालक को तैयार कर दिया। एक दिठौना तो लगा देती। कौन जाने किसकी दीठ कैसी पड़ जाए!"

माँ दौड़ी हुई भीतर गई और अनामिका में काजल लगा आ गई। मुझे अपनी गोद में दबाते हुए मेरे मस्तक पर कालिख पोत दी।

थोड़ी ही देर में मैंने देखा कि पूरे गाँव में एक विचित्र सा कोलाहल मच गया।

"अरे, आचार्य कौशिक आज इधर ही आ रहे हैं।" पंडित यज्ञदत्त बड़े आश्चर्य से चीखते हुए मेरे पिताजी से बोले। पिताजी ने सुनते ही अश्व-मर्दन छोड़कर हाथ-पैर धोया और पूर्व दिशा की ओर गंगा के तट पर दौड़े।

"क्या बात है, राधा, ऋषि कभी जनपद में तो नहीं आते थे?" माघी ने आश्चर्य व्यक्त किया, "आज कोई बात जरूर है।" इतना कहकर वह माला को मेरे यहाँ ठहरने के लिए कहकर जाह्नवी के तट की ओर बढ़ी।

माँ की कोई विशेष इच्छा उसके साथ जाने की नहीं थी, फिर भी वह माँ को अपने साथ लेती गई।

कुतूहल एक ऐसा बवंडर होता है जो बड़े-बड़े पत्तों को तो उड़ाता ही है, साथ ही छोटे-छोटे तिनकों को भी झाड़-पोंछकर बटोर ले जाता है। जब बड़े लोग चले गए तब भला मैं और माला क्यों खड़े रह जाते। रेवा रोकती रह गई। मैं और माला भी उधर ही उड़ चले। आगे बढ़ने पर गाँव के और बालक भी हमारे साथ हो गए।

मैं सचमुच बड़ी तेजी से बढ़ा चला जा रहा था। मेरे उत्तरीय के दोनों छोर चिड़ियों के पंख जैसे हवा में लहरा रहे थे। रास्ते में माँ ने मुझे देखा। वह दौड़कर पकड़ना भी चाहती थी! पर मैं भला उसकी पकड़ में आनेवाला कहाँ था!

थोड़ी ही दूर आगे बढ़ा होऊँगा कि गंगा की रेतीली भूमि पर दाढ़ी-मूँछों से युक्त परम तेजस्वी व्यक्ति आते दिखाई दिए। उनके पीछे दो-चार व्यक्ति और थे, जो अवस्था में उनसे बहुत कम लगते थे। लोग उन्हें 'ब्रह्मचारी' कह रहे थे।

गाँव का प्रत्येक व्यक्ति धरती पर एकदम लेटकर ऋषि को साष्टांग दंडवत् प्रणाम कर रहा था और फिर उन्हींके साथ हो जाता था। उन्हींमें मैंने अपने पिता अधिरथ को भी देखा। मैं उन्हींके बगल में कुतूहलवश ऋषि को एकटक देखता हुआ खड़ा-का-खड़ा रह गया।

मुझे दूर से सारे ऋषि और सारे पहाड़ एक जैसे ही दिखाई देते थे। निकट

आने पर भी भव्यता और आकर्षण के अतिरिक्त कोई विशेष अनुभूति न हुई।

वे मुझे देखते ही बोल पड़े, ''अरे, यह किसका पुत्र है, भाई?'' और मुझे उन्होंने गोद में उठा लिया। मेरा एक मधुर चुंबन लिया। आकृति पर जमे बालों का अनियंत्रित जंगल मेरे गालों से टकराया, जो मुझे बहुत अच्छा नहीं लगा। किंतु यह सबकुछ मेरे लिए बड़ा विचित्र था, अद्‌भुत था, नितांत आकस्मिक।

''यह किसका पुत्र है, अधिरथ?'' आचार्य ने अत्यंत प्रसन्न मुद्रा में मेरे पिताजी से पूछा।

''यही तो मैं आपसे पूछने वाला था, महाराज!'' पिताजी परम विह्वलता में बोल पड़े।

यह मेरे जीवन का पहला अवसर था, जब पिताजी पता नहीं क्यों मुझे अपना पुत्र स्पष्टतया स्वीकार न कर सके।

''अधिरथ का ही यह कृतक (पालित) पुत्र है, महाराज।'' यज्ञदत्त ने कहा।

''क्यों अधिरथ, यह तुम्हारा ही पुत्र है! और तुम कुछ बोलते नहीं हो।'' ऋषि मुसकराए।

''सब आपका ही है, महाराज!'' पिताजी ने बड़े सहजभाव से कहा।

''सब हमारा ही है।'' अचानक ऋषि की मुद्रा बदली, ''सारा कलंक मेरे ही सिर मढ़ना था तुम्हें।'' इतना कहते हुए वह जोर से हँसे, ''इन्हीं सब झमेलों से तो मैं कभी जनपद की ओर नहीं आता।'' उनकी हँसी के साथ ही सारा वातावरण जैसे हँस पड़ा।

मैंने अनुभव किया कि मेरे पिताजी कुछ-कुछ संकोच में पड़ गए।

ऋषि ने पुनः मुझे ध्यान से देखा। ''मेरा पुत्र भले ही न हो, पर है यह ऋषिपुत्र ही।'' वे फिर मुसकराए और कुछ गंभीर हो कहते गए, ''पर वह बड़ा निर्मम ऋषि रहा होगा जिसने देवतुल्य बालक को गंगा में समर्पित कर दिया।''

तब तक माँ भी मेरे बगल में आकर खड़ी हो गई थी। पिताजी ने उसकी ओर संकेत करते हुए अत्यंत संक्षिप्त शब्दों में कहा था, ''इसीकी तपस्या ने इसे पाया है, महाराज।''

अब ऋषि की दृष्टि मेरी माँ की ओर गई, ''हाँ, लगता भी तुम्हारा ही पुत्र है।'' वे बोले। और फिर बड़े विश्वास के साथ माँ से मेरी तुलना करने लगे, ''...रंग देखो, तुम्हारे ही जैसा। रक्त कमलों की अरुणिमा को नवनीत में मिलाकर साँचे में ढाला गया इसका वपु देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि यह तुम्हारा पुत्र नहीं है।...इसकी बड़ी-बड़ी आँखें, बाण के अग्रभाग जैसी नुकीली नासिका,

घुँघराले बाल—सब तो राधा, तुम्हारे जैसा ही है। मुझे तो लगता है कि यह अधिरथ का पुत्र भले ही न हो, पर तुम्हारा अवश्य है।'' आचार्य इतना कहकर मुसकराते रहे। बड़ी रहस्यमय थी उनकी मुसकराहट। कोई कुछ समझ नहीं पाया।

केवल यज्ञदत्त ने ही दबी जबान से बोलने का साहस किया, ''ऐसा तो नहीं कि अधिरथ हस्तिनापुर में ही रह गए हों और राधा किसी ऋषि आश्रम में ही पहुँच गई हो।''

इतना सुनना था कि ऋषि जोर से हँस पड़े। उनकी दाढ़ी-मूँछों के जंगल में गंभीर भूकंप आ गया। माँ एकदम लज्जित हो गई। उसकी आकृति पर उषाकाल की लालिमा दौड़ गई और नेत्र नीचे ही रेत में जैसे कुछ खोजने लगे। पर मेरे पिताजी मुसकराते हुए ज्यों-के-त्यों खड़े थे, जैसे वह ऋषि से कुछ और सुनना चाहते हों।

भीड़ बढ़ती गई। जो सुनता वही गंगा के तट की ओर चला आ रहा था। लोगों की दृष्टि ऋषि की गोद में मेरी ओर आकर अचानक अटक जाती थी।

''यज्ञदत्त!'' ऋषि की धीर-गंभीर ध्वनि समूची भीड़ पर जैसे रेंग सी गई।

''जी हाँ, महाराज!'' भीड़ से बिलकुल आगे निकलकर ऋषि के समक्ष कुछ सहमा-सहमा सा यज्ञदत्त खड़ा हो गया। उसे ऐसा लगा जैसे उसने कुछ गलती की हो। भीड़ का स्वाभाविक कंपन भी आवश्यकता से अधिक थम गया।

तब ऋषि ने कहा, ''तुम्हारे साहस की मैं आलोचना नहीं करता; पर बड़े विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि सभी आश्रम ऐसे नहीं हैं जैसे तुम समझते हो। आज भी अधिकांश आश्रम एवं गुरुकुल तुम्हारी सांसारिक वासनाओं से मुक्त हैं।'' इतना कहने के बाद ऋषि अचानक कुछ सोचते हुए रुके।

ऋषि की वाणी की गंभीरता की बर्फ भीड़ पर जैसे जमने लगी थी। सभी चुप थे। यज्ञदत्त भी सकपकाया हुआ उनके चरणों पर गिर पड़ा, ''महाराज! क्षमा कीजिए, मैंने विनोद में कहा था।''

आचार्य की मुद्रा थोड़ी हलकी हुई। वे बोले, ''विनोद में कही गई बात का कोई-न-कोई आधार तो होता ही है। तुम्हारे कथन में आंशिक सत्य तो है ही, यदि ऐसा न होता तो शरद्वान और भरद्वाज जैसे तपस्वियों का स्खलन न होता—और आर्यावर्त की ऐसी स्थिति न होती जो आज है, या होने जा रही है।'' इतना कहने के बाद उनकी दृष्टि गंगा की ओर गई। ऐसा लगा जैसे वह गंगा की मृदु लहरियों के भीतर सोया कोई तूफान देख रहे हैं।

अब उनकी पकड़ भी कुछ ढीली पड़ी और मैं चुपचाप सरककर रेत पर आ

गया। वहाँ से माँ के निकट घिसका। उसने भी मुझे अपने दोनों पैरों के बीच चिपका लिया।

कुछ क्षणों तक लोग अत्यंत सहमे और शांत थे। अचानक आचार्य की मुद्रा बदली। उन्होंने पुन: मेरा हाथ अपनी ओर खींचा। गंभीरता को व्यक्तित्व से उतारते हुए वे मुसकराए, "तब मैं इसे गांगेय कहूँ या राधेय?" इतना कहकर उन्होंने फिर मुझे गोद में उठा लिया और अनायास हँसने लगे।

सभी लोग इस अप्रत्याशित रूप में बदली हुई ऋषि मुद्रा पर चकित थे। किसीको कुछ पता नहीं था कि ऋषि क्या कहना चाहते हैं और इधर आज क्यों चले आए हैं।

सारी गतिविधि का केंद्र बना मैं एक विचित्र स्थिति में था। मेरा मन और मस्तिष्क अनिश्चितता के एक ऐसे नद में डुबकियाँ लगा रहा था, जहाँ डूबने और उतराने के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं आ रहा था।

"कहाँ चला गया वह?" ऋषि ने अपनी दृष्टि घुमाते हुए पूछा।

पहले तो लोगों की समझ में नहीं आया कि ऋषि किसे पूछ रहे हैं। नेत्रों में जिज्ञासा भरे सब चुप थे।

"अरे भाई, यज्ञदत्त तो यहीं खड़ा था न! किधर चला गया?" इस बार तो उन्होंने स्पष्टतया मेरे पिताजी से पूछा था।

पिताजी ने दृष्टि पीछे की ओर घुमाई। आवाज यज्ञदत्त के कानों में पड़ चुकी थी। वह भीड़ के पीछे से बोला, "जी महाराज!" और लोगों को हटाता हुआ आगे चला आया।

"तुम तो यहाँ खड़े थे, पीछे क्यों चले गए?" ऋषि ने मुसकराते हुए कहा।

"अपनी भूल सुधारने के लिए।" यज्ञदत्त धीरे से बोलता हुआ और आगे आ गया।

"भूल सुधारने के लिए? क्या मतलब?"

"ऋषि और राजा के अधिक निकट नहीं पहुँचना चाहिए।"

"क्यों?"

"एक का शाप और दूसरे का दंड अब विवेक से कहीं अधिक भावुकता पर निर्भर होने लगा है।" यज्ञदत्त ने कहा तो धीरे से था, पर ऐसे ढंग से कहा था कि सारे वातावरण पर आह्लाद भरी सुगबुगाहट रेंग सी गई। ऋषि भी 'वाह, वाह!' कह उठे और हँसते हुए बोले, "यज्ञदत्त! तुम इस ग्राम में सबसे अधिक बुद्धिमान होने के साथ-ही-साथ मुखर भी हो। कदाचित् इसीलिए तुम्हें इस ग्राम का 'गणमुख्य'

नियुक्त किया गया है। मैं तुम्हीं से पूछना चाहता हूँ कि इस बालक को क्या कहा जाए, गांगेय या राधेय?''

''महाराज, पितामह के रहते हुए अब आर्यावर्त में कोई दूसरा गांगेय नहीं हो सकता।''

''यही तो मैं सोचता हूँ। तब क्यों न इसे राधेय ही कहा जाए।''

''यह निश्चित हो गया कि यह राधा का ही पुत्र है?''

''इसमें भी कोई संदेह है! इसकी संपूर्ण शरीरयष्टि राधा से मिलती है।''

''तब ऐसा संभव नहीं कि राधा ने ही इसे जन्म दिया हो और उसीने इसे गंगा में बहा दिया हो।...''

यज्ञदत्त बोल ही रहा था कि उसके अधूरे वाक्य को पूरा किया आचार्यजी ने, ''और फिर उसीने इसे पा भी लिया हो।''

सारे वातावरण पर हँसी का जैसे ज्वालामुखी फूटकर बिखर गया। लोगों ने हँसना जो आरंभ किया तो हँसते रहे। एक संक्षिप्त अंतराल के बाद हँसी जब थमी तब आचार्य ने मेरे पिताजी को संबोधित करते हुए पूछा, ''क्यों अधिरथ, तुम्हें इस संभावना के संबंध में तो कुछ नहीं कहना है?''

''नहीं, महाराज, बिलकुल नहीं।'' हाथ जोड़ते हुए मुसकराहट के बीच पिताजी बोल पड़े।

''मैंने सोचा, कदाचित् तुम और कुछ भी जानते हो।''

''मैं तो नहीं जानता, हो सकता है, राधा जानती हो।'' पिताजी की इस बात पर एक बार फिर हँसी की लहर आ गई। माँ का सारा व्यक्तित्व कछुए की भाँति संकुचित होकर लज्जा की कठोर खोल के भीतर छिपने लगा।

इसी बीच मंद, किंतु तीर की तरह चुभती एक ध्वनि कहीं से आई, ''त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्...'' फिर तो एकदम ऋषि की आकृति का रंग ही जैसे बदल गया। लोगों ने स्पष्ट अनुभव किया कि यह आवाज उन्हें गहराई तक चुभ गई। उन्होंने चारों ओर दृष्टि घुमाई और बड़े गंभीर हो बोले, ''यह किसकी ध्वनि है?''

कोई सामने नहीं आया। एक विचित्र प्रकार का तनाव उस उल्लासमय वातावरण से उभरा। आचार्य आकृति की लालिमा गहरी हो ताम्रवर्णी हो गई। वे कुछ समय तक शांतभाव से खड़े रहे, फिर मुझे माँ को देते हुए बोले, ''लो, अपने बालक को सँभालो।''

इसके बाद उन्होंने सबको संबोधित करते हुए कहा, ''व्यंग्य अथवा विनोद

में भी ऐसे शब्द कभी किसीको अपने मुख से नहीं निकालने चाहिए जिनमें किसीके चरित्र की हत्या हो; क्योंकि किसी पर कीचड़ उछालना जितना सरल है उसे धो पाना उतना की कठिन है।''

ऋषि के इस कथन पर किसीने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। एक गंभीर शांति पूरी भीड़ को अपने पाश में जकड़े रही।

उस समय मेरी बालबुद्धि के समक्ष ऋषि का यह आगमन और क्षण-क्षण में बदलती उनकी मुद्रा एक अबूझ पहेली की भाँति रहस्यमय बनी रह गई।

केवल एक बात मेरे पल्ले पड़ी, वह भी बहुत कुछ उलझी-उलझी सी कि मैं राधा का ही पुत्र हूँ।

माँ अब मुझे पहले से अधिक अच्छी लग रही थी।

□

आचार्य ने तब गंगातट से ग्राम की ओर प्रस्थान किया। लोग उनके साथ-साथ चुपचाप बढ़े। सबके मन में उस समय एक ही जिज्ञासा थी कि आज ऋषि ग्राम की ओर क्यों बढ़े चले जा रहे हैं, क्योंकि उन दिनों ऋषियों का ग्राम में पधारना कोई साधारण बात न थी। आश्रम में किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती थी तो वे अपने शिष्यों से कहला भेजते थे। भीतर-ही-भीतर मथती हुई जब यह जिज्ञासा अपने चरम उत्कर्ष पर आई तब अपना सारा साहस बटोरकर यज्ञदत्त विनीत होकर बोला, ''महाराज, यदि आप क्षमा करें तो एक जिज्ञासा व्यक्त करूँ!''

उसके मुँह से जैसे बात छीनते हुए आचार्यजी बोल पड़े, ''जिज्ञासा! कैसी जिज्ञासा? यही न कि बालक की माँ का तो पता चल गया, अब उसके पिता का भी निश्चय कर दीजिए।''

इतना कहते-कहते उनका तरल अट्टहास लोगों पर बिखर गया। एक क्षण में भीड़ का तनावपाश छिन्न-भिन्न हो गया और सभी हँसने लगे।

''हाँ, यह जिज्ञासा तो थी ही, पर साथ में…''

यज्ञदत्त अपनी बात पूरी करें कि महर्षि बीच में ही पुनः बोल पड़े, ''समय आने दो, बालक के पिता का भी पता चल जाएगा।''

''यह जिज्ञासा तो है ही, पर मैं इसके लिए इतना व्यग्र नहीं हूँ।'' यज्ञदत्त ने कहा।

''हाँ, भाई, इसके लिए तुम क्यों व्यग्र होगे! व्यग्र तो अधिरथ को होना चाहिए।'' ऋषि की सहज विनोदी प्रकृति एक बार फिर खिलखिला उठी।

''मैं भी इसके लिए बिलकुल व्यग्र नहीं हूँ, महाराज! आखिर किसीका तो

होगा ही।'' मुझे ठीक याद है कि पिताजी पूरे माहौल में पहली बार हँसे थे।

हँसी के थमते ही यज्ञदत्त की जिज्ञासा स्वयं मुखर हो गई, ''एक दूसरी बात और थी।''

''क्या?''

''आखिर इस ग्राम का भाग्य आपके पधारने से आज अचानक जाग क्यों उठा? आश्रम के प्राणी आनंदपूर्वक तो हैं?''

''हाँ, सब ठीक है। किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।'' महर्षि बड़े सहजभाव से कहते जा रहे थे, ''आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो मेरे ब्रह्मचारी आपके बीच आते ही रहते हैं। अचानक मेरे मन में विचार आया कि मुझे स्वयं उन जनपदों में चलना चाहिए जहाँ से मेरे ब्रह्मचारी भिक्षा ग्रहण करते हैं।''

''बड़ी कृपा हुई, महाराज।'' भीड़ की आंतरिक भावना को यज्ञदत्त ने ही शब्द प्रदान किए।

''साथ ही मैं कुछ ऐसा भी अनुभव करने लगा हूँ कि आश्रमों का संबंध जनता से दूर होता जा रहा है। वे राजाश्रित अधिक होते जा रहे हैं।'' लोगों ने देखा कि महर्षि के ललाट पर चिंतन की रेखाएँ उभर आईं। समूचे जनसमूह के कान कुछ और सुनने के लिए लगे रहे। ''यह स्थिति समाज के लिए अच्छी नहीं है।'' ऋषि बोलते गए, ''हमें आश्रम और जन-जीवन के बीच एक संतुलन स्थापित करना पड़ेगा। भले ही हमारा संबंध राजाओं से दूर होता जाए।''

''पर यह राजाओं का कर्तव्य है कि वे आश्रमों की आवश्यकताओं पर दृष्टि रखें।'' यज्ञदत्त बोला।

''हाँ, यह उनका कर्तव्य तो है, पर वे अपने कर्तव्य के प्रति सजग कहाँ हैं? आज आश्रमों के प्रति उनकी दृष्टि वह नहीं रह गई है, जो उनके पूर्वजों की थी। अब वे आश्रम के जीवन को हेय समझते हैं। कृष्ण आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण कर सकते थे, द्रुपद आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण कर सकते थे, यहाँ तक कि स्वयं पितामह जीवन के आरंभिक दिन आश्रम में बिता सकते थे; पर आज हस्तिनापुर के राजकुमारों को आश्रम में नहीं भेजा जा सकता। उन्हें एक ऐसे आचार्य की आवश्यकता है जो राजप्रासाद में ही रहकर उन्हें शिक्षित कर सके।'' कदाचित् क्षण भर के लिए ही आचार्य रुके होंगे। उनकी आकृति पर मनस्ताप की कालिमा उभरने लगी। वे बोलते गए, ''जरा सोचिए तो, आश्रम की शिक्षा कभी राजभवनों में दी जा सकती है। हमारे यज्ञ की साकल्य सुरभि जिस जीवन को गढ़ती है, क्या हस्तिनापुर का राजभवन उस जीवन का निर्माण कर सकेगा?''

मेरी स्मृति में आज भी चित्र स्पष्ट है। इतना कहते-कहते वे अत्यंत गंभीर हो गए थे और बड़े विश्वास के साथ यज्ञदत्त का कंधा हिलाते हुए बोले थे, ''जानते हो, यज्ञदत्त? राजभवन के ऐश्वर्य और विलासिता का पद्म जिस घृणा, द्वेष एवं ईर्ष्या के पंक में खिलता है, वह आश्रमों की पवित्र मिट्टी से कई योजन दूर करती है।'' इतना कहने के बाद वे बड़ी देर तक चुप थे। उनके मस्तक पर चिंतन की रेखाएँ उभरती, बनती एवं मिटती रहीं।

फिर बातों का सिलसिला घना होकर लगभग जम सा गया। लोग चुपचाप महर्षि के पीछे चलते रहे।

□

अचानक मेरे ही द्वार पर आकर ऋषि ठिठक गए थे। जैसा आप जानते हैं, द्वार के आगे की उपशाला माँ ने गोबर से लिपवा-पुतवाकर शुद्ध कर दी थी और स्वयं अपने हाथों से जौ के आटे से सुंदर अल्पना बनाया था। ऋषि ने बड़े ध्यान से देखा और पूछा, ''यह किसका द्वार है?''

और कोई बोले, इसके पहले ही अपना शिकार देखकर विवर से सरककर निकलते जीव की भाँति पिताजी भीड़ से सरककर आगे निकल आए और झुककर प्रणाम करते हुए बड़े विनीतभाव से बोले, ''आपका ही है, महाराज!''

इतना कहकर उपशाला के दक्षिण छोर पर पड़े मंचक को उठाने के लिए वह दौड़े और स्वयं उसे लाकर आचार्य के सामने धर दिया।

ऋषि के उसपर बैठते ही मेरे माता-पिता परम आनंदित थे। वह कितने विह्वल थे, सो कैसे बताऊँ!

बात बहुत पुरानी है। चित्र को धूमिल हो जाना चाहिए था; पर इतना प्रभाव मेरे मन पर इसका पड़ा है कि आज भी मेरे मस्तिष्क में बिना किसी प्रयास के ज्यों-का-त्यों उभर आया है। उसकी बारीक-से-बारीक रेखाएँ भी एकदम साफ दिखाई देती हैं। तभी तो बिना अतिरिक्त रंग भरे केवल रेखाओं को उभारकर आपके सामने रखता चला जा रहा हूँ।

ऋषि के बैठते ही अनूप अंबष्ठ ने पिताजी पर व्यंग्य किया, ''लगता है, किसी ज्योतिषी की कृपा हो गई है तुमपर, अधिरथ!''

''ज्योतिषी की कृपा!'' पिताजी सकपकाए। औरों का ध्यान भी अनूप की ओर गया।

''यदि ऐसा न होता तो ऋषि के आगमन की सूचना तुम्हें पहले से कैसे मिल जाती और तुम उनके स्वागत की ऐसी तैयारी कैसे कर लेते?''

निश्चित ही पिताजी बड़े असमंजस में पड़े, क्योंकि वे कुछ बोल नहीं पाए।

"तभी तो, आज प्रातः से ही राधा घर का द्वार पुतवा रही थी। मुझे क्या मालूम कि आज आचार्य का आगमन होने वाला है।" यह आवाज माघी की थी। ध्वनि की रुक्षता से स्पष्ट था कि ऋषि के आगमन की पूर्व सूचना को माँ द्वारा छिपाया जाना उसे अच्छा नहीं लगा।

"अरे भाई, जब पुण्य लूटने का अवसर आए तब भला औरों को क्यों बताया जाए!" यह तीसरा बाण था, जिसे किसी पुरुष की वाणी ने छोड़ा था।

ऋषि भी इन बौछारों से कुछ सकपका रहे थे, क्योंकि वे यह दिखाना चाहते थे कि बिना किसी योजना के वे अचानक चले आए हैं!

माँ ने स्वयं को सँभाला और कुछ संकोच भरे स्वर में बोली, "हाँ, पिछली रात मैंने स्वप्न अवश्य देखा था कि मेरे यहाँ देवता आने वाले हैं।"

"चलो, यह अच्छा है कि तेरे यहाँ जो शुभ होने वाला होता है, तू उसे पहले ही स्वप्न में देख लेती है।" यज्ञदत्त की मुसकराहट हलके हास्य में बदल गई।

"तब तो वसु को प्राप्त करने के पहले भी तुमने स्वप्न अवश्य देखा होगा!" अंबष्ठ बोला।

"वसु नहीं, अब इसे राधेय कहो।" ऋषि ने बड़े विश्वास से कहा, "मेरे आगमन की सबसे बड़ी उपलब्धि यही समझो कि वसु राधेय हो गया।"

"हाँ, उसका नामकरण तो हुआ ही।" यज्ञदत्त ने कहा।

"रह गई स्वप्न की बात, तो यह संभव है कि राधा को ऐसे सुखद स्वप्न होते हों; क्योंकि जब राजा हरिश्चंद्र स्वप्न में अपना सारा राज्य दान दे सकते हैं, जब मंदोदरी लंकादहन के पूर्व ही स्वप्न में जली हुई लंका देख सकती है तब फिर राधा किसी कार्य को संपन्न होने के पूर्व ही देख ले तो क्या आश्चर्य!" आज मैं अनुभव करता हूँ कि एक साधारण सी बात छिपाने के लिए ऋषि ने बुद्धि का कैसा सहारा लिया था।

बात को दूसरी ओर ढकेलते हुए उन्होंने कहा, "और मैं स्वप्न देखता हूँ कि आर्यावर्त की पुरानी मान्यताएँ धीरे-धीरे टूटती चली जा रही हैं। पहले राजभवन आश्रम पर दृष्टि रखते थे, आज आश्रमों को राजभवनों का ध्यान रखना पड़ रहा है।"

"यदि आश्रम राजभवनों का ध्यान छोड़ दें तो?" यज्ञदत्त बोला।

"तो उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती चली जाएगी।"

"क्या समाज उनका ध्यान नहीं रख सकता?"

"किंतु समाज कितना ध्यान रखेगा?" आचार्य की ध्वनि में एक विचित्र निराशा थी, "राजा की आय का मूल स्रोत तो उसकी कर-व्यवस्था है, जिसे वह बलात् वसूल सकता है; पर हम तो ऐसा नहीं कर सकते।" इसके बाद ही आचार्य के दक्षिण पाँव में कुछ खुजली सी हुई। उन्होंने झुककर खुजलाया और कहते गए, "राजा को तो मेघों की तरह होना चाहिए, जो समुद्र से जल लेकर धरती के उस शुष्क भाग को सिंचित करते हैं जहाँ जल की अतीव आवश्यकता होती है।"

पता नहीं ऋषि के पग खुजलाने से या जल का नाम लेते ही पिताजी को जैसे कुछ याद आया। वे अचानक एकदम घबरा से गए। उन्होंने निश्चित रूप से अगल-बगल देखा। स्पष्ट था कि माँ को खोज रहे थे। माँ उनके दृष्टि-पथ में ही थी, पर कुछ दूरी पर खड़ी थी। उन्होंने दोनों हाथों से कुछ संकेत किया। पहले तो वह नहीं समझी, किंतु पिताजी के दुबारा समझाने पर वह समझ गई और घर के भीतर की ओर लपकी, जैसे उससे कोई बड़ी भूल हो गई हो।

थोड़ी देर बाद वह बड़ा सा एक काष्ठ पात्र ले आई। उसके पीछे-पीछे रेवा भी घड़े में पानी लेकर निकली और सबको अगल-बगल हटाती-बढ़ाती ऋषि-चरणों के निकट पहुँच गई। काष्ठ पात्र में उनका पग रखकर पखारने लगी। पहले जल रेवा ही छोड़ रही थी, बाद में उससे घड़ा पिताजी ने ले लिया।

"बड़ी देर में बुद्धि आई, राधा।" माघी ने जैसे चुटकी काटी।

"कोई बात नहीं। देर में आई, पर आई तो सही।" जनसमूह से उभरती यह दूसरी आवाज थी।

"लगता है, स्वप्न में इसने पद-प्रक्षालन नहीं देखा होगा।" यज्ञदत्त ने ऐसी सुई चुभोई कि लोग ठहाका लगा बैठे।

मेरे माता-पिता दोनों की आकृतियों पर संकोच की लालिमा दौड़ गई।

पद-प्रक्षालन के बाद लोगों ने चरणामृत लिया। मेरे माता-पिता ने स्पष्टतः दाहिने हाथ से जल उठाकर उसे मुख में डाला। कुछ ने तो केवल उसे अपने ऊपर छिड़का। यज्ञदत्त ने उसे आँखों से लगाया। माँ ने मुझे अपने पास खींचकर बलात् मेरे मुँह में जल डाल दिया, जो मुझे अच्छा नहीं लगा। मेरे मन में जैसे कोई मुझसे कह रहा था, "कहाँ-कहाँ की मिट्टी और कहाँ-कहाँ की धूलि से धूसरित पग का प्रक्षालित जल, वह भी मुँह में! छिह!" मेरा रोआँ-रोआँ मानो गिनगिना उठा। पर मैं कुछ कर नहीं पाया। दो बार मुझे ऐसा जल घोंटना पड़ा। मैं जल्दी से माँ को छोड़कर पीछे की ओर भागा, जिससे फिर ऐसी स्थिति न आने पाए।

इसके बाद उनके साथ आए ब्रह्मचारियों का भी पद-प्रक्षालन किया गया; पर

किसीने भी उनका चरणामृत नहीं लिया। माँ ने ही उस जल को सबके ऊपर छिड़क दिया।

थोड़ी और इधर-उधर की बातें कर ऋषि चलने को हुए। ग्राम के बाहर कासार (पोखरी) तक पिताजी उन्हें लेकर आए। यहीं कदंब वृक्ष के नीचे रथ खड़ा था और उसके घोड़े पेड़ के तने से बँधे थे। पिताजी ने रथ से पहुँचा देने की इच्छा व्यक्त की। पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया और बड़ी वितृष्णा से बोले, "रथ पर वहाँ के आचार्यों को चलना चाहिए, अधिरथ, जहाँ के राजा का पैर कभी-कभी धरती पर भी पड़ता हो।" अभी कल रथ पर बैठकर ऋषि अपने आश्रम तक गए थे, पर इस समय वे पता नहीं क्यों नहीं गए।

स्पष्ट था कि ऋषि शासन से अधिक क्षुब्ध थे।

हम लोगों ने उन्हें बस्ती के बाहर गंगा तक ही पहुँचाया। सबने बारी-बारी से उनके चरण छुए और लौटने लगे। पिताजी के साथ कुछ लोग उन्हें आश्रम तक पहुँचाने गए।

मध्याह्न का सूर्य हमारे सिर पर चमकने लगा था। धूप कुछ तीखी लगने लगी। माघी के साथ कुछ थोड़ी सी महिलाएँ अब भी मेरी उपशाला में बैठी बातें कर रही थीं। पिताजी अभी तक हस्तिनापुर नहीं जा पाए थे। आश्रम से लौटते ही उन्होंने रथ में घोड़े बाँधे और चल पड़े। हड़बड़ी में न खाना खाया और न खाना लिया ही। माँ पछताती रह गई।

"अरे, इतनी भी जल्दी क्या पड़ी थी कि बिना खाए चले गए। उस अंधे को क्या मालूम कि दिन कितना चढ़ आया है!" माघी बोली। अंधे से उसका स्पष्ट तात्पर्य धृतराष्ट्र से था।

"अरे बहन, वहाँ की स्थिति हम लोगों की समझ के बाहर है। वहाँ अब बूढ़ों का नहीं, बल्कि लड़कों का राज है।"

"क्यों? पिता अंधा हुआ तो क्या, अभी तो पितामह जीवित हैं। उनके रहते लड़कों का राज?"

"हाँ, बहन, स्थिति कुछ ऐसी ही है। वे बता रहे थे कि धृतराष्ट्र बेचारे तो बड़े सज्जन हैं। देर जाओ या सबेर, वे कुछ नहीं बोलते। लड़के ही नाक पर सोपारी फोड़ते हैं।...दिन-दिन भर पिटा मारते हैं। कभी-कभी तो दो प्रहर रात्रि बीतने पर कहीं छोड़ते हैं। ऊपर से तुर्रा यह कि रथ से तो जाना है। कोई पैदल थोड़े ही जाते हो।" माँ बोली।

"वाह रे, यह भी कोई बात है! भले ही रथ से जाना हो। आधी रात को कोई

हिंस्र जीव आक्रमण कर बैठे तो क्या होगा?''

''हमारे जीवन में तो अँधेरा हो जाएगा।'' माँ का गला जैसे रुँध आया। इसी बीच अनूप अंबष्ठ कहाँ से लौट पड़ा। माँ ने गले में अटकी कोई चीज जैसे गले के नीचे उतारी और फिर एकदम शांत हो गई।

''तभी माला के पिता भी एक दिन बता रहे थे कि अब हस्तिनापुर के राजभवन में कोई बाहरी व्यक्ति बिना किसी अनुमति के जा नहीं सकता। आवश्यक सामान राजकर्मचारियों से ही मँगाया जाता है। पर वे तो बेटों से अधिक बेटों के मामा की चर्चा कर रहे थे।'' माघी ने कहा।

माँ ने कुछ विचित्र ढंग से सिर हिलाया। बोलना चाहकर भी वह कुछ नहीं बोली। उसने आँखें बचाकर अनूप अंबष्ठ की ओर संकेत किया। अब माघी को झटका सा लगा, जैसे वह सबकुछ समझ गई और बड़ी चतुराई से बातें एकदम बदलते हुए बोली, ''यदि हस्तिनापुर के राजकुमार आश्रम में नहीं जाना चाहते तो हम लोग क्या करें?''

माँ चुप थी।

''पर महर्षि को तो इसीका दुःख है।'' अनूप बोला, ''यदि कोई व्यक्ति अपने बच्चों को आश्रम में नहीं भेजना चाहता तो इसके लिए समाज क्या करे? रह गई राजभवन में जाकर शिक्षा देने की बात, तो यदि आपको नहीं जाना है तो मत जाइए। आपको कोई बलात् तो ले नहीं जा रहा है। यदि उनके पास स्वर्णमुद्राएँ रहेंगी तो एक नहीं, हजार आचार्य मिलेंगे।''

अंबष्ठ के इस कथन पर किसीने भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। ऐसा लगा जैसे सब सुनकर भी अनसुनी कर गए। अंबष्ठ ही बोलता रह गया, ''आज राजभवन को क्या पड़ी है कि देखने जाए कि आश्रम की शिक्षा कैसी चल रही है!''

''अरे भाई, इन सब पचड़ों में अपने राम को पड़ने से क्या लाभ? राजकुमार आश्रम में जाएँगे तब भी हम चाकर ही रहेंगे और न जाएँगे तब भी। हमें इससे क्या लेना-देना!'' बात समाप्त करने की इच्छा से ही माँ ने कहा।

इतना कहकर माँ उठी और भीतर चली गई, शायद इसलिए कि मेरे हटते ही लोग हट-बढ़ जाएँगे और अनूप भी चला जाएगा। किंतु वह टस से मस न हुआ। हस्तिनापुर की, फिर कौशिकाचार्य की और जाने कहाँ-कहाँ की बातें करता रहा। फिर जब माँ बहुत देर तक भीतर से नहीं निकली तो लोग हटने-बढ़ने लगे। अनूप भी चलता बना।

अंत में जब माँ आई तो दो-एक स्त्रियाँ ही वहाँ रह गई थीं। माँ ने उन्हीं औरतों के बीच माघी से एकदम सटकर धीरे से कहा, ''इस अनूप से सावधान रहना।''

''क्यों?''

''वह बता रहे थे कि हस्तिनापुर में एक गुप्तचर विभाग बना है। अनूप को उसीका सदस्य बनाया गया है।'' माँ बोली।

''अरे, लोलक का पुत्र यह अनूप! यह तो स्वयं बड़ा लंपट है। क्या करेगा उस विभाग में?'' माघी जैसे इस सूचना से चकित थी।

''लंपट होने से क्या हुआ? महामात्य के विरुद्ध जहाँ कहीं कोई बात होगी, उसकी सूचना वह राजभवन को देगा।'' माँ ने कहा।

माघी जैसे कुछ सोचने लगी। फिर बोली, ''यह सब भी लड़कों की ही करतूत है। उसका बड़ा लड़का दुर्योधन ही है न! कितने वर्षों का हुआ होगा वह? मेरा तो विचार है कि तुम्हारे राधेय से छोटा ही होगा।''

''हाँ, वह वसु से छोटा ही है।''

माघी बीच में ही टोकती हुई बोली, ''देख, अब इसे वसु मत कहना। जब आचार्य ने इसे राधेय नाम दे दिया है तब इसके अतिरिक्त अब इसका कोई दूसरा नाम नहीं।''

माँ हँस पड़ी, ''अरे, राधेय कहो या वसु, क्या अंतर पड़ता है?''

''तेरे लिए अंतर न हो, पर उसके लिए बड़ा अंतर है। निरंतर राधेय सुनते-सुनते उसके मन में यह बात बैठ जाएगी कि मैं राधा का ही पुत्र हूँ। आचार्य ने बड़ी योग्यता से उसके मन से कंटक निकालने की चेष्टा की है।''

''लेकिन देखो, आचार्य को कितनी सफलता मिलती है!'' माँ ने कहा।

''शत-प्रतिशत सफलता मिलेगी।'' बड़ा विश्वास था माघी के शब्दों में, ''अभी तो वह कच्ची मिट्टी का गीला घड़ा है, जैसी भी रेखाएँ उसके मन पर बनाना चाहो, आसानी से बन जाएँगी। इसीलिए आचार्य ने तरह-तरह की कहानी गढ़कर और उसके हर अंग की तुम्हारे अंगों से तुलना करके उसे राधेय कहा है। निश्चित है, इसका प्रभाव उसके मन पर पड़ेगा।''

''तुलना करके या भरी सभा में मेरी हँसी उड़ाकर!'' माँ हँसने लगी।

अचानक माघी की दृष्टि मेरी ओर मुड़ी। उसने देखा कि मैं उसकी बातें बड़े ध्यान से सुन रहा हूँ। तत्क्षण उसने माँ का ध्यान भी मेरी ओर खींचा और बोली, ''अब ये सब बातें सदा-सर्वदा के लिए बंद। यही समझो कि यह राधेय है और

राधेय रहेगा।''

फिर बातों का सिलसिला कैसे हस्तिनापुर की ओर खिसक गया, कह नहीं सकता। माँ ने बताया कि ''अभी वहाँ लड़कों का अस्तित्व ही क्या है। जैसा तुमने सुना है, बात वही सत्य है। आजकल वहाँ लड़कों के मामा शकुनि की चल रही है।''

''वही तो मैं सोचती थी कि लड़कों के मन में इतनी बातें कैसे आवेंगी! अच्छा तो राजसिंहासन यों ही अंधा था, अब राजा के मन पर भी पट्टी बाँध दी गई।'' कुछ सोचने के बाद माघी ने पुनः कहा, ''लगता है, गांधारी के संकेत पर ही यह सब हो रहा होगा।''

''भगवान् जाने!'' माँ इतना कहकर चुप रह गई।

''अच्छी बात है। एक दिन मैं स्वयं मत्स्य लेकर हस्तिनापुर जाऊँगी।'' माघी बोली और अभिवादन कर अपने घर की ओर चली गई।

□

इस घटना के दो ही दिनों बाद।

संध्या का अरुणिम रेशमी आँचल लगभग गंगा में डूब गया था। हवा शीत से कुछ बोझिल थी। माला के साथ कुछ बालकों को लेकर मैं खेलता हुआ आदित्य मंदिर की ओर जा रहा था। जैसा आप जानते हैं, मंदिर का द्वार गंगातट की ओर था और मेरा मार्ग था अरण्य की ओर से। मंदिर का पृष्ठ भाग ही उधर पड़ता था।

निकट आते ही हम लोगों को अत्यंत व्यग्र ध्वनि सुनाई पड़ी, ''अरे बचाओ, बचाओ! यह काल हमें चबा जाएगा। जल्दी बचाओ! प्राण गया।...''

आवाज पतली थी। स्पष्ट था कि किसी बच्चे या नारी का स्वर है। अपनी प्रकृति के अनुसार हड़बड़ाकर मैं दौड़ पड़ा। माला अपने स्वभाव के अनुसार मुझे रोकती रह गई, मानो वह बूढ़ी दादी हो और मैं दुधमुँहा बच्चा। हर परिस्थिति में मुझे नियंत्रित करने का उसका स्वभाव सा बन गया था। मेरी और उसकी प्रकृति में भी एक मौलिक अंतर था। उसका कहना था कि बिना सोचे-समझे व्यर्थ में विपत्ति मोल नहीं लेनी चाहिए—और मुझे हर विपत्ति से जूझने में एक विशेष प्रकार का आनंद आता था।

इस समय मेरे हाथों में कोई विशेष आयुध नहीं था, इसलिए वह और घबड़ाई। पर मैं जब दौड़ गया तब मेरे पीछे सारे लड़के दौड़े। माला इसी हड़बड़ी में गिर भी पड़ी; पर इस समय उधर ध्यान देनेवाला कोई नहीं था। वह स्वयं उठी और धूल झाड़ती हुई पीछे-पीछे दौड़ी।

मंदिर के सामने पहुँचकर हमने देखा कि विशाल अजगर यज्ञदत्त के बड़े पुत्र महेश को जकड़े, मुँह बाए उसे अपना ग्रास बनाने के लिए तत्पर है। वह दोनों हाथों से बड़े साहस के साथ उसकी गरदन पकड़े हुए चिल्ला रहा है।

मैंने पहुँचते ही उसके मुँह को धर दबाया और पूरी शक्ति से काफी देर तक दबाए रखा। पहले तो उसने महेश को और जोर से जकड़ लिया, जिससे उसका सारा शरीर जैसे टूटने लगा। वह जोर से चिल्लाया, "अरे बाप रे! जान गई।"

इतना सुनना था कि मैंने और शक्ति लगाई, क्योंकि मैं अब उसे छोड़ नहीं सकता था। मेरे भी जीवन-मरण का प्रश्न था। भय की चरम सीमा पर व्यक्ति अत्यधिक निर्भय हो जाता है। मेरे और जोर लगाते ही उसका मुख पिस गया और 'भल्ल' से रक्त की धार निकल पड़ी। एक निर्झरिणी सी फूटी, जो मेरे 'अँगरखे' के सामनेवाले हिस्से को बेतरह भिगो गई। अब उसकी जकड़ ढीली पड़ी और महेश उससे छूट निकलने में समर्थ हो गया।

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि अजगर की पकड़ से निकलते ही महेश सरपट भाग चला। ऐसा कृतघ्न और स्वार्थी व्यक्ति तो मैंने कभी देखा ही नहीं। अब भी अजगर का गुख मेरे हाथों के नीचे दबा था, फिर भी उसके प्राण शेष थे। महेश के छूटते ही उसने अपनी जकड़ में मुझे लेना चाहा। मैंने उसकी दुम को दक्षिण पग से दबाया। मेरे साथ के लड़के बिलकुल अवाक्, किंकर्तव्यविमूढ़ हो मेरा और उसका मल्लयुद्ध देखते रह गए। अब मैं चिल्लाया, "क्या देखते हो? उस पत्थर को उठाकर इसके शरीर पर दे मारो।"

उनकी चेतना को जैसे किसीने झकझोरा। उनमें से कई ने मंदिर के नीचे पड़े पत्थर को उठाकर उसपर दे मारा। उसके शरीर का एक-तिहाई हिस्सा चिथड़े-चिथड़े हो गया। अब वह लगभग मृतप्राय था। मैं भी उसे छोड़कर पीछे हट गया और फिर उसके मुख की ओर का हिस्सा बड़े-बड़े पत्थर मारकर कुचल दिया गया।

जीवन और मृत्यु के इस संघर्ष में मैं बेतरह थक गया था। मेरा अंग-अंग शिथिल हो गया था। कोई दूसरी स्थिति होती तो इतनी थकावट पर मैं वहीं बैठ या लेट गया होता, किंतु कुछ क्षणों तक एक विजयी योद्धा की भाँति मेरा स्वाभिमान क्रुद्ध साँड़-सा फुफकारता वहीं खड़ा था।

थोड़ी देर बाद हाँफते हुए मेरे मुख से बोली निकली, "देखा उस नीच को! अजगर के चंगुल से छूटते ही निकल भागा। यह भी नहीं सोचा कि इन लोगों पर क्या बीतेगी!"

"अरे, वह बड़ा दुष्ट है! नीच और हठी भी! पता नहीं वह किस अभिमान में डूबा रहता है कि लोगों से बोलता ही नहीं। एक दिन इसी प्रांगण में बैठकर वह मूत्र-त्याग कर रहा था। मैंने मना किया तो मुझसे लड़ गया। बोला, 'यह प्रांगण तेरे बाप का है क्या!' " यह आवाज मद्दी की है। मद्दी गाँव के मैरेयक का पुत्र है।

"तुमने कहा नहीं कि क्या यह तेरे बाप का प्रांगण है!" मैं आक्रोश में कहता गया, "तब तुमने उस कृतघ्न को दे क्यों नहीं मारा! तू तो उससे निर्बल नहीं है।" इतना बोलते-बोलते मैं वहीं पड़े एक पत्थर पर बैठ गया। मेरी शिथिलता अब और अधिक बढ़ रही थी, क्योंकि विजय के उन्माद की तेजी फीकी पड़ती जा रही थी।

मद्दी चुप था।

"तेरे सामने ही वह मूत्र-त्याग कर रहा था?" मुझे जैसे विश्वास ही न हुआ हो।

"हाँ, भाई, मैं झूठ थोड़े ही बोल रहा हूँ।"

"तब पटककर उस धृष्ट को चार हाथ जमाए क्यों नहीं?"

"मैं तो मारता, पर कुछ सोचकर रह गया।"

"इसमें सोचने की क्या बात थी?"

"पिताजी की एक बात याद आ गई।"

"क्या?"

"ब्राह्मण के बेटे को कभी मारना नहीं चाहिए।"

"चाहे वह कितना भी अपराध करे! ब्राह्मण का बेटा होने से क्या हुआ, उसे अनीति करने का जन्मसिद्ध अधिकार मिल गया!" मुझ जैसे बालक की तर्क-बुद्धि ने अँगड़ाई ली। "मुझे क्यों नहीं बताया?" मैंने पुनः पूछा।

अब तक चुप माला एकदम भभक पड़ी, "तुझसे कोई बताए क्या? तू किसीकी सुनता भी तो नहीं है। क्या जरूरत थी इस समय यह खतरा मोल लेने की?"

"क्यों? मैंने तो अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। वह लगभग मृत्यु के कंठ में चला गया था और बचाव के लिए याचना कर रहा था। उसे बचाना मेरा कर्तव्य था।"

"स्वयं को काल के गाल में डालकर?"

"हाँ-हाँ, अपने को मृत्यु के मुख में डालकर। यही वीरों का धर्म है।" यह कहते-कहते उत्साह में मैं उठकर खड़ा हो गया।

तब तक हम लोगों ने देखा कि पूर्व की ओर से माँ और यज्ञदत्त दौड़े चले आ

रहे हैं। निकट आते ही माँ की दृष्टि अजगर के रक्त से लथपथ मेरे अँगरखे पर पड़ी। वह एकदम घबरा गई।

मैंने उसे समझाया, ''माँ, घबरा नहीं। मुझे कहीं चोट नहीं लगी है।''

माँ मंदिर की ओर मुँह करके बोली, ''भगवान्, भला करे उस महेश का, जिसने मेरे पुत्र को आज बचाया।''

''क्या? महेश ने मुझे बचाया?'' इतना सुनना था कि मेरे तन के रक्त का तापमान क्वथनांक पर पहुँच गया। अन्य लड़के भी आश्चर्य से चकित थे।

''क्या कहा तुमने, महेश ने मुझे बचाया?'' मैं नाग जैसा फुफकारते हुए बोला।

''मैं नहीं, बेटे···यह सूचना तो पंडितजी ने ही मुझे दी। वे बेचारे स्वयं दौड़कर मेरे यहाँ आए और बताया कि राधेय को अजगर ने जकड़ लिया था। महेश ने बड़े शौर्य के साथ उसे छुड़ा दिया। चलकर देखा जाए, क्या हालत है उसकी।''

''वह नीच हमें क्या छुड़ाएगा! अजगर तो उसीको जकड़े हुए था। वह स्वयं 'बचाओ-बचाओ' चिल्ला रहा था। यह तो कहो कि मैं क्षण भर में लपककर आ गया, नहीं तो वह दुष्ट अब तक नरक की हवा खाता।'' मैं मारे क्रोध में अग्निशिखा की भाँति कंपित और लाल हो गया था।

अब यज्ञदत्त से रहा नहीं गया। उसने कहा, ''हो सकता है, उसीको अजगर ने जकड़ लिया हो; पर तुम उसे इतनी गालियाँ क्यों दे रहे हो?''

''हो सकता है नहीं, यही हुआ है। वह नीच है, दुष्ट है, वंचक है, झूठा और लंपट है!'' मैं बिलकुल आपे से बाहर था और जितनी गालियाँ हो सकती थीं, मुँह से निकालता जा रहा था।

''ना-ना, ऐसा नहीं कहते, बेटा।'' मुझे रोकती हुई माँ ने बाएँ हाथ से मुझे पकड़ा और दाहिने हाथ से मेरा मुँह बंद करने लगी। पर मैं माननेवाला कहाँ था। मेरे क्रोध ने विवेक का बंधन कभी स्वीकार नहीं किया है।

मैंने स्पष्ट देखा कि यज्ञदत्त की मुद्रा में विकार आ गया है। बिना कुछ कहे वह चुपचाप लौट पड़ा। फिर भी मैं बोलता जा रहा था, ''पूछती क्यों नहीं इन लोगों से, यदि मेरी बातों का विश्वास न हो तो।''

अब सबके सब जो कुछ हुआ था, उसका वर्णन अपने-अपने ढंग से करने लगे, जिसपर भी माँ हम दोनों की सुरक्षा के लिए भगवान् को अनेक धन्यवाद देने लगी। अब भी मुझसे रहा नहीं गया, मैं अपनी माँ पर ही बिगड़ पड़ा, ''तू भी

कितनी विचित्र है! मेरे साथ ही उस कृतघ्न की सुरक्षा भी भगवान् से मना रही है।"

"बेटे, इतनी गालियाँ मुँह से नहीं निकालते।" माँ ने फिर मुझे समझाया।

"मैं निकालूँगा, निकालूँगा! जो दुष्ट है उसे दुष्ट कहूँगा। कोई मेरा क्या कर लेगा?"

"तू जानता नहीं, बेटे, ब्राह्मण को गालियाँ देना ब्रह्म हत्या के बराबर है।"

"तब तो मैं उस नीच को मार ही डालूँगा!"

"अरे बाप रे बाप! यह तू क्या कह रहा है?" अब तक तो मेरी माँ मेरे रक्तरंजित वस्त्र के कारण मुझे अपने से दूर ही रख रही थी, किंतु हत्या करने की बात सुनकर उसने तत्क्षण मुझे अपने से चिपका लिया और बड़े प्यार से मेरा क्रोध शांत करने की चेष्टा करने लगी। किंतु क्रोध से बरसाती नदी में अवरोध जितना उत्पन्न किया जाता है उसमें तूफान और अधिक आता है।

माँ कुछ समय तक मुझे दबाए हुए चुपचाप खड़ी रही। मेरा क्रोध धीरे-धीरे ज्वार के समुद्र की भाँति शांत होने लगा। जब माँ ने मुझे छोड़ा, संध्या नीली पड़ चुकी थी।

वह स्वयं अजगर के तन के टुकड़े उठा-उठाकर गंगा की धारा में फेंकने लगी। पहले तो मैं चुपचाप कुछ सोचता खड़ा रहा, फिर मैंने भी उस कार्य में उसका हाथ बँटाया और लड़के भी उसमें लगने लगे। माँ ने सबको रोक दिया और बोली, "तुम लोग अपने हाथ गंदे मत करो। रात हो चली है। चुपचाप अपने-अपने घर चले जाओ।"

कुछ घर चलने को हुए, कुछ अभी भी खड़े थे। माँ का स्वर थोड़ा तीखा हुआ, "कहती हूँ न कि घर चले जाओ।" अब लड़के घर की ओर लौट पड़े। माँ ने पुनः उन्हें सावधान किया, "देखो, सीधे अपने-अपने घर ही जाना। और हाँ, मार्ग में यदि कोई जीव दिखाई पड़े तो उसे छेड़ना मत।"

एक के बाद एक धीरे-धीरे सब चले गए। माला अब भी मौन खड़ी रही। उसने हम लोगों के काम में हाथ बँटाया भी। जब माँ ने अजगर पर पटके गए सबसे बड़े पत्थर को हटाया तो उसके नीचे भुरता हुए उसके तन को देखकर वह गनगना सी गई।

मेरे मन में अचानक विचार आया। मैंने कहा, "रुको।" और आदित्य मंदिर में प्रविष्ट होने को हुआ।

माँ ने मुझे एकदम रोक दिया, "अब कहीं जाना नहीं है। तू शांत यहीं खड़ा रह।"

"मंदिर में एक टूटा हुआ मृणपात्र है। उसीसे खरोंचकर इसे फेंक देना चाहिए।"

"तब तू रुक, मैं उसे ले आती हूँ।"

"तुझे मिलेगा नहीं, भीतर अँधेरा है।"

"तू क्या अँधेरे में देख लेगा? उल्लू कहीं का!" हाथों से तो मार नहीं सकती थी, माँ ने प्यार से ठेहुनी से मुझे ठुनका दिया।

वह मुझे रोकती रह गई, पर मैं अपने स्वभाव के अनुसार भीतर लपक गया और तुरंत टूटा हुआ घट उठा लाया।

हाय-हाय करती हुई माँ बोली, "यदि कोई जीव और मिल जाता तो लेने के देने पड़ जाते।"

पर भय नाम की कोई भी वस्तु मेरे व्यक्तित्व के निर्माण में बिलकुल नहीं थी। मैं क्षण भर में टूटे हुए घट के एक भाग से भूमि खरोंच-खरोंचकर साफ करने लगा और उसका निचला भाग, जिसमें पानी भरा जा सकता था, माला को देते हुए गंगा से जल लाने को कहा।

माँ ने उसे रोक दिया और कहा, "तू रहने दे, बेटी, मैं ले आती हूँ। अँधेरे में कहीं पैर फिसल गया तो दूसरी विपत्ति खड़ी हो जाएगी।"

इतना कहकर माँ स्वयं जल लेने नीचे गई। तब तक हम लोगों ने अजगर के तन का एक-एक कण, जहाँ तक संभव था, उठाकर फेंक दिया। और अंत में बड़ी मस्ती में एक-दो-तीन कहता हुआ मिट्टी का वह टुकड़ा भी बड़ी तेजी से चक्र की तरह घुमाता हुआ पानी में फेंका। संयोग कुछ ऐसा कि चक्कर खाता हुआ वह टुकड़ा वहीं आकर गिरा जहाँ माँ पहले से ही पानी भर रही थी। उसके गिरने की 'झप' की आवाज के साथ ही माँ नीचे से चीखी, "दुष्ट कहीं का! तुझे तेरी नीचता कभी छोड़ नहीं सकती।"

मैं माला की ओर देखकर झेंप भरी दृष्टि से मुसकराया। उस बढ़ते हुए अँधेरे में भी मैंने अनुभव किया कि माला के चेहरे पर मेरे प्रति एक विचित्र भाव उभरा।

शीघ्र ही मंदिर की वेदिका धो-धाकर साफ कर दी गई। इसके बाद ही माँ हम दोनों को गंगाधारा के निकट ले गई और बोली, "हम लोगों ने अजगर की अंत्येष्टि की है, हमें इसी समय गंगास्नान कर डालना चाहिए।" इतना कहते हुए वह एकदम पानी में उतर गई।

पर मैं स्नान करने के पक्ष में नहीं था। मुझे कुछ ठंडक लग रही थी।

"अंत्येष्टि के बाद क्या गंगास्नान आवश्यक है?" मेरी ध्वनि में जिज्ञासा से

अधिक विरोध था।

"शास्त्र वचन का कभी विरोध नहीं करना चाहिए। तू तो हर बात पर विवाद करने के लिए तैयार रहता है।" शीत से काँपती हुई माँ ने मुझे डाँटा और आदेशात्मक स्वर में बोली, "तुझे तो स्नान ही नहीं करना है वरन् सारे कपड़े भी धोने हैं तू हत्यारा जो ठहरा।"

"मैं हत्यारा!" बात मेरी समझ की सीमा से बाहर थी।

"क्यों? तुमने जीव हत्या नहीं की? कौन जाने वह कोई शापित जीव रहा हो!"

तब तक मैंने देखा, माँ ने दो डुबकियाँ 'शिव-शिव' कहते हुए और लगाईं और फिर आकंठ जल में बैठकर उसने अपने सारे कपड़े उतार डाले। उन्हें पानी में अच्छी तरह हिलोरा। फिर पानी में बैठी-बैठी ही उन्हें निचोड़ने लगी। जब सभी वस्त्र अच्छी तरह निचोड़ लिये तब उसने चारों तरफ दृष्टि दौड़ाई, कहीं कोई है तो नहीं। फिर बैठी-बैठी ही बरसाती मेढक की तरह जल में से सूखे की ओर सरकने लगी।

अभी पूर्णरूप से वह पानी के बाहर आई न थी कि उसने फिर एक बार चारों ओर देखा और विद्युत् की गति से उठकर खड़ी हो गई और झट से वे गीले कपड़े लपेट लिये। पूरब के आकाश से झाँकता त्रयोदशी का चंद्रमा इस विवशता भरी गतिशीलता पर मुसकरा रहा था।

मेरी कुतूहल भरी दृष्टि एकटक उसपर लगी रही, क्योंकि मैंने कभी अपनी माँ को बिलकुल नग्न नहीं देखा था। इस समय वह मुझे कैसी लग रही थी, कह नहीं सकता।

पानी से निकलते ही माँ सीधे मेरे पास आई और बोली, "कहा था न कि कपड़े उतारकर धो डाल। पर बाबा भोलेनाथ की तरह खड़ा-का-खड़ा रह गया।"

मैं क्या कहूँ कि क्यों खड़ा-का-खड़ा रह गया।

फिर मेरे कपड़े उसने उतारने आरंभ किए। मैं माला की उपस्थिति में नग्न होना नहीं चाहता था। मैंने सलज्ज दृष्टि से उसे देखा भी। वह भी मुसकरा रही थी।

पर मेरी माँ ने क्षण भर में मेरे सारे वस्त्र उतार दिए। मैंने मंडूक शिशु की तरह एक छलाँग लगाई और जाकर पानी में माँ की तरह बैठ गया।

जब माँ ने मेरे कपड़े अच्छी तरह धो डाले तब उसने मुझे पानी में से निकाला। मैं माँ की जाँघ की आड़ में आ गया, जिससे माला मुझे देख न सके। माँ का ध्यान इस ओर नहीं था। वह जल्दी-जल्दी मुझे पोंछती चली जा रही थी। मैंने

दृष्टि बचाकर माला की ओर देखा। वह एकटक मुझे निहार रही थी।

इसके बाद ही उसने माला से कहा, ''देख, तू अपने कपड़े गीले मत कर। उसपर तो रक्त आदि पड़ा भी नहीं है। जल्दी से कपड़े उतारकर पानी में घुस जा।''

वह माँ को कभी जवाब नहीं देती थी। इस समय भी वह चुप ही थी। मुसकराती हुई मुझे देख रही थी। मैं ठंड से काँपता उसे देख रहा था।

माँ सबकुछ समझ गई। उसने माला से कहा कि चल, आड़ कर देती हूँ और मुझसे बोली, ''इधर मत देख, मंदिर की ओर मुँह करके खड़ा हो जा।''

मैं छुईमुई-सा लजा गया। मैंने मंदिर की ओर दृष्टि भी घुमा ली; पर मेरे मन में एक बात कई बार उठी कि मैं माँ से कहूँ कि तू मुझसे ही ऐसा क्यों कहती है, जब मैं नहा रहा था तब तुमने माला से भी निगाह फेरने के लिए क्यों नहीं कहा था?

किंतु मुँह फेरकर मैं चुपचाप खड़ा-का-खड़ा रह गया।

यहाँ से मंदिर की वेदिका दूर तो नहीं, पर काफी ऊँची थी। अचानक एक श्वेत धब्बे जैसी कोई हिलती-डुलती स्पष्ट आकृति दिखाई दी। अनुमान की रेखाओं ने मेरे मानस पर माघी की आकृति बना दी।

इसी बीच छप सी आवाज हुई। स्पष्ट था कि माला पानी में चली गई। मैंने चोरी से दृष्टि उधर घुमाई। माँ ने आड़ कर लिया था, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। असफल हो मेरे नेत्र उधर से लौटे। अब चाँदनी में माघी स्पष्ट दिखाई दी।

''जल्दी करो, मुझे ठंडक लग रही है!'' मैं चिल्लाया।

''बस, बस अब हो गया।'' माँ बोली।

मेरी सहज वासना ने मेरी दृष्टि को एक बार फिर घुमाया। वह माँ की आड़ में ऐसी छिप गई थी कि बिलकुल दिखाई नहीं दे रही थी। उधर उसका कुतूहल भी जोर मार रहा था। शायद यह देखने के लिए कि मैं उसे देख रहा हूँ या नहीं, उसने मुझे देखा। चंद्रमा उसके पृष्ठभाग पर था, फिर भी हलकी नीली आभा में कमर के ऊपर का भाग दिखाई दे गया। दो कमलों के बीच की नीली घाटियों से टकराकर मेरी सलज्ज दृष्टि मुझमें ही आकर मचल उठी।

मैंने फिर ऊपर की ओर देखा। अब माँ भी वहाँ नहीं थी। इधर से माला कपड़े पहने निकली और उधर से माघी आई।

''अरे, राधेय तो काँप रहा है।'' वह बोली।

''क्या करूँ, बहन?''

माँ पूरी कहानी सुनाए, इसके पहले ही माघी ने कहा, ''मुझे सब मालूम हो

गया है। मद्दी मेरे यहाँ आया था। उसने सारी कथा विस्तार से कह सुनाई है। तभी तो आई हूँ।...महेश है बड़ा दुष्ट! सारे गाँव की नाक में दम कर दिया है।''

''पर किया क्या जाय?'' माँ बोली।

माघी ने पुन: मेरी ओर देखा और बोली, ''राधेय इस समय बेतरह काँप रहा है। तू इसे लेकर चल। कल आऊँगी तो बातें होंगी।'' वह माला को ले एक दूसरे ही रास्ते अपने घर की ओर बढ़ी।

''वत्स, ठंड लग रही हो तो थोड़ा दौड़ ले।'' माँ बोली।

इतना सुनना था कि मैं सरपट भागा और माँ को काफी पीछे छोड़ आगे निकल आया।

माँ चिल्लाई, ''अरे, इतना तेज नहीं, वत्स! क्या तू मुझे अकेला छोड़ देगा?''

मैं दौड़कर फिर माँ के पास आया।

''इतनी तेज दौड़ो कि शरीर में उष्णता बनी रहे और मैं भी तेरे साथ दौड़ सकूँ।''

अब मैं धीरे-धीरे दौड़ने लगा। माँ भी मेरे साथ दौड़ रही थी। निरभ्र आकाश में निशिपति हम दोनों की दौड़ पर निश्चित ही खिलखिला रहे थे।

कुछ दूर आगे चलने पर मैंने माँ से पूछा, ''यह शापित जीव क्या होता है?'' मेरे मन की बड़ी विचित्र स्थिति थी। वह एक श्वेत पत्र जैसा था, जिसपर प्रकृति ने मात्र तीन ही शब्द चिपकाए थे, 'क्यों', 'क्या' और 'कैसे'। मेरी बाल-सुलभ जिज्ञासा केवल इन तीन का ही उत्तर लिखती थी और मेरे व्यक्तित्व का निर्माण करती चलती थी।

इस समय भी इन तीन में से एक उभर आया। माँ ने दौड़ते हुए ही बताया, ''कभी-कभी किसी पाप के कारण जीव को दंड भोगने के लिए किसी योनि में जन्म लेकर इस संसार में आना पड़ता है। ऐसे जीव को शापित जीव कहते हैं।''

''क्या जीव दंड भोगने के लिए ही संसार में आता है?''

''हाँ, इसीलिए यह संसार बना है।''

''तब तो ऐसे जीव को बंधन से मुक्ति दिलाना एक अच्छा काम है।''

''निश्चित ही।'' माँ बड़े विश्वास के साथ बोली।

''तब मैं एक जीव को और बंधन से मुक्ति दिलाऊँगा। लगता है, वह अपने पापों का दंड भोगने ही इस संसार में आया है।'' मैंने कहा।

''किसको?'' माँ ने पूछा।

''महेश को।'' मेरा छोटा सा उत्तर था।

'महेश' शब्द सुनते ही माँ जैसे घबरा गई। "अरे नहीं, नहीं। शापित जीव कभी मनुष्य योनि में नहीं आता। मनुष्य योनि तो बड़े भाग्य से मिलती है। फिर महेश···वह तो ब्राह्मण के कुल में जनमा है। राम-राम!···उससे अब बोलना भी मत।" निश्चित रूप से माँ बहुत घबरा गई थी। उसी घबराहट में माँ ने मानव योनि और ब्राह्मण जाति की सराहना में बहुत सारी बातें कह डाली थीं। उनमें से बहुत सी तो मुझे याद ही नहीं हैं और उस समय बहुत कुछ तो मैं समझ ही नहीं पाया था।

मेरी हठी प्रकृति के कारण माँ का घबराना स्वाभाविक भी था। मैंने अनुभव किया, उसके गीले तन पर भी घबराहट का पसीना निकल आया था, क्योंकि मैंने देखा कि उसने दो बार अपना मस्तक पोंछा।

अब सोचता हूँ तो हँसी आती है। इतनी मामूली सी बात पर इतनी हँसी क्यों? कितनी सरल और कितनी अच्छी थी मेरी माँ!

□

तीन

बात समाप्त नहीं हुई और मैंने अध्याय समाप्त कर दिया। अधूरा चित्र ही चौखटे में जड़ दिया गया। दूसरे दिन सवेरे से ही ग्राम में कुहराम सा मच गया। हर व्यक्ति सत्य से परिचित था। उसके लिए किसी प्रचार की आवश्यकता नहीं पड़ी। सत्य स्वयंभू है, जबकि झूठ मनुष्य के विवेक से पैदा हुआ है। सोचता हूँ, यदि धरती पर मानवीय विवेक न होता तो संसार में बहुत सारी अच्छी-बुरी वस्तुएँ होतीं, पर झूठ तो निश्चित ही न होता।

तब मैं होता, महेश बिलकुल न होता। पर आज अपने ग्राम में हम दोनों हैं।

प्रात: से ही हमारे द्वार पर बधाई देनेवालों का क्रम जारी था। एक घड़ी दिन निकलते-निकलते मेरी उपशाला करीब-करीब भर सी गई थी। कार्तिक को लगभग विदा देती हलके रेशमी पीतांबर जैसी स्निग्ध धूप पूर्व की ओर सर्वदा उन्मुक्त इस उपशाला को ढक चुकी थी। लोग उसका आनंद लेते बड़े प्रसन्न थे।

कोई मेरा कपोल थपथपाता, कोई मेरी पीठ ठोंकता, कोई मुझे अधिक उत्साहित करने के लिए गोद में उठाने की चेष्टा करता। केवल एक व्यक्ति ऐसा था जिसने मुझे देवपुत्र समझकर मेरे चरण छुए। यह था मद्दी का पिता मैरेयक।

सबसे अधिक प्रसन्नता मेरे पिता अधिरथ को थी। वह परम विह्वल थे। विह्वलता के उस वातावरण में हमने अनुभव किया कि उस दिन संध्या तक ग्राम के प्रत्येक घर का कोई-न-कोई मुझे आशीर्वाद और मेरे माता-पिता को बधाई देने अवश्य आया। किंतु यज्ञदत्त दिखाई नहीं दिया। और न उसके परिवार का ही कोई दिखाई पड़ा। हाँ, दो-एक बार मैंने महेश को गंगा के कछार के वटवृक्ष के निकट खड़ा अवश्य देखा था। वह वहीं से हमारी उपशाला पर चोर दृष्टि डालकर चला जाता था। इससे स्पष्ट था कि ग्राम प्रमुख हम लोगों से प्रसन्न नहीं हैं। किंतु उस समय इस संदर्भ में किसीके मन में कोई बात नहीं आई और न मैंने ही कुछ सोचा।

मेरे साहस और पौरुष, अजगर की भयंकरता और महेश की नीचता के त्रिभुज के भीतर ही लोगों की बातों का केंद्रबिंदु एक स्थान से दूसरे स्थान पर खिसकता रहा। इन बातों के क्रम में मैरेयक ने एक विशेष जानकारी दी।

उसने बताया कि वह अजगर बड़ा पुराना था। बहुत दिनों से वह आदित्य मंदिर के पास ही रहता था। उसके पिता ने उसे बताया था कि वह आसपास के जंगल का नहीं है, बल्कि आज से लगभग सत्तर वर्ष पहले एक कापालिक साधु उसे आदित्य मंदिर के पास छोड़ गया था।

उसी अजगर का बाल रूप उस कापालिक के कंठ में लिपटा था। मंदिर पर आकर वह कुछ दिनों तक रहा, फिर चुपचाप एक रात वह अदृश्य हो गया।

"किसीसे उसने कुछ कहा-सुना भी नहीं?" माँ ने विस्मय से पूछा।

"हाँ, कुछ ऐसी ही विचित्र बात हुई थी। फिर उस साधु को किसीने कहीं नहीं देखा।...दूसरे दिन जब लोग मंदिर पर गए तो वहाँ केवल अजगर को पड़ा पाया। तब लोगों ने उसे उठाकर वट के कोटर में डाल दिया। अनेक वर्षों तक वह उसीमें पड़ा रहा। बड़ा होने पर वह बाहर निकलकर चरने लगा। तब से कभी कोटर में और कभी मंदिर की वेदिका के नीचे पड़ा रहता था।"

"पर था बड़ा भयंकर!" मद्दी बोला।

"भयंकर! बाप रे बाप! मैंने दो-दो शशकों को एक साथ निगलते उसे देखा है। एक बार एक वृषभ के गले में ऐसा लिपट गया कि बेचारे ने छटपटाकर दम तोड़ दिया।" अनूप का छोटा भाई महीप आश्चर्यपूर्ण मुद्रा में कहता गया, "कांतार का कोई पशु उसके भय से आदित्य मंदिर की ओर दिखाई नहीं देता था।"

"इसीलिए तो वह मंदिर उजाड़ पड़ा है। गाँव के लोग भी उधर बहुत कम जाते हैं।" मद्दी बोला।

"पर मेरा राधेय तो नित्य ही वहाँ चला जाता है। जहाँ घर से छूटा कि मंदिर पर उपस्थित, मानो उसकी नार वहाँ गड़ी हो।"

महीप हँस पड़ा। उसी हँसी के बीच वह बोला, "भला तुम्हें इसका तो पता चल गया कि राधेय की नार कहाँ गड़ी है! इसी तरह खोजती रही तो कदाचित् इसका भी पता चल जाए कि उस नार को गाड़नेवाली नारी कौन है!" महीप की हँसी सबके अधरों को छूती हुई निकल गई। किंतु इस व्यंग्य के केंद्र तक पहुँचने की शक्ति मेरे विवेक में नहीं थी। मैं सोचता रह गया कि लोग हँसे क्यों?

माँ ने मेरी ओर देखा और अपनी मुसकराहट चूसते हुए बोली, "तू क्या खड़ा होकर यहाँ सुन रहा है! आज तुझे खेलने नहीं जाना है?"

स्पष्ट था कि माँ मुझे वहाँ से हटाना चाहती थी और मैं फुदकता हुआ अरण्य की ओर चल पड़ा। ईशान कोण में खंजन का समूह दिखाई दिया। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने भूमि से एक मिट्टी का ढेला उठाया और लक्ष्य करके एक खंजन पक्षी को मारा; किंतु ढेला पहुँचने के पहले ही वे फुर्र से उड़ गए।

पीछे से माला चिल्लाई, ''अरे, यह क्या कर रहे हो? खंजन शुभ पक्षी है। उसका दर्शन मंगलदायक है। उसे कभी लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए।''

मैंने पीछे मुड़कर देखा। माला मुसकरा रही थी। बड़ी विचित्र थी उसकी मुसकराहट। वह आज तक मेरे मन पर लिखी है।

''प्रवाह में बहते जीव को लक्ष्य न बनाऊँ, खंजन को लक्ष्य न बनाऊँ, तो आखिर किसको लक्ष्य बनाऊँ?'' मेरे स्वर में आत्मीयता भरी झुँझलाहट थी।

वह मुसकराते हुए मेरे निकट आई और बोली, ''विषधर नाग को, अजगर को, हिंस्र पशुओं को।''

''तू तो उनपर भी आक्रमण करने से रोकती है।''

''केवल इसलिए कि वे कहीं तुमपर आक्रमण न कर दें।'' इतना कहते-कहते वह हँसते हुए मुझसे लिपट गई।

कुछ देर बाद मैं बोला, ''एक बात पूछूँ?''

''क्या?''

''तू उस समय एकटक क्यों देख रही थी?''

''किस समय?''

''अजगर की हत्या के बाद माँ जिस समय तुझे गंगा में स्नान करा रही थी।''

''तुम भी तो मुझे देख रहे थे।''

''मैं कहाँ देख रहा था! मुझे तो माँ ने मंदिर की ओर मुँह करके खड़ा कर दिया था।''

''झूठा कहीं का! तू बराबर मुझे देख रहा था।''

''तूने कैसे जाना?''

''मैंने तुझे देखा था।''

मुझे हँसी आ गई। मैं हँसते हुए बोला, ''मैं तुझे देख रहा था, तू मुझे देख रही थी। अंतर बस इतना था कि मैं बड़ी ईमानदारी से देख रहा था और तू चोरों की तरह छिपकर निहार रही थी।''

''तू चोर की तरह देख रहा था।''

''नहीं, तू चोर!''

"तू चोर!"

'तू चोर, तू चोर' की आवृत्ति क्षिप्र गति से होने लगी। तब तक मद्दी के साथ और लड़कों की भीड़ आ गई। मद्दी चिल्लाया, "राधेय भैया, मैं भी चोर-चोर खेलूँगा।"

माला के साथ ही मैं जोर से हँस पड़ा। मुझे विश्वास है, आज तक मद्दी न समझ पाया होगा कि हम उस समय क्यों हँसे थे। कुछ देर तक चोर-चोर खेलने के बाद ही अँधेरा हो गया। हम लोग अपने घरों की ओर लौटे।

मेरी उपशाला में अब भी कुछ लोग बैठे बातें कर रहे थे। उन्हींसे मालूम हुआ कि वह अजगर जानवरों के अतिरिक्त अब तक जनपद के सत्रह लोगों को मृत्यु के घाट उतार चुका है। महेश उसका अठारहवाँ शिकार था। किंतु माँ को आश्चर्य था कि राधेय को उसने कभी नहीं छेड़ा। बातों के इसी क्रम में माँ ने यह भी बताया कि नवजात राधेय की मंजूषा बहकर उसी आदित्य मंदिर के पास लगी थी। तब देखा गया कि यही अजगर चुपचाप उसके निकट बैठा था, मानो उसकी रखवाली कर रहा हो।

"अवश्य ही पूर्वजन्म का कोई संबंध रहा होगा राधेय से।" माघी बोली।

"तभी तो वह बेचारा मारा भी उसीके हाथों गया।" महीप ने कहा और स्वयं एक प्रभावहीन हँसी हँसने लगा। उसके कहने का इतना प्रभाव तो पड़ा ही कि लोग लगभग यह समझने लगे कि उस अजगर का राधेय से कोई संस्कारगत संबंध अवश्य था। इतना भयानक और हिंस्र होते हुए भी किसीने उसे मारने का प्रयत्न नहीं किया। उसकी अंत्येष्टि भी हुई तो मेरे ही हाथों।

वहीं बैठे-बैठे लोगों ने एक कार्यक्रम बनाया।

तुला की संक्रांति के दूसरे रविवार को उस जनपद में सूर्यपूजा होती थी। सूर्योदय के पूर्व ही लोग गंगा के किनारे एकत्र होते थे और उदित होते ही भगवान् भास्कर को अर्घ्य देते थे। दिन भर व्रत रखते थे। संध्या को अस्ताचलगामी सूर्य को भी जल चढ़ाया जाता था। लोगों ने निश्चय किया कि उस दिन आदित्य मंदिर का शृंगार किया जाए और वहीं विराट् यज्ञ तथा पूजन हो। यज्ञ का प्रधान 'होता' राधेय को ही बनाया जाए। महीप के इस प्रस्ताव का लोगों ने सहर्ष समर्थन किया।

"पर एक बात है।" इतना कहकर साची कुछ सोचते हुए चुप हो गया।

"क्या?" महीप बोला।

"अच्छा, फिर देखा जाएगा।" वह कुछ कहना चाहकर भी कह नहीं पाया।

मेरे जीवन का यह अविस्मरणीय दिवस है। मुझे ब्राह्म मुहूर्त में ही जगा दिया

गया। पूरे तन में तेल मर्दन कर माँ मुझे गंगास्नान के लिए ले गई।

अभी सूरज नहीं निकला था, पर आकाश पर लाली उभरने लगी थी।

हम लोगों के साथ पिताजी भी थे। वहीं उन्होंने बताया कि आज वे हस्तिनापुर नहीं जाएँगे। वे वहाँ से आदित्य मंदिर की ओर चले गए और हम लोग घर की ओर लौटे। घर आकर माँ ने मुझे काजल भी लगाया और काजल लगी अँगुली मेरे मस्तक पर पोत दी।

दिन चढ़े पूजन का सामान ले हम मंदिर पर पहुँचे। वहाँ जनपद के लोग जैसे उमड़े पड़ रहे थे। हलके गैरिक रंग से रँगे इस मंदिर को फूल और पत्तियों से नवल वधू की भाँति सजाया गया था। भेरी, तूर्य और पणव (एक प्रकार का ढोल) बज रहे थे। मेरे पहुँचते ही एक विचित्र ढंग का कोलाहल हुआ। कुछ लोगों ने दौड़कर मुझे उठा लिया। बाजे की ध्वनियाँ तेज हुईं। अनूप अंबष्ठ ने मुझे उठाकर यज्ञमंडप के प्रधान होता के स्थान पर बैठा दिया। मेरे माता-पिता मेरे पीछे थे। मंदिर के परंपरागत पुजारी भास्कराचार्यजी ने ही पुरोधा का स्थान ग्रहण किया।

पूजन अभी आरंभ भी नहीं हुआ कि एक कड़कती हुई आवाज सुनाई पड़ी, "यह नहीं हो सकता। मेरे रहते यह नहीं हो सकता।" चीखता हुआ यज्ञदत्त महेश को लिये यज्ञमंडप की ओर बढ़ा चला आया। सब अवाक् हो उसकी ओर देखते रह गए। मेरी ही भाँति अधिकांश लोग समझ ही न पाए कि बात क्या है। विस्मय के इस हिमपात का प्रभाव तुरही और पणव की ध्वनियों पर भी पड़ा। धीरे-धीरे वे मंद पड़ने लगीं।

इस विषम स्थिति में केवल अनूप ही बोला, "क्या नहीं हो सकता?"

"आज का पूजन राधेय संपन्न करे, यह नहीं हो सकता।" भभकते हुए दीप की लौ की भाँति यह कंपित ध्वनि वहाँ के अवाक् हुए कोलाहल में बिंध सी गई।

यहाँ मैं स्पष्ट कर देना नितांत प्रासंगिक समझता हूँ कि यज्ञदत्त और अनूप में आपस में पटती न थी। दोनों के परिवारों में परंपरागत वैर था। इस बार भी यज्ञदत्त का विरोध करने के लिए अनूप ही तड़पा, "क्यों नहीं हो सकता?"

"इसलिए नहीं हो सकता कि राधेय ब्राह्मण नहीं है।"

"यह कहाँ का नियम है? पूजन कोई भी कर सकता है; पर पुरोहित को ब्राह्मण होना चाहिए।" अनूप ने छूटते ही उत्तर दिया।

यज्ञदत्त कदाचित् एक क्षण के ही लिए शांत हुआ हो। उसने दूसरा प्रश्न उठाया, "पर पूजन के लिए विवाहित व्यक्ति का होना अनिवार्य है, क्योंकि पत्नी के बिना कोई भी अनुष्ठान पूरा नहीं हो सकता।"

इस बार फिर अनूप पूरे आवेश में कड़का, ''क्या बात करते हो, यज्ञदत्त! यह कोई वैदिक अनुष्ठान नहीं है, वरन् ग्रामदेवता की वार्षिक पूजा है। इसे अब तक वही संपन्न कराता रहा है जिसने ग्राम के लिए कुछ किया हो।''

मैं समझ रहा था कि यज्ञदत्त का आक्रोश यह पूछ बैठेगा कि क्या किया है राधेय ने; पर वह चुप था। उसका अंतर्मंथन लाल होकर उसकी आकृति से टपकने लगा।

शीघ्र ही उसका क्रोध उबाल खाकर बाहर आया, ''यदि आप सब अपने मन का ही करना चाहते हैं तो राधेय से पूजन कराइए। मैं चला, क्योंकि मैं यह अनर्थ देख नहीं सकता।'' इतना कहकर वह छमछमाता हुआ भीड़ को चीरकर निकलने लगा। उसके पीछे महेश भी था।

किंतु वह चार पग भी आगे न बढ़ पाया होगा कि मेरे पिताजी ने उसे दौड़कर पकड़ा और उसका चरणस्पर्श करते हुए बोले, ''क्यों नाराज होते हो, ब्राह्मण देवता?''

''नाराज न होऊँ तो क्या करूँ? तुम्हारे लाड़ले को सिर पर बैठा लूँ!'' वह क्रोध से काँपता हुआ पुनः भीड़ के बीच आया और कड़कती हुई आवाज में कहने लगा, ''मैं ग्राम प्रमुख हूँ। धर्म की व्यवस्थाओं का ध्यान रखना मेरा कर्तव्य है।

''क्यों, यह अधर्म नहीं तो क्या है? कभी किसी भी यज्ञ में ऐसे व्यक्ति को प्रधान 'होता' बनाया गया है, जिसके गोत्र का पता न हो, जिसकी जाति का पता न हो, जिसके माता-पिता का पता न हो।'' यज्ञदत्त की आवाज वज्रपात की तरह उस पूरे जनसमूह पर टूट पड़ी। सब अवाक् रह गए। वह पुनः तड़पा, ''आप लोग बोलते क्यों नहीं? क्या मैं गलत कह रहा हूँ?''

फिर भी सब चुप थे। एक विचित्र प्रकार की भुनभुनाहट का धुआँ मेरे चारों ओर फैलने लगा। मैं एक घुटन का अनुभव करने लगा। मैंने अनूप की ओर देखा, उसका सिर झुक गया था। वह कुछ कहना चाहकर भी कुछ नहीं कह पा रहा था। उसकी असमर्थता उसकी मुद्रा पर उभर आई थी।

फिर यज्ञदत्त ने पुरोहितजी को संबोधित करते हुए कहा, ''आचार्यजी, आप ही क्यों नहीं बोलते? पूरी सभा की बुद्धि मारी गई है। एक ऐसा बालक, जो अपने माता-पिता को नहीं जानता, अपना गोत्र नहीं जानता, अपनी जाति नहीं जानता, वह भला संकल्प का विधि-विधान कैसे करेगा?''

भास्कराचार्य चुप थे; किंतु उनकी आंगिक मुद्राओं और संकेतों ने यज्ञदत्त का समर्थन किया। अब मेरा स्वाभिमान मुझे एक क्षण के लिए भी वहाँ रहने देना नहीं

चाहता था। मैं बड़े झटके से उठा और भाग चला, जैसे जलते हुए नीड़ से पक्षी भाग चलता है। बहुत सारे लोगों ने मुझे रोकने की चेष्टा की; पर मैं भागता जा रहा था, एकदम भागता चला जा रहा था—घर की ओर नहीं, बस्ती की ओर नहीं वरन् अरण्य के उस गर्भ में, जहाँ कोई न हो, जहाँ मेरा अहं एक जिद्दी और हताश बालक की तरह अपने हाथ-पैर मारकर स्वयं शांत हो जाए।

मैंने मुड़कर पीछे देखा भी नहीं, केवल अनुभव करता रहा कि कुछ लोग मेरे पीछे-पीछे आ रहे हैं। लौट आने के लिए उनकी आवाजें अनवरत मेरे कानों से टकराती रहीं। पर मैं भागता गया, भागता ही गया।

मेरी भाग्य-लिपि की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी और सर्पाकार पगडंडी कांतार की गहन झाड़ियों में जहाँ खो गई, वहाँ मुझे सुनाई पड़ा, "अब वह पकड़ में नहीं आएगा। उसे दौड़ाओ मत, अधिरथ। ऐसा न हो कि वह भागते-भागते स्वयं को वन्य पशुओं के घेरे में डाल दे।"

"तो क्या करूँ?"

"मौन रहो। जब उसका क्रोध शांत होगा, लौट आएगा।"

मैं अब भी भागता जा रहा था। मेरे आवेश ने उस समय नया मोड़ लिया जब बगल में गुजरती एक नील गाय की छोटी सींग मेरे तन से टकराई। मैं पागलों की तरह उसे संबोधित करके चीखा, "तेरा यह साहस कि तू मुझसे टकराए! पहले तू अपना गोत्र बता। तेरी जाति क्या है? तेरे माता-पिता का नाम क्या है?"

नील गाय उपेक्षा की मुद्रा में चौकड़ी भरती निकल गई। पर मेरी भ्रांत जिज्ञासा शांत नहीं हुई, मेरा आवेश शांत नहीं हुआ। मैं चीखता रहा, "वन्य जंतुओ, मेरी आवाज सुनो। मेरे प्रश्न का उत्तर दो, क्या तुमने कभी यह जानने की चेष्टा की है कि तुम्हारी जाति क्या है? तुम्हारा गोत्र क्या है? तुम्हारे माता-पिता का नाम क्या है? यदि तुम बता नहीं सकते तो तुम्हें जीने का अधिकार नहीं है। संसार तुम्हारा पौरुष नहीं देखेगा, तुम्हारा पराक्रम नहीं देखेगा, तुम्हारे कर्म-अकर्म पर विचार नहीं करेगा। उसे तुम्हारा गोत्र चाहिए, उसे तुम्हारी जाति चाहिए, उसे तुम्हारे माता-पिता का नाम चाहिए।"

मैं चीखता रहा, चिल्लाता रहा। पागलों की भाँति वृक्षों से, लताओं से, भूमि पर फोड़े की तरह उभरी पहाड़ियों से ऐसी ही बातें करता रहा। इसी बीच पीछे से आकर किसीने मेरी दोनों आँखें दोनों हाथों से बंद कर लीं और मुझे अपने तन से सटा लिया।

"कौन हो तुम और तुम्हारी जाति क्या है?" मैं यह पूछूँ कि उसकी सिसकन

साफ सुनाई पड़ी। मेरे आवेग की ज्वाला अश्रु-गंगा में डूबकर बुझने लगी और मैं भी रो पड़ा। हम दोनों की सिसकियाँ प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध उस आरण्यक परिवेश में चुभती चली गईं।

मैंने आँखों पर से उसके हाथ नहीं हटाए। मुझे उससे बड़ी शांति मिल रही थी। जब स्वयं उसके हाथ हटे, मैंने देखा, वह माला थी।

□

दिन बीतते गए।

मेरे शांत शरीर में मेरा टूटा हुआ अहं धीरे-धीरे सुलगता रहा। कभी-कभी वह भभक भी उठता था। ...और तब मेरा मन एक उद्भ्रांत पक्षी की तरह परिस्थितियों के घिरे हुए आकाश में चक्कर काटता-काटता थककर गिर पड़ता था।

आज एक दु:सह स्वप्न के कारण मेरी नींद जल्दी टूट गई। अँधेरा था। प्राची का द्वार अभी ज्योति की प्रतीक्षा में था। बर्फीली हवा सुई-सी चुभ रही थी।

मेरी व्यग्रता बिस्तर पर पड़ी-पड़ी छटपटाती रही। एक अद्भुत विचार मन में आया। प्रात: की पहली किरण के साथ ही मैं उठा। किसीसे बिना कुछ कहे उस कक्ष में पहुँचा, जहाँ बहुत सारे मिट्टी के खिलौने रखे थे। उनमें से मैंने कुछ को उठाया। यह रथ पर बैठा राजा है, यह घोड़े पर सवार राजकुमार है, यह असि लिये सैनिक है, आदि-आदि।

पिताजी अब भी सो रहे थे। माँ जौ के खेत की ओर गई थी। मैंने खिलौने उठाए और एक ऊनी उत्तरीय ओढ़कर आदित्य मंदिर की ओर चल पड़ा। मार्ग में गंगास्नान के लिए जाता, कंबल की गेंडुरी में लिपटा यज्ञदत्त दिखाई दिया। उसने मुझे देखते ही आँखें फेर लीं। मेरा रोम-रोम जल उठा।

मेरी उद्विग्नता बढ़ती चली। मंदिर की वेदी पर चढ़ते-चढ़ते वह अपनी चरम सीमा पर आ गई। मैंने सारे खिलौने वहीं पटक दिए। ऊनी उत्तरीय भी उतारकर वहीं रख दिया। फिर खिलौनों में से एक को उठाया और बोल पड़ा, "तुम रथ में बैठे राजा हो। एकदम राजा जैसे लगते हो। पराक्रमी भी मालूम पड़ते हो। पर तुम्हारे पराक्रम से संसार को कुछ भी लेना-देना नहीं है। उसे तो तुम्हारी जाति चाहिए, तुम्हारा गोत्र चाहिए, तुम्हारे पिता का नाम चाहिए। पर तुम मौन हो। तुम यदि बोल नहीं सकते हो तो तुम इस संसार में रह भी नहीं सकते। इतना कहते हुए मैंने उसे जोर से गंगा की धारा में फेंका। 'झम' की आवाज के साथ मेरी दृष्टि उधर गई। मैंने जो कुछ देखा, एकदम अवाक् रह गया।

लगातार चलते पुरवा हवा के झोंकों के सहारे एक शव गंगातट पर आ लगा

था। शव मुझसे कुछ छोटे बालक का था। वह काफी हृष्ट-पुष्ट था। वेशभूषा राजसी थी। प्रात:काल की मुलायम धूप में उसके दाहिने बाहु के स्वर्णिम भुजबंध की मणियाँ बहुरंगी आभा बिखेर रही थीं। आकाशबेलि के लचीले तने से उसके दोनों हाथ अच्छी तरह एक में बाँध दिए गए थे। यही दशा पगों की भी थी।

मुझे यह सोचते देर न लगी कि निश्चित ही यह कोई संपन्न घर का बालक है, जिसे मार डालने के विचार से हाथ-पैर बाँधकर गंगा में बहा दिया गया है। मैं विस्मय-विभोर हो उसे देखता रहा। मानस में पुराने चित्र उभरने लगे। इसी तरह मैं भी बहा दिया गया था। मैं मंजूषा में था। मेरे बहानेवाले की नीयत मुझे जीवित रखने की थी और इसके बहानेवाले की नीयत इसे मार डालने की।

इसी बीच हवा का एक झोंका और आया। लहरें उठीं और शव एक बार फिर हिला; किंतु इस बार उसमें विचित्र कंपन हुआ। "अरे, यह तो जीवित है।" मेरे मुख से अचानक निकल पड़ा। मैं वेदी से कूदकर धरती पर आया और गंगा के किनारे उस शव की ओर लपका। निकट आने पर मुझे स्पष्ट लगा कि यह जीवित है। जीवन और मृत्यु से टकराती साँसें मंथर गति से इसकी छाती के भीतर तैर रही थीं।

मैं धीरे से पानी में उतरा और उसे पकड़कर भूमि तक ले आया। अब मैं उसे धरती पर खींचने में स्वयं को असमर्थ पा रहा था। उसकी शरीरयष्टि सुगठित एवं बलिष्ठ थी और उसकी लौह मांसपेशियाँ वज्र से भी कठोर। पहले मैंने उसके हाथ खोले और भुजा पकड़कर धरती पर खींचने की चेष्टा की।

उसका आधा शरीर तो किसी तरह भूमि पर खींच ले आया, किंतु इससे आगे मैं कुछ कर नहीं पाया। इतने में ही मैं बेतरह थक गया और हाँफने लगा। हवा अब भी तेज बह रही थी। लहरों का झोंका अब भी उसे भूमि पर धकेल देने की चेष्टा कर रहा था। मैं क्षण भर रुककर सुस्ताने लगा।

पूरब में आकाश पर सूरज चढ़ आया था। धूप मधुर लग रही थी। मैं वहाँ से ठीक देख तो नहीं पा रहा था, फिर भी मैंने वेदिका पर किसीकी उपस्थिति का अनुभव किया। मैंने सोचा, उसे सहयोग के लिए बुलाऊँ। मैं ऊपर की ओर दौड़ा। अब मैंने देखा कि वह मेरी माँ है। किंतु उसने मुझे अब भी नहीं देखा। वहाँ पड़े कंबल और खिलौनों को देखकर वह बिलकुल घबरा गई थी। उसने यही आशंका की होगी कि मैंने सबकुछ छोड़कर, हो न हो, जल समाधि ले ली हो।

भय से विवर्ण होते हुए उसने नीचे की ओर देखा। अब मेरी ओर उसकी आँखें चार हुईं। पर्वत से ढुलकते पाषाणखंड की भाँति वह मेरी ओर बढ़ी और उस

संज्ञाशून्य बालक को देखकर एकदम घबरा गई।

"कौन है ?" उसके मुख से निकला।

"मैं क्या जानूँ!" इतना कहकर मैंने उसे सारी बातें बता दीं।

उसने उसे एकटक देखते हुए कहा, "यह तो राजकुमार मालूम होता है।"

"क्यों ?"

"देखो, अलंकार पहने है। इसके वस्त्र भी राजसी हैं।"

"कोई आवश्यक है कि जो अलंकार और राजसी वस्त्र पहने हो वह राजकुमार ही हो ?"

उसके 'हाँ' कहते ही मन में उठी एक बात मुख से निकल पड़ी, "मैं भी तो स्वर्ण कवच-कुंडल से युक्त राजसी वस्त्र में पाया गया था। तब संसार मुझे राजकुमार क्यों नहीं कहता ?"

निश्चित है, मेरे कथन से माँ के मन को गहरा आघात लगा होगा। पर वह विचित्र ढंग से झुँझलाई।

"तू तो हर बात में व्यर्थ विवाद करता है! जा, ऊपर से कंबल उठा ला।"

माँ ने उसके कपड़े उतारकर उसे कंबल ओढ़ा दिया। सूर्य और चढ़ आया था। धूप में ताप कुछ आ गया था। फिर भी उसने मुझसे कुछ सूखी लकड़ियाँ मँगवाईं और उसे सेंकना आरंभ किया। थोड़ी ही देर बाद वह मुझसे बोली, "तू वैद्यराज प्राणक का घर जानता है ?"

मैंने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। तब उसने मुझे तुरंत वैद्यजी को बुला लाने के लिए कहा।

मैं दौड़ता हुआ प्राणक के घर पहुँचा। मैंने उन्हें सारी बातें बताईं। वे बड़ी गंभीरता से सोचते हुए बोले, "एक बालक के जीवन-मरण का प्रश्न है। चलना ही पड़ेगा।"

प्राणक ऐसा स्वाभिमानी ब्राह्मण, जो बिना रथ के कहीं नहीं जाता था, पैदल ही चल पड़ा।

बड़ी गंभीरता से नाड़ी देखने के बाद वैद्यराज ने कहा, "अग्नि को बुझा दो और इसपर से कंबल भी हटा दो। इस बालक को ताप की बिलकुल आवश्यकता नहीं है।"

"मैं तो समझती थी कि इसे शीत लग गई है।" इतना कहकर माँ ने आग बुझा दी और कंबल भी हटा दिया।

अब वैद्यराज ने उसके तन पर आपादमस्तक दृष्टि डाली। आँखें खोलकर

पुतलियों में झाँका और बोले, ''इस बालक को विष दिया गया है। कदाचित् मार डालने के निमित्त ही इसे गंगा में प्रवाहित कर दिया गया; पर जगजननी जाह्नवी की कृपा से ही यह निष्प्राण नहीं हुआ।''

माँ वैद्यजी की रहस्यमयी बात समझ नहीं पाई। उसकी प्रश्नवाचक मुद्रा ज्यों-की-त्यों बनी रही।

वैद्यराज कहते गए, ''गंगा मैया की शीतलता के कारण इसपर विष अपना पूर्ण प्रभाव कर नहीं पाया। मेरा विश्वास है कि बालक बचा लिया जाएगा।''

इसके लिए जल्दी से एक आदिवासी को बुलाया गया। वह इस बालक को कंधे पर लादकर वैद्यराज के आवास की ओर चला।

मार्ग में वैद्यराज ने मुसकराते हुए कहा, ''तू बड़ी भाग्यवान् है, राधा, तुझपर गंगा मैया की बड़ी कृपा है।'' माँ को कुछ बोलने का अवसर दिए बिना वह स्वयं कहते गए, ''गंगा मैया ने ही तुझे राधेय को दिया था, और इस बालक को भी दे दिया।''

माँ हँस पड़ी।

''एक बात और है···'' वे कुछ रुककर कहते गए, ''इसकी आकृति भी राधेय से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। विचित्र संयोग है।''

माँ ने मुसकराते हुए कहा, ''एक बात और है, महाराज।''

''क्या ?''

''जिस स्थान पर राधेय पाया गया था, लगभग उसी स्थान पर यह भी पाया गया है।''

वैद्यराज हँसे और बोले, ''यह संयोग की बात नहीं है, राधा, वरन् धारा की विवशता है। तुम देखती हो कि धारा के बीच में रेत पड़ गई है। गंगा यहाँ से मुड़ती है और वह पश्चिमवाहिनी हो जाती है। जल-प्रवाह इस आदित्य मंदिर के निकट ही टकराता है। इसीसे जो भी वस्तु बहकर आती है, यहीं आकर लग जाती है।''

माँ लहरों की ओर देखती हुई चुप हो गई। पर मेरे मन ने वैद्यराज के इस तर्क का समर्थन किया और कहा कि शायद यही कारण था कि बाढ़ में लुकुच का उडुप भी यहीं फँसा था।

वह आदिवासी व्यक्ति तेजी से बढ़ा चला जा रहा था। बालक के बोझिल तन ने उसके पगों की गति जैसे बढ़ा दी थी।

हम लोग उसके पीछे चल नहीं वरन् दौड़ रहे थे। पर बड़े प्रसन्न थे। वैद्यराज प्रसन्न थे कि रोगी बचा लिया जाएगा, माँ प्रसन्न थी कि उसे एक और पुत्र मिल

गया है और मैं प्रसन्न था कि मुझे एक भाई मिलेगा।

ओषधि के प्रभाव से विष उतरने लगा। उसे धीरे-धीरे चेतना आई। सचेत होते हुए वह उठा, ''ऐं···मैं यहाँ कैसे ?'' उसने आश्चर्य से चारों ओर देखा।

''तुम घबराओ नहीं, यहाँ बिलकुल सुरक्षित हो।'' वैद्यराज प्राणक ने कहा।

''पर यहाँ मुझे लाया कौन ?'' उसकी आवाज में तेजी आई और उसने माँ की ओर देखा।

माँ ने मुसकराते हुए कहा, ''गंगा मैया ने।''

''गंगा मैया ने! क्या कहती हो तुम ?'' उसकी दृष्टि की सकपकाहट ने उस वातावरण के प्रत्येक कण का स्पर्श कर उसे पहचानने की चेष्टा की; पर असफल रहा। आँखें मींजते हुए बोला, ''क्या मैं हस्तिनापुर के बाह्य कांतार से यहाँ नहीं लाया गया ?''

''नहीं।''

फिर कुछ सोचते हुए उसने चारों ओर दृष्टि घुमाई, ''हमारा मोदक कहाँ है ? मुझे भूख लगी है।''

हम सब इस नई परिस्थिति से अनभिज्ञ चुपचाप उसे देखते भर रह गए। तब तक हमें अचानक पिताजी की आवाज सुनाई पड़ी। स्पष्ट लगा कि वह घबराए हुए चले आ रहे हैं।

कक्ष में घुसते ही वे एकदम सकपका से गए। ऐसा लगा जैसे कुछ अप्रत्याशित हो गया है, जिसकी वे कल्पना तक नहीं कर सकते थे। उन्होंने हड़बड़ाकर बालक का चरणस्पर्श किया और उनके मुख से निकल पड़ा, ''अरे राजकुमार, आप!''

इसके बाद क्षण भर में नाटक का पट परिवर्तित हुआ। कहानी बड़ी द्रुत गति से आगे बढ़ी। जैसे सभी उस नाटक के पात्र थे, केवल एक मैं ही द्रष्टा था। जो कुछ मैंने देखा और सुना उसका तात्पर्य था कि यह बालक कोई और नहीं वरन् पांडुकुमार भीमसेन हैं। मल्ल-कल्लोल के निमित्त इन्हें बहकाकर धृतराष्ट्र कुमार राजधानी से दूर गंगातट के निकट एक अरण्य में ले आए थे।

उसके लौह सदृश बलिष्ठ तन से स्पष्ट था कि उसे भोजन से विशेष प्रेम है। धृतराष्ट्रकुमारों ने उसे खूब मोदक खिलाया। वैद्यराज के अनुसार, उसी मोदक में विष था।

जब विष का प्रभाव बढ़ा, वह अचेत हो गया। उसी समय उसके हाथ-पैर बाँध दिए गए और उसे गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। उन लोगों ने सोचा होगा, न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।

उसका अस्तित्व भी रहने नहीं दिया गया।

पर नियति की गति मनुष्य की बुद्धि से परे है। नियति ने ही उसे बचा लिया। बातों-बातों में ही पता चला कि यह सारा षड्यंत्र दुर्योधन का ही था। पर उसे क्या मालूम था कि मारनेवाले से बचानेवाले के बाहु कहीं अधिक विशाल हैं।

इन सारी बातों पर किसीने भी अपनी प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की। सब चुपचाप सुनते रहे।

वैद्यराज ने यथाशीघ्र मोदक तथा अन्य सुस्वादु पकवान का प्रबंध किया। भीमसेन प्रसन्नचित्त खाने लगा।

"तुम इसी जनपद में रहते हो, अधिरथ?" उसने राजसी ध्वनि में मेरे पिता से पूछा।

"हाँ, राजकुमार।" इसके बाद पिताजी ने मेरी माता और मुझसे उसका परिचय कराया।

उसने मुझे बड़े ध्यान से देखा, जैसे मेरे ललाट पर कुछ पढ़ने की चेष्टा कर रहा हो। फिर पिताजी से बोला, "तुम्हारा पुत्र तो बड़ा अच्छा है, अधिरथ। इसे तुम कभी हस्तिनापुर नहीं ले आए।"

पिताजी ने कुछ कहा अवश्य, जो मुझे याद नहीं है; किंतु उस समय की उनकी सलज्ज मुसकराहट अब तक मेरी स्मृति में बनी है।

इसके बाद पिताजी रथ ले आने का निर्देश पा वहाँ से चल पड़े। साथ में हम लोग भी थे। मार्ग में वे हस्तिनापुर की आंतरिक राजनीति पर माताजी से बातें करते रहे।

"अग्नि वहाँ धीरे-धीरे सुलग रही है। देखो, कब वह विस्फोटक रूप लेती है।" उपर्युक्त संदर्भ में पिताजी का यह अंतिम वाक्य था।

इन सबसे मुझे क्या लेना-देना। मेरे मन में तो बस एक ही बात रह-रहकर उठती थी कि गंगा मैया ने एक भाई दिया था, दुर्भाग्य से वह राजकुमार निकला।

फिर मेरा मन ही मुझसे पूछ बैठा, 'तुम्हें भी तो गंगा मैया ने दिया था। ऐसा नहीं हो सकता कि तुम भी कोई राजकुमार हो? पर मुझे पहचाननेवाला कौन है? कौन कहेगा कि यह मेरा पुत्र है?'

इसी अंतर्मंथन के धुँधलके में मन डूब गया।

□

चार

जीवन असमतल पगडंडियों पर डग भरता रहा। दिन पर दिन बीतते चले गए। मैं वहाँ भी स्वयं को अकेला ही पाता था। मेरी हीनभावना मुझे उन राजकुमारों में घुलने-मिलने नहीं देती थी। मैं उन्हीं लोगों के साथ खेलता था, घूमता था। दो क्षणों के लिए खो भी जाता था; किंतु जब अचानक अपनी ओर देखता था, मुझे लगता था कि मैं विशाल अट्टालिकाओं के समक्ष पड़ा एक शिलाखंड मात्र हूँ, जो अट्टालिका वैभव को निर्निमेष निहारता पड़ा रह जाता है, जिसे हर कोई ठोकर मार सकता है, भले ही इससे उस पाषाणखंड का कुछ बनता-बिगड़ता न हो।

एक दिन एक विचित्र घटना घटी।

मैं राजकुमारों के साथ प्रासाद के भीतर चला गया। प्रासाद प्रांगण के विशाल उद्यान की पुष्करिणी में खिले हुए कमलों के बीच हंसों के जोड़े कल्लोल कर रहे थे। मेरी दृष्टि कुछ क्षणों के लिए उनमें उलझ सी गई। इसी बीच राजकुमार अंत:पुर में चले गए। थोड़ी देर बाद मैंने मुड़कर देखा। मेरे साथ कोई नहीं था। मैं भी अंत:पुर में प्रविष्ट होने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ने लगा।

प्रतिहारी ने मुझे रोका, "कहाँ जा रहे हो?"

"देखते नहीं हो, भीतर जा रहा हूँ।" मेरी वाणी की ऐंठन किसी भी परिस्थिति में अपनी मुद्रा नहीं बदलती थी।

उसने मुझे गौर से देखा। भीतर-ही-भीतर नाराज भी हुआ। बड़ी दृढ़ता से बोला, "रुको। अंत:पुर में बिना अनुमति प्रवेश नहीं पा सकते।"

मैंने उसे अपना परिचय बताते हुए कहा, "मैं प्रधान सारथि अधिरथ का पुत्र हूँ।"

"तुम कौन बड़े देवपुत्र हो कि तुम्हें भीतर जाने दिया जाए, अरे, सारथि प्रधान के पुत्र हो तो अश्वशाला में जाओ, रथशाला में जाओ, तुम्हें अंत:पुर से क्या

लेना-देना है ?''

मैंने अनुभव किया कि टेढ़ा बोलने का फल मुझे सद्य: मिल रहा है। मैं दो क्षणों के लिए रुका। सोचता रहा, क्या कहूँ ? अचानक मेरे मस्तिष्क में जैसे कुछ कौंधा। मैं अत्यंत मृदु ध्वनि में बोला, ''मुझे राजकुमार ने बुलाया है।''

''किस राजकुमार ने ?''

''भीमसेनजी ने।''

अब उसकी मुद्रा बदली। उसने एकटक मुझे देखा। मेरे प्रति अपनी घृणा पर सम्मान का परदा डालते हुए वह बोला, ''अच्छी बात है। प्रतीक्षा कीजिए, मैं अभी समाचार भेजता हूँ।''

उसके साथ का प्रतिहारी भीतर गया। थोड़ी देर बाद जब वह लौटा तो मैंने देखा, उसके पीछे एक अत्यंत सौम्य महिला मूर्ति चली आ रही है। श्वेत परिधान से आच्छादित उसका व्यक्तित्व मंदिर की दीपशिखा जैसा प्रज्वलित एवं पवित्र लगा।

वह मेरे समक्ष आकर खड़ी हो गई और कुछ क्षणों तक लगातार मुझे देखती रही, मानो मैं एक ऐसा जीव हूँ जो अप्रत्याशित उसके दृष्टि-पथ में आ गया हूँ। मेरी भी दृष्टि उन आँखों पर पहुँचकर जैसे रुक सी गई। उन नेत्रों में सागर की अतल गहराई थी, जिसके उर्मिल प्रवाह के छींटे ढुलककर गालों पर भी आए थे। उन आँसुओं में कितनी आत्मीयता थी, सो कह नहीं सकता।

मेरे दोनों कानों के कुंडलों को अपने दोनों हाथों से स्पर्श करती हुई वह बड़े प्रेम से बोली, ''तुम्हीं को भीम ने बुलाया है ?''

मैंने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया।

''यह कुंडल तुम्हें किसने पहनाया है ?''

''मुझे नहीं मालूम।''

''तुम कुंडल पहने हो और तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि इन्हें तुम्हें किसने पहनाया है ?''

मैं कुछ कह नहीं पाया।

उसने बड़े प्रेम से मुझे अपने तन से चिपका लिया। मैं सच कहता हूँ, मैंने इतने मधुर वात्सल्य का अनुभव इसके पूर्व कभी नहीं किया था। मैं बड़े प्रेम से उसके मुख की ओर देखता रहा। उसकी सजल आँखें आकाश में चमकते पूर्वाह्न के सूर्य को नमस्कार कर रही थीं।

पता नहीं क्यों इतनी आत्मीयता उसने मुझपर उड़ेल दी, मैं समझ नहीं पाया।

इस लीला पर सबसे अधिक चकित तो उस द्वार के प्रतिहारी थे।

वह महिला मुझे अपने तन से सटाए भीतर ले चली। चलते-चलते वह दक्षिण पार्श्व के एक विशाल कक्ष में मुझे ले आई। किसी राजभवन के अंत:पुर में आने का यह मेरा पहला अनुभव था। मैंने इतने वैभवपूर्ण ढंग से सजा-सजाया कक्ष इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। मैं नितांत चकित हो देखता रह गया। मेरी दृष्टि वहाँ की हर वस्तु पर पड़ती और फिसलती रही।

इसी बीच वह मुझे वहीं छोड़कर भीतर चली गई।

थोड़ी देर बाद मुझे उसी महिला की ध्वनि सुनाई पड़ी, "खड़े मत रहो, बैठ जाओ। भीमसेन संभवत: शौचालय की ओर गया है। अभी आता है।"

मेरी हीनभावना ने वहीं भूमि पर बैठ जाने के लिए मुझे विवश किया।

"भूमि पर नहीं, मंचक पर बैठो।"

मैं विचित्र संकोच की स्थिति में भूमि से उठकर मंचक पर बैठा। अत्यंत मृदुल रेशमी गद्दी पर बैठने की विचित्र अनुभूति अनिर्वचनीय थी।

थोड़ी देर बाद भीमसेन आया। वह मुझे देखते ही बोल पड़ा, "अरे, तुम? यहाँ कैसे?"

मैं एकदम सकपका गया कि क्या कहूँ।

"तुम्हींने इसे बुलाया है और तुम्हीं पूछते हो कि क्यों आए!" भीमसेन के पीछे खड़ी उस महिला ने कहा।

"मैंने इसे नहीं बुलाया।" भीम बोला।

"क्यों बेटे, तुझे भीमसेन ने नहीं बुलाया था? तुमने प्रतिहारी से झूठ कहा था?" मुझसे उस महिला ने पूछा।

सकपकाहट में मेरे मुख से आवाज नहीं निकली। वह मेरा गाल थपथपाते हुए बोली, "अच्छे बच्चे झूठ नहीं बोला करते, बेटे।" उसने पुन: मुझे अपने से सटा लिया।

भीम को यह अच्छा नहीं लगा कि उसकी माँ इतनी आत्मीयता मुझ जैसे किसी बालक को दे। उसका विरोध मुखर हुआ, "बेटा··बेटा··बेटा! यह तू क्या कह रही है, माँ? अरे, यह तो सूतपुत्र है। अधिरथ का छोकड़ा। तुमने इसे इस कक्ष में आने कैसे दिया?"

अब मुझे पता चला कि यह भीमसेन की माँ कुंती है। अपने पुत्र की वर्जना के समक्ष वह अवाक् रह गई।

"अच्छा, चल यहाँ से बाहर, तुझे किसने बुलाया है यहाँ पर?" भीम की

वाणी का राजसी अहं पुनः मेरे अंतर में चुभ गया।

मैं तिलमिलाया, ''तुमने मुझे नहीं बुलाया था क्या!''

''कब?''

''जब मैंने तुम्हारे प्राणों की रक्षा की थी। याद करो, तुमने मेरे पिताजी से नहीं कहा था कि इसे हस्तिनापुर ले आया करो।''

''प्राणों की रक्षा!'' कुंती विस्फारित नेत्रों से मुझे देखने लगी, जैसे उसे कुछ मालूम ही न हो।

प्रसंगवश मैं यहाँ यह बता दूँ कि कुंती को सारी घटना का ज्ञान तो था, पर यह नहीं जानती थी कि भीमसेन की प्राणरक्षा में मेरी भूमिका कितने महत्त्व की थी।

उसने उस समय कुछ जानना चाहा भी तो भीम ने एक मीठी झिझकी से उसका मुख बंद कर दिया। उसने फिर मुझसे कहा, ''हाँ, बुलाया तो था; किंतु हस्तिनापुर में, न कि राजप्रासाद के अंतःपुर में।''

''और यदि अंतःपुर में ही चला आया तो कौन सी बड़ी बात हो गई! तू इतना नाराज क्यों होता है?'' कुंती मेरा सिर सहलाते हुए भीम से बोली।

''तू भी कैसी बातें करती है, माँ! अंतःपुर की एक गरिमा होती है। तेरा वश चले तो तू चांडाल और मैरेयकों को भी अपना बेटा बनाकर भीतर घुसा ले।''

''पर यह चांडाल तो नहीं है।''

''सूतपुत्र तो है। और एक ऐसा सूतपुत्र, जिसके वास्तविक माता-पिता का पता ही नहीं है।''

'वास्तविक माता-पिता!' जैसे वह कुछ सोचने लगी। फिर सँभलते हुए बोली, ''पता न होने से क्या होता है! आखिर इसके माता-पिता तो कहीं-न-कहीं होंगे ही।'' कुंती के स्वर में थोड़ी दृढ़ता आई।

''हाँ, होंगे, मरे हुए पशुओं की खाल उतारते हुए (चांडालों का कार्य) या ऐसा ही कोई नीच कर्म करते हुए।''

इतना सुनना था कि कुंती जैसे भीतर-ही-भीतर भभक पड़ी। उसने एक गहरी साँस ली, जैसे अंतर का ज्वालामुखी फूटा हो। फिर वह धीरे से बोली, ''जब संभावना ही तुम्हारे सोचने का आधार है तब क्या ऐसी संभावना नहीं की जा सकती कि इसका पिता चांडाल न होकर कोई देवता भी हो सकता है। और इसकी माता···''

वह अपना वाक्य पूरा करे, इसके पहले ही भीम बोला, ''देवी।'' इतना

कहकर वह अत्यंत व्यंग्यपूर्ण ढंग से हँसने लगा।

"क्यों, इसकी माँ देवी नहीं हो सकती?" इतना कहते-कहते कुंती एकदम चुप हो गई, जैसे किसीने उसका गला दबा दिया हो।

भीमसेन का तर्क अपने पूरे आवेश में उभरा, "तू भी बच्चों जैसी बातें करती है, माँ। कहीं किसी देवी की ममता अपने पुत्र को धारा में बहा सकती है?"

इतना सुनना था कि कुंती की आकृति विवर्ण हो गई। उसके नयनसागर में उत्ताल तरंगें उठने लगीं। वह बोल नहीं पाई। लगा जैसे वह रो पड़ेगी। चुपचाप मुँह फेरकर वह भीतर चली गई।

उसकी आकृति के भावों के इस अचानक परिवर्तन का अर्थ हम दोनों समझ नहीं पाए, उसे देखते भर रह गए।

अब भीम मुझसे बोला, "क्या देखते हो? जाओ बाहर। अब अंत:पुर में आने का कभी साहस मत करना।"

उसकी घुड़की एक ऐसी हवा थी, जो मेरे भीतर सुलगती अग्नि पर पड़ी राख एकदम उड़ा ले गई। वह भभक उठी। फिर भी मैं बड़े शांतभाव से बोला, "अब मुझे पता चल गया।" और द्वार की ओर मुख फेरकर चलने को हुआ।

"क्या पता चल गया?"

"यही कि तुम मनुष्य नहीं हो।"

"क्या कहते हो!" वह तिलमिलाया।

मेरी ज्वाला और भभकी। मैं वहीं खड़ा हो गया और बड़ी दृढ़ता से बोला, "ठीक तो कहता हूँ। तुम राजकुमार हो सकते हो, पर मनुष्य नहीं हो।"

"राजकुमार हो और मनुष्य नहीं हो! पहेली मत बुझाओ। तुम कहना क्या चाहते हो?"

"मैं जो कहना चाह रहा हूँ, वही कह रहा हूँ कि तुम नितांत कृतघ्न हो। मनुष्य तो इतना कृतघ्न नहीं होता।" मैं लौटता चला आ रहा था। मेरे पगों की गति के साथ-साथ मेरी आवाज भी तेज होती गई।

उसे मुझसे इतने तीखे उत्तर की कभी आशा नहीं थी। पहले तो उसे काठ सा मार गया, फिर वह कुछ सँभलकर मुझे रोकते हुए तड़पा, "रुको, और यह बताते जाओ कि मैंने कौन सी कृतघ्नता की है? क्या किसी ऐसे व्यक्ति को उस स्थान से हट जाने के लिए कहना, जिसका वह अधिकारी न हो, कृतघ्नता है? क्या एक सूतपुत्र को अंत:पुर से निकाल देना कृतघ्नता है?"

मैं एकदम रुक गया और क्रोध से काँपने लगा। फिर भी मेरा आक्रोश मेरे

विवेक को दबा नहीं पाया। मैं दहाड़ते हुए बोला, ''सूतपुत्र को अंतःपुर से निकालना कृतघ्नता नहीं है, किंतु एक प्राणरक्षक को अपने कक्ष से अपमानित करके हटाना अवश्य ही कृतघ्नता है।''

इतना सुनना था कि वह बड़े जोर से हँसा। बड़ी विद्रूप थी उसकी हँसी। वह बोला, ''अरे मूर्ख! प्राण लेने और देने का काम इस दृश्य जगत् में केवल एक अदृश्य शक्ति ही करती है। तुझे यह अभिमान किस समय हो गया कि तूने मेरे प्राणों की रक्षा की?''

''उस समय हुआ जब तेरा संज्ञाशून्य तन लहरों के थपेड़े खाता आदित्य मंदिर के निकट आकर लगा था। यदि मैं न होता तो तू मुझे अपमानित करने के लिए आज जीवित न बचता।''

''यदि परमात्मा को मुझे जीवित बचाना होता तो तू न होता, तेरी जगह कोई और होता।'' वह हँसता रहा।

मेरी आग भभकती गई, ''यह तू नहीं, तेरी अहम्मन्यता बोल रही है, भीम। यह तू नहीं, तेरा राजकुमार बोल रहा है, भीम। यदि मैंने किसी निर्धन या तेरे शब्दों में, किसी नीच जाति के व्यक्ति की प्राणों की रक्षा की होती तो वह जीवन भर मेरा दास होता।''

''दास! हा-हा-हा।'' वह अट्टहास कर उठा, ''किसी दासपुत्र को दूसरे को दास बनाने की कल्पना करते मैंने आज तक नहीं देखा।'' इतना कहकर वह फिर जोर से हँसने लगा। मुझे ऐसा लगा जैसे उसका अट्टहास अंतःपुर की दीवारों को चीरकर फैलता जा रहा है। इसी बीच कुंती की तड़पती भर्राई आवाज भीतर से आई, ''तुम बड़े वाचाल बनते जा रहे हो, भीम। भीतर जाओ। उसे जहाँ जाना है, चला जाएगा।''

माँ की इस फटकार के बाद भीम कुछ बोला तो नहीं, पर मुझे घूरकर देखता रहा। मैं भी उसे क्रोध में आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था, मानो अपनी आँखों से उसे चबा जाऊँगा। और जब तक वह हटा नहीं, मैं भी नहीं हटा।

सूत के घर पलने पर भी मेरा अहं किसीके सामने झुकना नहीं जानता था। क्रोध से काँपता जब मैं वहाँ से निकलकर उद्यान में आया तब प्रतिहारी तक मेरी मुद्रा देखकर आश्चर्यचकित थे। मैं पैर पटकता हुआ आगे चला जा रहा था। आवेश में मेरे दोनों हाथ बड़ी क्षिप्र गति से आगे-पीछे हो रहे थे। मैंने मन-ही-मन निश्चय किया कि अब यहाँ थूकने भी नहीं आऊँगा।

मैं अग्निबाण की भाँति चला जा रहा था कि मुझे एक अत्यंत मृदु स्वर सुनाई

दिया, "अरे राधेय! इतने नाराज क्यों हो रहे हो?"

मैंने मुड़कर देखा, वह दुर्योधन था। उसकी मुसकराहट की आत्मीयता ने मेरे पगों को बाँधने का असफल प्रयास किया। मेरे मन की प्रतिक्रिया विचित्र थी। मैंने सोचा, अरे, यह भी भीम जैसा ही होगा। जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ।

अब मैं रुकनेवाला नहीं था। वह तीर था, जो छूट चुका था। वह नक्षत्र पिंड था, जो टूट चुका था।

□

समय के साथ-साथ मेरा अंतर्द्वंद्व बढ़ता गया।

मेरी हीन भावना मुझमें सदा छटपटाती रही और मेरे नितांत हठी व्यक्तित्व का निर्माण करती रही, जिसमें मेरे माता-पिता का प्यार विचित्र रंग भरने लगा। धीरे-धीरे मैं अंतर्मुखी होता गया। मैं लोगों से बहुत कम बातें करता था। आदित्य मंदिर में, गंगा के सुनसान तट पर या फिर अरण्य के गर्भ में मैं घंटों बैठा रहता और सोचा करता था।

इस बदलती हुई मनःस्थिति से मेरी माँ मेरे पिताजी की अपेक्षा अधिक चिंतित थी; पर वह मुझसे कुछ कहती नहीं थी। हाँ, जनपद के लोगों और कभी-कभी पिताजी से इस संबंध में वह बातें करती अवश्य थी, पर कोई समाधान वह निकाल नहीं पाती थी।

माघी ने अपनी बुद्धि और अनुभव के आधार पर बहुत सोच-समझकर मेरी माँ को राय दी थी कि कोई अच्छी लड़की दिखाई पड़े तो राधेय का विवाह कर दो। रेवा ने मुझे बताया कि माँ इसपर चुप ही थी।

ये सारी बातें मेरे व्यक्तित्व के चिकने घड़े पर पानी की तरह बह जाती थीं। मेरा 'मैं' इन सबसे अछूता था, किसी प्रकार के नियंत्रण से मुक्त था। जब जी में आता, निकल जाता था और जब चाहता, लौटता था।

एक दिन माँ ने बड़े ममत्व भरे स्वर में कहा, "बेटा, भोजन के समय तो आ जाया करो।"

"क्यों? भोजन बहुत आवश्यक है क्या?"

"जीवन के लिए तो अत्यंत आवश्यक है ही।" माँ की ध्वनि में व्यथा भरी निराशा थी।

"और जिसके लिए जीवन ही आवश्यक न हो तो?"

इतना सुनते ही माँ अवाक् हो मेरा मुख देखती रह गई। उसकी आँखें डबडबा आई थीं। मैं भी कुछ बोल नहीं सका। उस घुटन भरी स्तब्धता को मैंने यह कहते

हुए तोड़ा, "अच्छा माँ, चलो, कुछ खिला दो।"

मेरी आंतरिक हलचल में माँ डूबती गई। मैं उसके बचे-खुचे नियंत्रण से मुक्त होता गया। बंधनहीन उन्मुक्त कपोत की भाँति मैं दिन भर अपनी ही परिस्थितियों के आकाश में कावा काटता और रात होते ही अपने नीड़ में आकर सो जाता। हाँ, एक बात अवश्य थी, अब मैं भोजन के समय चला आता था; क्योंकि मेरी प्रतीक्षा में माँ बिना खाए बैठी रहती थी।

पिताजी अब मुझसे कुछ अधिक अन्यमनस्क से रहते थे। उनके व्यवहार से ऐसा लगता था कि मैं उनका पुत्र नहीं वरन् एक धरोहर हूँ, जिसे वे बहुत सँजोकर रखे हुए हैं और किसीके माँगने पर ज्यों-का-त्यों लौटा देंगे।

बहुत दिनों बाद उन्होंने एक बात कही।

मुझे ठीक याद है, जाड़ा अपनी चरम सीमा पर था। कंबलों और मृगचर्मों के नीचे लंबी रातों की गरमाती नींद मेरी व्यग्रता को पूर्णरूप से समेट नहीं पाती थी। मैं बड़े ही तड़के जाग जाता था। आज भी वैसा ही हुआ। बगल में पिताजी सो रहे थे। काफी अँधेरा था। पूर्वाकाश में शुक्र की झिलमिलाती रश्मि ब्राह्म वेला की सूचना दे रही थी। मैं चुपचाप उठा और कंबल ओढ़कर बाहर निकलने को हुआ कि पिताजी की नितांत गंभीर ध्वनि सुनाई पड़ी, "राधेय!"

स्पष्ट था कि पिताजी मेरे पहले जाग गए थे और मेरी गतिविधि को अधखुले नेत्रों से देख रहे थे। उनकी आवाज सुनते ही मैं लौट आया।

"तुमसे एक बात कहनी थी।"

"... ... ..."

"राजकुमार ने तुम्हें बुलाया है।"

"राजकुमार ने मुझे बुलाया है! मैं क्या करूँगा वहाँ जाकर?" मेरे घाव पर जैसे नमक छिड़क दिया गया हो। मैं तिलमिला उठा और बड़बड़ाने लगा, "एक सूतपुत्र को राजप्रासाद में प्रविष्ट होने का क्या अधिकार!"

पिताजी मौन मुझे देखते रहे, फिर भी धीरे-धीरे समझाते हुए बोले, "बेटा, मैं वहाँ का चाकर हूँ। वे हमारे स्वामी हैं। उनकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है, धर्म है।"

"होगा आपका धर्म; पर मैं तो किसी का चाकर नहीं।"

"जब पिता चाकर है तो पुत्र..."

मैं पूरे आवेश में आ गया। बीच में ही बात काटते हुए बोला, "आवश्यक नहीं कि पुत्र भी चाकर हो। आप सेवक हो सकते हैं, पर मुझे कौन सेवक बना

सकता है!" मैं जितने धड़ल्ले से बोल रहा था उतने ही धड़ल्ले से उपशाला के बाहर निकल आया।

क्रोध के विषैले धुएँ में बुद्धि भ्रमित हो जाती है। इस सत्य का मुझे उस समय अनुभव हुआ जब गंगातट की कटकटाती सर्दी में मेरे आक्रोश की ज्वाला ठंडी पड़ गई। अब मैं सोचने लगा कि मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। एकाध बार तो मन में ऐसा विचार आया कि अभी चलूँ और इस दुर्विनय के लिए पिताजी से क्षमा माँगूँ; पर ऐसा पता नहीं क्यों, कर नहीं पाया।

घंटों गंगा किनारे पश्चात्ताप के झकोरे में मेरा मन झोंके खाता रहा। ठिठुरी निस्तब्धता को चीरती यज्ञदत्त के घर से वेदपाठ की ध्वनि आ रही थी। लगता है, वह अपने मूर्ख लड़के को बार-बार वेद की आवृत्ति करा रहा था। फिर भी वह उसे कंठस्थ नहीं कर पा रहा था।

मैं एक शिलाखंड पर पैर लटकाकर बैठा था। गंगा का हिमानी जल मेरे पगों के कुछ ही नीचे था। मन कुछ और सोच रहा था और कान यज्ञदत्त के वेदपाठ पर लगे थे। धीरे-धीरे मैं भी आवृत्ति के स्वर में स्वर मिलाने लगा—

'अभयं मित्रात् अभयं अमित्रात् ज्ञातात् अभयं अभयं पुरोय:
अभयं नक्तम् अभयं दिवान: सर्वे आशां मम मित्रं भवन्तु।'

और बराबर स्वर मिलाता जा रहा था। पगों के साथ ही स्वरों के आरोह-अवरोह पर मेरी गरदन भी हिल रही थी। इस बीच मुझे लगा जैसे कोई जलजंतु तैरता हुआ मेरी ओर चला आ रहा है। छप-छप करते हुए जल के छींटे मुझ तक आ गए थे। मैंने जल्दी से पैर ऊपर उठा लिया। अरे, यह तो जलजंतु नहीं वरन् कोई ऋषि मालूम होते हैं, जो गंगा पार से तैरते चले आए हैं। उनकी श्यामवर्णी कृश काया उस हिम से भी शीतल जल को कैसे सह रही थी! आश्चर्य!

वे बाहर निकले। मेरी आवृत्ति चल रही थी, "अभयं मित्रात्…सर्वे आशां मम मित्रं भवन्तु।"

लंबे केश, दाढ़ी और श्मश्रु से आच्छादित उनकी आकृति नितांत तप:पूत लगी। मेरी आवृत्ति सुनकर वे बोले, "यह क्या कर रहे हो?"

इस गंभीर ध्वनि के समक्ष मैं जरा सा सहमा। फिर कहने लगा, "आवृत्ति के स्वर मिला रहा हूँ।"

"क्यों? तुम्हारा कोई गुरु नहीं है? बिना गुरु के आवृत्ति नहीं की जाती।"

"मुझे आवृत्ति की आवश्यकता भी नहीं है।" मेरा उद्धत व्यक्तित्व अचानक उभर आया।

"क्यों?"

"क्योंकि मैं सूतपुत्र हूँ, मुझे वैदिक मंत्रों से क्या लेना-देना।"

"तुम सूतपुत्र हो।" जल से भीगी, फिर भी कंपनहीन उनकी संपूर्ण काया जैसे मुझपर आश्चर्य कर बैठी। वह कुछ क्षणों तक अनवरत मुझे देखते रह गए, फिर वैसी ही गंभीरता से बोले, "तुझे कैसे मालूम कि वे वेद मंत्र हैं?"

मैं चुप था, बिलकुल चुप।

"कहते क्यों नहीं कि मेरा मन कहता है!" उसके व्यक्तित्व ने कुछ बोलने के लिए मुझपर दबाव डाला।

फिर भी मैं मौन था। मात्र भंगिमा से उनके कथन को स्वीकृति दी।

"इसका तात्पर्य है कि तेरे सूत तन के भीतर कोई संस्कारी व्यक्तित्व बैठा है, जो वेद मंत्र को उसकी ध्वनि से पहचान रहा है। तू बाहर से भले ही सूत हो, पर भीतर से नहीं।"

"किंतु भीतर कौन देखता है, महर्षि? सारा संसार तो बाहर देखता है।"

"भीतर केवल ऋषि दृष्टि पहुँचती है, वत्स।" इतना कहते ही वे जोर से हँस पड़े। मेरे मन पर छाया निराशा का धुंध कुछ-कुछ फटने लगा।

"क्या तुम वह मंत्र पुनः सुना सकते हो?"

मैंने सुनाना आरंभ किया, "अभयं मित्रात्...सर्वे आशां मम मित्रं भवन्तु।"

वे मुसकराते हुए बोले, "सर्वे आशां न होकर 'सर्वा आशां' होगा।"

"क्यों?"

"यह तुम्हारा गुरु बताएगा।" वह पुनः हँसने लगे।

"पर मुझे वेद पढ़ाना कौन स्वीकार करेगा? मुझे गुरु कहाँ मिलेगा?"

"उसे तो तुझे ही खोजना पड़ेगा, क्योंकि शिष्यत्व की प्रबल आकांक्षा ही गुरु खोज सकती है, कोई और नहीं।"

"किंतु मेरी जाति इसके लिए बाधक सिद्ध होगी।"

"पर तेरा संस्कार इसके लिए सहायक सिद्ध होगा।" इतना कहते-कहते उस अँधेरे सागर में उनका अट्टहास तैरने लगा। वे पल भर के लिए भी अब वहाँ नहीं रुके। तत्क्षण डुबकी लगाई और जिधर से आए थे उधर लौट चले। उन्होंने मुझे यह आग्रह करने का भी अवसर नहीं दिया कि आप ही मेरे गुरु हो जाइए।

मैं अब भी उन्हें देख रहा था। पानी में छप-छप करते वे तैर रहे थे और हवा में उनकी खिलखिलाहट। मेरे चारों ओर का अँधेरा अब हलका पड़ने लगा था; किंतु उसकी अनुभूति मुझे नहीं हुई। मैं चिंतन की विचित्र गहराई में डूबने लगा।

आखिर वह व्यक्ति कौन था? क्यों आया था? ऐसा तो नहीं कि वह कोई देवदूत हो, जो मेरे जीवन से हताशा को निकाल फेंकने के लिए आया हो?

यह अप्रत्याशित घड़ी मेरे जीवन की एक ऐसी घटना है, जो आज तक अबूझ पहेली बनी हुई है। जिसपर कदाचित् आप भी विश्वास न कर सकेंगे; पर मैं सच कहता हूँ, हुआ ऐसा ही।

उस घटना के बाद दबा-दबा और बुझा-बुझा मेरा 'स्व' नए क्षितिज की ओर निहारने लगा। उधर पूरब के आकाश में उषा झाँकने लगी।

तरह-तरह की बातें सोचता मैं वहाँ से उठा और आदित्य मंदिर की ओर चल पड़ा। मार्ग में ही मैंने देखा, राजपथ की ओर मेरे पिताजी का रथ घड़घड़ाता बढ़ा चला जा रहा था।

□

मध्याह्न जब घर आया, मुझे पता चला कि आज पिताजी बिना भोजन किए ही चले गए हैं। सूर्योदय के पूर्व ही उन्होंने शय्या-त्याग किया था और उसी समय स्नान कर रथ पर बैठ गए थे। रेवा ने बताया कि "आज पिताजी अत्यंत गंभीर थे। जब माँ ने इतनी जल्द तैयार होने का कारण पूछा तब वे बहुत ही झुँझलाते हुए बोले थे, 'मैं तो एक चाकर हूँ, आठों याम का सेवक। तुम उन्मुक्त प्राणी मेरी विवशता क्या जानो!' "

"तब माँ ने क्या कहा?" मैंने पूछा।

"वह कुछ नहीं बोली। केवल पिताजी की कुम्हलाई आकृति देखती रह गई।"

मैं समझ गया कि माँ के लिए यह संदर्भहीन वाक्य उलझन भरा रहा होगा; पर मेरे लिए इसकी सार्थकता स्पष्ट थी। मेरे मन में एक ही बात बार-बार गूँजती रही कि मुझे इतनी रुक्षता से पिताजी को उत्तर नहीं देना चाहिए था।

मैंने माँ के साथ ही भोजन किया; पर न मैंने माँ से कुछ कहा और न वही कुछ बोली। कई बार उसने मेरी ओर देखा, उसके होंठ भी हिले, फिर भी वह बोल नहीं पाई।

बाहर आकर मैं चुपचाप धूप में काष्ठ मंचक खींचकर लेट गया। कभी ऋषि-मिलन की आश्चर्यजनक स्थिति में मन खोता और कभी पश्चात्ताप की घुटन में ऊबता झपकियाँ लेने लगा। शशक चर्म की तरह मुलायम धूप बड़ी अच्छी लग रही थी। मैं सो गया।

कब तक सोता रहा, यह नहीं कह सकता। केवल याद है कि मेरी नींद उस

समय टूटी जब माला ने मेरी पीठ हिलाते हुए कहा, ''शिशिर में दिन में नहीं सोना चाहिए।''

यों तो आवरण के ऊपर से ही उसने मेरे तन का स्पर्श किया था, फिर भी वह मुझे बड़ा सुखद लगा; क्योंकि वय की वृद्धि के साथ-साथ हम दोनों के तन की दूरी अधिक और मन की दूरी कम होती जा रही थी। वह पीछे से आकर सहज भाव से जैसे पहले मेरी आँखें बंद कर लेती थी या तन से लिपट जाती थी, वह बात अब नहीं थी; फिर भी वह मेरे निकट अधिक थी। कदाचित् इसीलिए उसका एक स्पर्श भी मुझे पुलकित कर जाता था। मैंने जब मुड़कर देखा, उसके अधरों के बीच फूल खिल आए थे।

''तू हर बात के लिए मुझे बरजा ही करती है। कितनी विचित्र है तू! अब दिन में सोने से भी रोक रही है। आखिर क्या होता है शिशिर में दिन में सोने से?'' मैं बोल पड़ा।

''अवस्था घटती है।'' उसने कहा।

''मेरी अवस्था लेकर तू क्या करेगी?''

इतना सुनना था कि उसके कपोल आरक्त हो गए। उसकी लज्जा जब अधरों में मुसकराहट बनकर बिखरी तब उसने इतना ही कहा, ''राधेय, तेरी दुष्टता कभी जाएगी नहीं।''

थोड़ी देर के बाद उसने दूसरा प्रश्न किया, ''आजकल दिन भर तू करता क्या है? सुना है, बहुत सवेरे ही घर से निकल जाता है।''

''करूँगा क्या? वन्य जंतुओं की तरह उन्मुक्त विचरता हूँ और कभी-कभी आखेट के लिए दूर भी निकल जाता हूँ।''

''केवल विचरण करते हो, फिर भी मेरी ओर आने का अवसर नहीं मिलता! अरे, मनुष्य की तरह न आ सको तो वन्य जंतु की तरह ही आ जाया करो।'' उसके इस प्रहार का उत्तर मैं सोच ही रहा था कि वह पुनः बोल उठी, ''लगता है, तुम्हारी पशुता आजकल पुनः उभर आई है।''

मैं समझ नहीं पाया कि माला कहना क्या चाहती है। ऐसे कटु शब्दों का प्रयोग तो वह नहीं करती थी। मैं चकित सा उसका मुख देखने लगा। वह बोलती गई, ''यह पशुता ही थी कि तुमने आज अपने पिता की अवज्ञा कर दी।''

स्वाभाविक ही था कि मैं लज्जित होता। मेरा पश्चात्ताप इस शांति की प्रताड़ना से भीगकर और अधिक बोझिल हो गया। चुप रह जाने के अतिरिक्त मेरे पास कोई चारा नहीं था।

मुझे यह समझते जरा भी देर नहीं लगी कि माँ ने अपनी कातर विह्वलता माघी तक पहुँचा दी है। मैं चुपचाप उठा और कुछ टूटे स्वर में धीरे से बोला, "तुम ठीक कहती हो, माला।"

मंचक को मैं उपशाला में घसीटकर ले आया। रेवा से मँगाकर जल पिया। फिर विचरण की मुद्रा में निकल पड़ा। मैंने माला से पूछा, "गंगातट की ओर चलेगी?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"क्योंकि तू अब आखेटक है।"

"और तू मृगी।"

इस बार हम दोनों जोर से हँसे।

गंगातट पर आकर हम उसी शिला पर बैठ गए जहाँ उषाकाल में ऋषि से साक्षात्कार हुआ था। हमारी बातों का सिलसिला भी घूम-फिरकर उसी संदर्भ पर आकर जम गया। इस घटना से वह चकित थी। घंटों हम दोनों उसी पहेली को सुलझाने में लगे रहे। पर उलझी डोर का कहीं भी छोर नहीं मिला।

माला ने पूछा, "इसकी चर्चा तुमने अपनी माँ से की थी?"

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

"तुम अपने माता-पिता से भी बातें छिपाते हो। अच्छे लोग ऐसा नहीं करते।"

"मुझे अच्छा ही कौन कहता है, माला!" मेरी आवाज में मन की ऐसी टूटन थी कि वह कुछ नहीं बोली। हम लोग बड़े शांतभाव से गंगाधारा को देखते रहे। सूर्य पश्चिम की ओर ढुलकने लगा। गंगा के प्रशस्त वक्ष पर स्वर्णिम रेखाएँ खिंचने लगीं।

जब संध्या ने जल-समाधि ले ली और बर्फीली हवा तीर-सी चुभने लगी तब हम लोग वहाँ से चल पड़े। मार्ग में सारी गंभीरता बटोरते हुए माला ने कहा, "एक बात मानोगे?"

मैंने उसकी ओर देखा और फिर मुसकराया, जैसे यह कहना चाहता था कि भला बता मैंने तेरी कौन सी बात नहीं मानी है, जो तू पहले वचन ले लेना चाहती है। किंतु मुद्रा बदलते हुए मैंने एकदम दूसरी ही बात कही, "एक ही बात? लेकिन माला, तू जानती है कि साँप की जबान, हाथी के दाँत और नारी की बात कभी एक नहीं होती। वह सदा दो होती हैं।"

"पर इस बार एक ही होगी।"

"तो बता, मानूँगा तेरी बात।"

"तू पिताजी से क्षमा माँग ले। आज उन्हें बड़ी ठेस लगी है। कितने लाड़-प्यार से उन्होंने तुझे पाला है। क्या इसीलिए कि तू उनका तिरस्कार करे?"

मेरी ब्रीड़ा मौन में ही दुबककर रह गई। फिर भी उसका उपदेश बंद न हुआ। मैं सबकुछ सुनता रहा। जब अति हो गई तो मैं झुँझलाया, "मान तो गया तेरी बात, अब क्या सिर खाए जा रही है!"

"कौन खाएगा तेरा सिर? उसमें कुछ खाने योग्य हो तब तो! उसमें तो गोबर भरा है, गोबर।"

"जानती नहीं है, गोबर में सबसे अधिक उर्वरा शक्ति होती है।"

वह पुनः हँस पड़ी। तब तक पगडंडी का वह मोड़ आया जहाँ से उसके पुर को जाने के लिए दूसरा रास्ता फूटता था। वह मेरे सिर पर एक थाप लगाकर इठलाती हुई उधर चल पड़ी। मैंने अनुभव किया कि हम दोनों का रास्ता अलग-अलग है, फिर भी नियति हमें मिला ही देती है।

मुझे दूर से ही दिखाई दिया कि पिताजी उपशाला में बैठे माताजी से बातें कर रहे हैं। उन्हें देखते ही मेरी आँखें झुक गईं। पैर कुछ बोझिल अनुभव होने लगे। मैं सहमा-सहमा सा आगे बढ़ा।

निकट से पिताजी सामान्य ही दिखाई दिए। न उनकी आकृति पर कोई तनाव था और न किसी प्रकार की व्यग्रता। ऐसा लगा जैसे उन्होंने इस स्थिति के लिए पहले से ही स्वयं को तैयार कर लिया था और एक प्रकार की प्रकृतिस्थता ऊपर से ओढ़ ली थी। माँ अवश्य ही कुछ घबराई-घबराई सी दिखाई दे रही थी।

उपशाला में आकर मैं पिताजी के सामने चुपचाप सिर नीचा किए एक अपराधी की भाँति खड़ा हो गया। माँ मुझे देखती रह गई। पिताजी ने भी एक दृष्टि मुझपर सिर से पैर तक डाली, फिर ममत्व भरे स्वर में बोले, "क्या है, बेटा?"

"मुझे क्षमा कर दीजिए, पिताजी।" मेरी भीगी आवाज अभी वातावरण में लड़खड़ा ही रही थी कि मैंने झुककर उनके चरण पकड़ लिये। उन्होंने तत्क्षण मुझे उठाकर छाती से लगा लिया। मैंने अनुभव किया, उनकी आँखें टपकने लगी थीं।

☐

ठीक इसके दूसरे दिन।

दो प्रहर दिन चढ़ते-चढ़ते हरहराता रथ मुझे हस्तिनापुर ले आया। प्रासाद के सम्मुख विशाल उद्यान में मुझे छोड़कर पिताजी स्यंदनागार की ओर रथ खड़ा करने चले गए। मेरे आसपास कोई नहीं था। तरु शाखाओं पर पक्षी चहचहा रहे थे।

सामने खड़े राजभवन की भव्यता मेरी अकिंचनता पर असफल आतंक जमा रही थी। मैं आगे बढ़ूँ, इसके पहले ही मेरी दृष्टि काफी दूर प्रासाद के प्रवेशद्वार पर पड़ी। पुरानी कहानियों में कृपण के धन पर बैठे नाग की तरह प्रहरी सावधान और सजग दिखाई दिए। स्मृति अचानक कौंध गई। मुझे भीमसेन का अपमान याद आया और आगे बढ़े पग एकदम रुक गए।

वह गौर से देखती रही। फिर मेरी ओर संकेत कर उसने अपनी परिचारिकाओं से कुछ कहा। अब तक मैं भी समझ गया था कि यह भीम की माँ कुंती है। मैंने तत्क्षण उसकी ओर से निगाह फेर ली। भीम के दुर्व्यवहार का ही यह परिणाम था। पर कुंती ने तो मेरे साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया था, फिर उसके प्रति मेरी घृणा क्यों? किंतु आज सोचता हूँ कि घृणा वह विषैला धुआँ है, जो भले ही किसी कोण से उठा हो, पर शीघ्र ही पूरे प्रकोष्ठ को विषाक्त कर देता है। आज कुंती भी मुझे उसी धुएँ में डूबी दिखाई दी। तभी तो मैंने उसे देखना पसंद नहीं किया।

इसी बीच मेरे पिताजी आ गए।

"अरे, तुम यहीं खड़े हो?" उन्होंने आते ही पूछा।

"मैं राजभवन में नहीं जाऊँगा।"

"ऐसा क्यों कहते हो, बेटा? तुम्हें तो राजकुमार ने बुलाया है।"

"बुलाया तो भीम ने भी था।"

"किंतु राजभवन का यह भाग पांडवों का नहीं है, यहाँ तो कौरव रहते हैं।"

"मेरे लिए पांडवों और कौरवों में कोई अंतर नहीं है, जैसे नागनाथ वैसे ही साँपनाथ।"

"यह बात नहीं है, बेटा।" पिताजी मेरी अज्ञता पर हँस पड़े थे। उन्होंने अत्यंत संक्षिप्त ढंग से राजभवन में चल रही राजनीति का संकेत किया और बताया कि यहाँ तुम्हारा निरादर नहीं होगा।

फिर भी मैं अपने पिता का मुँह देखता रह गया, जैसे मेरा मन कहना चाह रहा हो, 'राजभवन की राजनीति से मुझे क्या लेना-देना है?' और पिताजी की झुकी आँखें अपनी मूकता में ही उत्तर दे रही हों, 'मैं यहाँ का चाकर हूँ, बेटा। राजकुमार की आज्ञा मानना हमारी विवशता है।'

मैं चुपचाप उनके साथ आगे बढ़ा। उद्यान के मध्य से सीधा मार्ग प्रासाद के प्रवेश स्थल तक जाता था। दोनों ओर विशाल पुष्करिणियाँ थीं, जिनमें खिले हुए कमलों के बीच हंसों के कई जोड़े कल्लोल कर रहे थे; पर मेरी दृष्टि जरा भी उस ओर नहीं उलझी। मैं तो सामने खड़े प्रहरियों को ही देखता आगे बढ़ा चला

जा रहा था।

द्वार पर पहुँचते ही प्रहरियों में से एक ने स्पष्ट रूप से तो मुझे नहीं रोका, किंतु पिताजी से वह पूछ ही बैठा, ''यह कौन है, अधिरथ?''

''मेरा पुत्र है। राजकुमार ने इसे बुलाया है।'' पिताजी ने बड़े अभिमानपूर्वक कहा।

वह विस्फारित नेत्रों से मुझे देखता रहा, जैसे उसे विश्वास ही न हो कि मैं अधिरथ का पुत्र हूँ। उसकी विशेष दृष्टि मेरे कुंडलों पर थी। पिताजी बिना कुछ कहे-सुने मुझे लेकर आगे बढ़े। अब उसकी तंद्रा टूटी। उसने कहा, ''रुकिए। मैं अभी सूचना देता हूँ।''

''क्यों? क्या भीतर कोई मंत्रणा हो रही है?''

वह कुछ नहीं बोला। सीधे विश्रामकक्ष में चला गया और क्षण भर में लौटकर मुसकराते हुए बोला, ''आप जा सकते हैं।''

मुझे राजभवन का यह शिष्टाचार बहुत अच्छा नहीं लगा। फिर भी, बिना किनमिनाए मैं पिताजी के साथ चल पड़ा।

कक्ष में प्रवेश करते ही पिताजी ने झुककर अभिवादन किया, पर मैंने सामान्य ढंग से ही प्रणाम किया। मुझे देखते ही दुर्योधन मंचक से उठकर खड़ा हो गया, ''बड़ा अच्छा किया, अधिरथ, जो आज तुम अपने पुत्र को ले आए। आओ भाई, तुम यहीं बैठो।'' इतना कहकर उसने मेरी बाँह पकड़कर अपनी बगल में बैठा लिया। राजसी गद्दे पर बैठने का यह मेरा पहला सौभाग्य था।

''आप तो पिताजी के यहाँ जाएँगे। जाइए, राधेय को यहीं छोड़ दीजिए।'' दुर्योधन ने पिताजी से कहा और पिताजी मस्तक झुकाकर प्रसन्नतापूर्वक चलते बने।

दुर्योधन के अतिरिक्त दो व्यक्ति वहाँ और बैठे थे। एक का वय यौवन पार कर चुका था। श्वेत उष्णीष के नीचे से अधपके बाल झलक रहे थे। वे हम लोगों के सामने एक उच्च गद्दीदार काष्ठासन पर बैठे थे, जिनकी दोनों भुजाएँ हाथीदाँत की बनी थीं। दूसरे व्यक्ति राजसी भूषा में ठीक हमारे निकट ही थे। बातों के क्रम में इस भव्य व्यक्तित्व को दुर्योधन 'मामाजी' से संबोधित कर रहा था। मुझे यह समझते जरा भी कठिनाई नहीं हुई कि यह शकुनि है।

कुछ ही समय बाद मैं यह भी समझ गया कि सामने बैठे प्रौढ़ व्यक्ति राजज्योतिषी सुवर्चा हैं। निश्चित है कि मेरे पहुँचने के पूर्व वहाँ हस्तिनापुर के भविष्य के बारे में ही मंत्रणा हो रही थी; किंतु मेरी उपस्थिति में बातें दूसरी ओर मुड़ गईं।

दुर्योधन ने मेरा परिचय कराते हुए कहा, ''यह अधिरथ का पुत्र है।''

''अधिरथ का पुत्र!'' इतना कहते हुए वे एकटक मुझे देखने लगे। ऐसा लगा जैसे मेरे ललाट पर किसी स्पष्ट लिपि की खोज कर रहे हों। कुछ क्षणों तक विचित्र निस्तब्धता मुझे घेरे बैठी रही। किंतु उनके मुख से पुनः निकला, ''अधिरथ का पुत्र!''

दुर्योधन मुसकराया। उसने कहा, ''क्यों, विश्वास नहीं हो रहा है क्या?''

''हाँ, बात कुछ ऐसी ही है।'' बड़ी गंभीरता से उन्होंने मुझसे कहा, ''बेटा, जरा अपना हाथ तो दिखाओ।''

मैंने अपनी दाहिनी हथेली उनकी ओर बढ़ा दी। कुछ देर तक उन्होंने उलट-पलटकर बड़े ध्यान से देखा। फिर करतल के हर भाग का स्पर्श किया और दूसरे हाथ को भी दिखाने का संकेत किया। अब मैंने बाईं हथेली भी उनकी ओर बढ़ा दी। उन्होंने हाथ दबा-दबाकर कुछ बारीक रेखाओं का अध्ययन करना चाहा। इसी बीच पीछे मुड़कर उन्होंने वातायन की ओर दृष्टि डाली। उसपर झिलमिलाता क्षौम (रेशमी) आवरण था। स्पष्ट था कि ज्योतिषाचार्य को जितने प्रकाश की आवश्यकता थी उतना पा नहीं रहे थे।

''आवरण हटवा दिया जाए क्या, ज्योतिषीजी?'' दुर्योधन ने पूछा।

''यदि हटवा दिया जाता तो मुझे कुछ अत्यंत सूक्ष्म रेखाएँ देखने में सरलता होती।''

दुर्योधन ने करतल ध्वनि की। पल भर में परिचारक ने आकर परदा हटा दिया। पश्चिम की ओर कुछ-कुछ ढुलका सूर्य वातायन से झाँकने लगा।

अब ज्योतिषाचार्य ने बड़ी गंभीरता से कहा, ''तुम अधिरथ के पुत्र तो नहीं मालूम होते।''

''क्यों, ज्योतिषीजी? हाथ में पिता का नाम भी लिखा रहता है क्या?'' शकुनि ने मुसकराते हुए पूछा।

''नहीं, पिता का नाम तो नहीं लिखा रहता; पर पितृरेखा इतनी प्रबल है कि इसके पिता को कोई अत्यंत प्रतापी पुरुष होना चाहिए। उसे रथ नहीं हाँकना चाहिए।'' इतना कहकर वे पुनः मेरे मुख की ओर देखने लगे और बड़े आश्चर्य से कुंडलों को हाथ से छूते हुए पूछा, ''यह कुंडल तुझे किसने पहनाया है?''

''मेरी माँ ने।''

''तेरी माँ ने!'' पल भर के लिए विस्मय से उनका मुख खुला-का-खुला रह गया। वह कुछ और सोचें या कहें, इसके पहले ही शकुनि बोल पड़े, ''कदाचित्

आप भूल गए हैं कि आप जौहरी नहीं, ज्योतिषाचार्य हैं। कुंडल न देखकर यदि आप इसके हाथों की रेखाएँ ही देखें तो अधिक अच्छा हो।''

मुसकान से भीगे इस व्यंग्य का आघात ऐसा अचानक था कि सुवर्चा एकदम सकपका से गए। मुझे अच्छी तरह याद है, उनकी आकृति पर क्रीत आचार्य की विवशता भरी लज्जा उभर आई थी। वे पुन: गौर से मेरी हस्तरेखाएँ देखने लगे और बोले, ''इस बालक की सूर्य रेखा अत्यंत शक्तिशाली है। इतनी प्रबल रेखा तो मैंने बड़े-बड़े प्रतापी राजाओं और महाराजाओं के हाथों में भी नहीं देखी है। आप ही देखिए।'' इतना कहकर उन्होंने मेरी हथेली हाथों से पकड़े हुए ही शकुनि को दिखाई और कहा, ''सीधे मणिबंध से निकलकर सूर्य के पर्वत पर चली जाती है। कहीं भी कटी नहीं, कहीं भी दुर्बल नहीं।''

''क्यों ? मेरी भी तो सूर्य रेखा ऐसी ही है।'' बीच में ही दुर्योधन ने टोकते हुए अपनी हथेली बढ़ा दी।

मैंने देखा, सुवर्चा जिसे सूर्य रेखा बता रहे थे वह दुर्योधन की मुझसे प्रबल नहीं थी, फिर भी उन्होंने उसकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हुए कहा, ''आपके हाथ में तो है ही, राजकुमार। मेरा तो कहना है कि ऐसी रेखा किसी सूतपुत्र की नहीं देखी।''

मैंने अनुभव किया कि शकुनि की भी दृष्टि मेरी हथेली पर लगी थी।

ज्योतिषाचार्य भविष्यफल बताते जा रहे थे, ''बल्कि इसकी शनि रेखा सूर्य रेखा से दुर्बल है। इसलिए सूर्य रेखा का संपूर्ण फल शायद इसे प्राप्त न हो।''

''किंतु ज्योतिषीजी, शनि तो सूर्य का पुत्र है। यदि पिता सबल रहेगा तो पुत्र की दुर्बलता क्या करेगी ?'' शकुनि ने कहा।

सुवर्चा जोर से हँसे और बोले, ''यह राजनीति नहीं है, महाराज, ज्योतिष है।''

सुवर्चा का उन्मुक्त हास कुछ ऐसा था, जो साफ कह रहा था कि जिस विषय को न जाना जाए उसमें टाँग नहीं अड़ानी चाहिए। शकुनि कुछ झेंप भी गए। उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया कि मेरे व्यंग्य का बदला इस खुर्राट पंडित ने ले लिया।

अब भी सुवर्चा की दृष्टि मेरी दोनों हथेलियों पर थी। वे कुछ रुक-रुककर बोलते जा रहे थे। ''सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार दक्षिण करतल में व्यक्ति का अर्जित कर्म होता है और वाम में उसका संसार। इसके संस्कार भी बड़े उच्च हैं; किंतु अधिरथ···'' इतना कहते-कहते वे रुक से गए।

''हाँ-हाँ, कहिए। यही न कि अधिरथ से इसकी नहीं पटेगी।'' दुर्योधन ने

कहा।

"नहीं, नहीं। ऐसी बात तो नहीं है। गुरु और सूर्य का पर्वत इतना विशाल है, साथ ही एक पर ऊर्ध्व रेखा और दूसरे पर त्रिशूल है। इसका यह तात्पर्य है कि यह युवक अत्यंत महत्त्वाकांक्षी होने के साथ-ही-साथ नितांत कृतज्ञ भी होगा। दूसरे के किए गए उपकार को यह कभी नहीं भूलेगा। तब भला ऐसा व्यक्ति अपने पितृऋण से स्वयं को उऋण कैसे समझेगा!"

"तब आप अधिरथ कहकर चुप क्यों हो गए थे?"

"इसलिए कि बहुत सी सोची हुई बातें राजाओं और राजकुमारों को बतानी नहीं चाहिए।" सुवर्चा मुसकराते हुए बोले।

"क्यों?" दुर्योधन ने जिज्ञासा प्रकट की।

"क्योंकि वे बहुत सी बातों पर आवश्यकता से अधिक सोचना प्रारंभ कर देते हैं।" इतना कहकर सुवर्चा जोर से हँस पड़े। बड़ा विचित्र था उनका अट्टहास। ऐसा लगा जैसे उन्होंने बात टालने के लिए अस्वाभाविक हँसी का सहारा लिया।

मैं तो कुछ समझ नहीं पाया। दुर्योधन की अप्रत्याशित आत्मीयता और राजसी शिष्टाचार के प्रति अज्ञात ने मेरी वाचालता का गला ही घोंट दिया था। मैं मूक श्रोता बना बैठा था। पर इस समय शकुनि और दुर्योधन भी मुसकराते हुए चुप थे। ऐसा लग रहा था कि ज्योतिषाचार्य का यह कथन उनके सामने भी रहस्य बनकर रह गया है।

"अच्छा, सारी बातें जाने दीजिए, एक बात बताइए।" दुर्योधन ने वातावरण पर एक विचित्र गंभीरता ओढ़ा दी।

"क्या?"

"इससे मेरी मित्रता निबह सकेगी कि नहीं?"

"मित्रता! स्वामी और सेवक की मित्रता! राजकुमार और सूतपुत्र की मित्रता! क्या बात करते हैं आप!" सुवर्चा आश्चर्यचकित थे।

किंतु दुर्योधन की वाणी की गंभीरता जरा भी कम नहीं हुई, "इसे राजकुमार से सूतपुत्र की मित्रता की दृष्टि से मत देखिए, ज्योतिषाचार्यजी, वरन् एक प्रतापी से प्रतापी की मित्रता की दृष्टि से देखिए।"

शायद यह पहला अवसर था, जब मैंने अपने लिए एक सम्मानजनक शब्द सुना था। अनवरत जलते रहनेवाले मेरे मानस पर जैसे हिमपात हुआ। मुझे लगा कि इस संसार में मेरे लिए केवल दुराव, घृणा और तिरस्कार ही नहीं है वरन् आत्मीयता भी है। मैं अनिर्वचनीय संतोष का अनुभव करने लगा और सुवर्चा के

कथन की प्रतीक्षा में उनकी मुखाकृति देखता रहा।

"आप दोनों की हस्तरेखाओं से तो यह बता पाना कठिन है। यदि राधेय के जन्म लग्न का पता चले तो कुछ स्पष्ट कहा जा सकता है।"

इस संदर्भ में दुर्योधन ने मेरी ओर देखा; किंतु मेरे मौन ने ही अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। बात उस समय आई-गई और समाप्त हो गई।

लगभग घड़ी भर बाद ही मेरे पिताजी कक्ष में पधारे।

उन्हें देखते ही ज्योतिषाचार्य ने कहा, "अधिरथ, तुम अपने पुत्र का जन्म लग्न बता सकते हो?" पिताजी को असमंजस में पड़ा देखकर उन्होंने स्वयं को अधिक स्पष्ट किया, "यह बालक किस नक्षत्र में कब और कहाँ पैदा हुआ है? जरा सोचकर ठीक-ठीक बताना।"

पिताजी ने विवशता से बोझिल मुसकराहट के बीच कहा, "यह तो नहीं बता सकता, पंडितजी!"

"ओह! तो न तुम्हारा पुत्र बता सकता है और न तुम ही।" आश्चर्य के दायरे में घूमते हुए सुवर्चा बोलते रहे, "तब यह इसकी माँ से ही पता चलेगा।"

पर पिताजी चुप थे, बिलकुल चुप। उनकी आकृति पर असमर्थता की रेखाएँ उभर आई थीं। सुवर्चा ने एक बार उनकी ओर देखा और बोले, "क्या बात है, अधिरथ, मैं इस रहस्य को समझ नहीं पा रहा हूँ।

"ऐसा तो नहीं कि इसकी माँ आश्रमों में जाती रही हो!" एक कुटिल मुसकराहट सुवर्चा के अधरों से छूटकर पिताजी के अधरों में बाण की तरह बिंध गई। भीतर से छटपटाते हुए भी वह चुप थे।

सुवर्चा ने पुन: मेरी हस्तरेखाओं पर दृष्टि डाली और कहा, "अवश्य ही यह ऋषिपुत्र है।"

"हो सकता है।" पिताजी बहुत धीरे से बोले।

"तब अवश्य ही इसकी माँ आश्रमों में जाती रही होगी। आजकल ग्रामीण युवतियों और अप्सराओं ने आश्रमों में भी अपना जाल फेंकना आरंभ कर दिया है।" इतना कहते-कहते उसके बीभत्स हास से पूरा कक्ष आंदोलित हो उठा।

मैंने देखा, पिताजी कुछ बोलना चाहकर भी बोल नहीं पा रहे थे। उनकी आँखें नीची थीं। ज्योतिषाचार्य की हँसी अब भी गूँज रही थी कि अचानक सारी खिलखिलाहट एक सहमी-सहमी घबराहट में बदल गई। सुवर्चा स्वयं हड़बड़ाकर खड़े हो गए। इसके बाद शकुनि और दुर्योधन भी उठने लगे। मैंने घूमकर द्वार की ओर देखा, कुंती आ रही थी। पिताजी ने झुककर प्रणाम किया।

"क्या कह रहे थे, ज्योतिषाचार्यजी ?" बड़ी तेजस्विता थी उसकी वाणी में।
पंडितजी एकदम सकपकाए से बोले, "कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

"कुछ तो अवश्य था।"

"यही...कि...आजकल ग्रामीण युवतियाँ और अप्सराएँ आश्रमों में..."

"केवल आश्रमों में ही, राजभवनों में नहीं ?"

इतना कहते हुए उसने एक तीखी दृष्टि शकुनि पर डाली। मेरे निकट आकर वह मेरे सिर पर बड़े प्यार से हाथ फेरते हुए बोली, "पंडितजी, कितना सरल है किसी नारी को लांछित करना! कैसी विडंबना है इस संसार की! एक नारी की साधारण सी भूल उसके जीवन पर ही नहीं, वरन् उसकी संतति पर भी कलंक बनकर छा सकती है और पुरुष बड़ी-से-बड़ी भूल करने के बाद भी समाज का अधिष्ठाता बना रहता है।"

"इसमें हम क्या कर सकते हैं, महिषी ? यह तो पुरुषों पर भगवान् की कृपा है।"

"आखिर भगवान् भी तो पुरुष हैं।" निश्चय ही उसके नारीत्व को कहीं-न-कहीं चोट लगी थी, उसका मातृत्व छटपटा उठा था। फिर भी वह शांत दीख रही थी।

इतना कहने के बाद उसकी मुद्रा एकदम बदली, मानो वह किसी नशे से अचानक जाग उठी हो। उसने फौरन मेरे सिर पर से हाथ हटा लिया, जैसे मैं अस्पृश्य होऊँ और पहले उसे इसका भान ही न रहा हो।

"क्षमा कीजिएगा। मैं बिना अनुमति और बिना प्रयोजन के यहाँ तक चली आई।" इतना कहकर वह अचानक लौट पड़ी। जाते हुए उसकी आवाज सुनाई पड़ती गई, "मैं कितनी विचित्र हूँ! समझ नहीं पाई कि यहाँ क्यों चली आई! कौन सा मोह मुझे खींच लाया!"

वह विशाल कक्ष में इतनी तेजी से बढ़ी चली जा रही थी कि क्या बताऊँ। उसका फड़फड़ाता श्वेत अंचल अब तक मेरी दृष्टि में स्पष्ट है।

पश्चिम की ओर पूरी तरह झुके सूर्य की मुलायम धूप जब प्रासाद कलश पर स्वर्णिम रंग चढ़ाने लगी तब हम उस कक्ष से बाहर निकलकर उद्यान प्रांगण में आए। दुर्योधन मेरे साथ था। पिताजी कुछ पहले ही महाराज धृतराष्ट्र की ओर चले गए थे, जो अभी तक आए नहीं थे। मैं घर लौटने की मुद्रा में था।

दुर्योधन के साथ ही मैं उद्यान में टहलने लगा। दो बातों का उसे विशेष ज्ञान था, एक तो यह कि हम लोगों ने भीम के प्राणों की रक्षा की थी और दूसरी यह कि

उसने ही हमारा गंभीर तिरस्कार किया है। अतएव उसका स्वार्थ मुझे अपना बनाना चाहता है। शायद इसीलिए उसने इतना अहं मेरे ऊपर उड़ेल दिया था। इससे मेरे अहं को बड़ा संतोष मिल रहा था।

बातों के ही क्रम में उसने कुछ ऐसी सूचनाएँ दीं जिनका मुझे ज्ञान नहीं था। मैं 'हाँ-हूँ' करता सबकुछ सुनता रहा। अंत में वह विचित्र ढंग से मुँह बनाते हुए बोला, ''देखा उस अग्निशिखा को?''

मैं समझ नहीं पाया। मेरा मौन प्रश्नवाचक मुद्रा में स्थिर हो गया।

उसने पुनः समझाते हुए कहा, ''अरे वही, जो हम लोगों की बातों के बीच वज्रपात की तरह धमक पड़ी थी।''

मैं अब समझा।

''वही है न कुंती, भीम की माँ। क्या तुम उसे नहीं जानते?'' दुर्योधन ने पूछा।

''उसी धधकती अग्नि का एक अंगार है, भीम। और दूसरा अंगार तो ऐसा है जिसपर राख ही नहीं जमती।'' बिना पूछे ही उसने बताया, ''और वह है अर्जुन।''

प्रस्तुत संदर्भ पूरा हो, इसके पहले ही पिताजी आ गए और मैं अभिवादन कर उनके साथ चल पड़ा।

□

पाँच

इस चित्र में मैं आश्रम में प्रवेश पाने की चेष्टा करता दिखाई पड़ रहा हूँ। वस्तुत: मैं कौशिक के आश्रम तक जाता अवश्य था, उसमें प्रवेश भी करता था, वहाँ के ब्रह्मचारियों से मिलता था, स्वयं आचार्य के स्नेह का प्रसाद भी पाता था; पर शिक्षा के निमित्त मेरे लिए द्वार बंद था। सूतत्व के हीन भाव की कारा में बंदी मेरा 'मैं' शिक्षा के अधिकार से दूर था, बहुत दूर था।

विचित्र विडंबना थी। जब महान् और पुनीत परंपराएँ टूटती चली जा रही हों, आश्रम के संकेतों पर चलनेवाली राजनीति जब स्वयं इन विद्या केंद्रों की संचालिका बन बैठी हो, तेज और तपस्या का अधिष्ठाता ब्राह्मण जब राजवैभव का मुखापेक्षी हो गया हो, जनता के कुशल-क्षेम के लिए स्वयं को समर्पित कर देने वाला राजकर्म आपसी संघर्ष, स्वार्थ एवं तनाव का केंद्रबिंदु बन गया हो तब भी जातीय प्राचीरों में जरा भी दरार नहीं पड़ी थी वरन् वह और अधिक प्रौढ़ होती चली जा रही थी। बँदरिया के मरे बच्चे की तरह समाज उसे अपनी छाती से चिपकाए हुए था।

इन जातीय दीवारों पर मेरा अहं अपना सिर पटकता और छटपटाता रहा। अद्‌भुत था। भिक्षाटन में मैं ब्रह्मचारियों के साथ जाता था, आचार्य की सेवा में भी मैं उनका हाथ बँटाता था; किंतु मैं शिक्षा का भागी नहीं हो सकता था। शास्त्र जैसे मेरे लिए अस्पृश्य ही था। केवल शस्त्र का ही मेरी प्रतिभा और शक्ति स्पर्श कर सकती थी; किंतु शस्त्र परीक्षण की व्यवस्था सभी आश्रमों में नहीं थी। इसके लिए मैंने आचार्य अग्निवेश्य का नाम सुना था। पर वहाँ तक पहुँचना मेरे सामर्थ्य से बाहर था। फिर भी शस्त्र-संचालन की मेरी जन्मजात प्रवृत्ति थी। आखेट के लिए और आत्मरक्षार्थ मैंने औरों को देख-सुनकर कुछ अभ्यास कर लिया था।

दूसरी ओर मेरा लगाव कौरवों से भी बढ़ता जा रहा था। दुर्योधन की सारी

आत्मीयता के बाद मैं अधिरथ का ही पुत्र था न। केवल एक सेवक का पुत्र। वह भी पालित। मेरी यही हीन भावना हस्तिनापुर की ओर मेरा पग बढ़ने नहीं देती थी। फिर भीम के दुर्व्यवहार के प्रति मेरा आक्रोश था ही। वह जब भी मुझे दिखाई देता, पता नहीं किस अहम्मन्यता में डूबा-डूबा। मैं भी उसके बगल से मुँह फेरकर निकल जाता था। पांडुपुत्रों से न तो मेरा साक्षात्कार हो पाता था और न मैं उसके लिए इच्छुक ही था।

इसीलिए राजधानी से कहीं अधिक वन्य जीवन मुझे प्रिय था। बाधाओं और सीमाओं के रहते हुए भी मुझे शांति मिलती थी।

मैं ब्राह्म मुहूर्त में ही आचार्य कौशिक के आश्रम की ओर चल पड़ता था। लगभग अर्द्ध योजन दूर इस आश्रम तक पहुँचते-पहुँचते आकाश पर अरुणिमा उभरने लगती थी।

एक दिन एक विचित्र बात हुई।

अभी मैं आश्रम के निकट ही पहुँचा था। दूर से ही सुनाई पड़नेवाली वेद ध्वनि आज मौन थी। स्पष्ट था कि प्रात:कालीन अग्निहोत्र समाप्त हो गया था। धूम-सुरभि धीरे-धीरे कानन में फैलने लगी थी। इसी बीच उत्तरी पहाड़ी की ओर से वन्य पशुओं की अद्‌भुत ध्वनियाँ सुनाई पड़ने लगीं। वृक्ष पर चहकते विहग भयग्रस्त हो चीखते अचानक उड़ पड़े। और तभी सिंह की भीषण दहाड़ से जंगल काँप उठा। मैंने पलक मारते ही अपना धनुष-बाण सँभाला और आश्रम की ओर लपका। मैंने देखा कि एक मृग का पीछा करते-करते एक सिंह आश्रम के परिसर की ओर छलाँग मार चुका है। इसके पहले कि वह मृग को दबोच बैठे, मेरा एक सनसनाता तीर जाकर उसकी कटि में बिंध गया। वह वहीं दहाड़ मारकर गिर गया।

अब आश्रम के ब्रह्मचारियों में खलबली मची। वे घायल सिंह की ओर दौड़े। वह दहाड़ पर दहाड़ मारे जा रहा था; पर उसकी कमर टूट चुकी थी। वह उठ नहीं सकता था, फिर भी कोई उसके सामने आने का साहस नहीं कर रहा था। मैं भी चुपचाप आश्रम के बाहर एक ऊँचे टीले पर झोंपड़ियों में छिपकर तमाशा देखने लगा।

मैं देख रहा था कि सभी ब्रह्मचारी दूर-दूर से ही उसे देख रहे हैं। निकट पहुँचने का किसीमें साहस नहीं है। बँधी हुई गायें रँभा रही हैं। मृग तो परिसर छोड़कर ही भाग गए हैं।

अब आचार्यजी भी अपनी कुटिया के बाहर निकलते दिखाई दिए। मुझे

आश्चर्य था कि इतनी देर तक वे भीतर कैसे रह गए। कदाचित् योग मुद्रा में बाह्य जगत् का उन्हें ज्ञान ही न रहा हो।

"इसे किसने बाण मारा है?" आते ही आचार्य ने पूछा।

सिंह की अनवरत दहाड़ के बीच उनका प्रश्न जैसे खो गया। उन्होंने चारों ओर अपनी दृष्टि घुमाई और जहाँ तक संभव हो सका, प्रत्येक ब्रह्मचारी की भयातुर आकृति पर अपने प्रश्न का उत्तर खोजा। फिर बोले, "राधेय कहाँ है?"

"वह तो दिखाई नहीं दिया।" एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी ने कहा। इनकी अवस्था भी सबसे अधिक थी और इन्होंने जीवन भर ब्रह्मचारी रहने का व्रत ले लिया था।

"तब इतना अचूक लक्ष्यभेद करनेवाला कौन हो सकता है?"

आचार्य का इतना कहना था कि मुझे लगा जैसे किसीने मेरी पीठ थपथपाई है। मैं अचानक उठकर खड़ा हो गया। बड़ी शीघ्रता से झाड़ी से बाहर निकलकर आश्रम के प्रवेशद्वार की ओर दौड़ा।

मैं अभी आश्रम के परिसर में प्रवेश कर ही रहा था कि आचार्य की तर्जनी मेरी ओर उठी और वे चिल्ला उठे, "अरे देखो, राधेय आ रहा है।"

मेरे हाथ में धनुष-बाण था ही, सबने समझ लिया कि प्रहार मैंने ही किया है। मैं मारे उत्साह के सिंह के बगल से निकल रहा था। उसने वहीं पड़े-पड़े एक पंजा मेरी ओर चलाया भी; किंतु मैं उछलकर बच गया। लोग 'हाय-हाय' करके रह गए। एक बार फिर मेरा क्रोध उबाल खा गया। मैंने बहुत निकट से उसके दोनों पंजों को दो और बाणों से बेकार कर दिया। अब दहाड़ मारने के अतिरिक्त वह कुछ नहीं कर सकता था।

मैंने आगे बढ़कर आचार्य के चरणस्पर्श किए।

"इस सिंह पर प्रहार कर तुमने इसे गिराया है?" उन्होंने पूछा।

बड़े स्वाभिमान से मैंने स्वीकार में सिर हिलाया।

आचार्य ने अपने शिष्यों की ओर गंभीरता से देखा, मानो वे कह रहे हों, देखा, मेरा अनुमान ठीक निकला न। फिर वह मेरी ओर मुख करके बोले, "तब तुमने इसे मार ही क्यों नहीं डाला?"

"मैं तो अवश्य मार डालता, पर शर-संधान के पूर्व ही यह आश्रम क्षेत्र में आ चुका था।"

"इससे क्या हुआ?"

"क्यों? आपने ही बताया था कि आश्रम परिसर में किसी जीव की हत्या नहीं करनी चाहिए।" मैंने कहा।

''पर तेरा प्रहार तो इसके लिए हत्या से भी कहीं अधिक भयानक है।''

''क्यों नहीं ? मृत्यु तो इसे जीवन से ही मुक्ति दिला देती। और मैं इसे पीड़ित और छटपटाता देखना चाहता हूँ।''

''आखिर तू इतना क्रूर और निष्ठुर क्यों है ?''

''क्योंकि यह भी क्रूर और निष्ठुर है। यह निरपराध मृग पर झपट रहा था।''

''यह तो इसका जीवधर्म है, पशु प्रवृत्ति है।''

''तो यह मेरी भी प्रवृत्ति है कि अपराधी को दंड दूँ।'' मैं एकदम भूल गया था कि मैं आचार्य से बातें कर रहा हूँ। सभी मेरी ओर चकित से देख रहे थे। कदाचित् उन्हें विश्वास नहीं था कि कोई शिष्य भी समानता के धरातल पर इस निर्भयता से बातें कर सकता है। पर आचार्य की आकृति पर ऐसा कोई विस्मय नहीं था। उन्होंने मेरी बातें सुनने पर सामान्य गंभीरता से कहा था, ''अपराधी को दंड देना तो क्षत्रियों का कार्य होता है, तू तो…''

इतना सुनना था कि मुझे ऐसा लगा जैसे मैं आकाश से धरती पर गिर पड़ा हूँ। मेरी आँखें नीचे हो गईं। मेरा सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। मैं क्या कहूँ, कैसे कहूँ, कुछ सोच नहीं पाया। इच्छा हुई कि मैं आचार्य के सामने से भाग चलूँ और पीड़ित सिंह के कान के निकट पहुँचकर जोर से चिल्लाऊँ, 'मुझसे भूल हो गई। मुझे क्षमा करो। अपराधी को दंड देने का मुझे कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मैं क्षत्रिय नहीं हूँ।'

भावातिरेक की आँधी में मन उड़ जाने पर भी तन टस से मस न हुआ। मैं आचार्य के सामने मौन खड़ा रहा। अन्य ब्रह्मचारी मुझे देखते रहे। सिंह की दहाड़ अपनी असमर्थता पर सिर धुनती रही। थोड़ी देर बाद आचार्य बिना किसीसे कुछ कहे यज्ञशाला की ओर बढ़े। उन्होंने संकेत से मुझे पीछे-पीछे आने को कहा।

हवनकुंड में अब भी अग्नि सुलग रही थी। धूम के ऊपर उठती प्रकंपित शिखा पत्रों से छाई यज्ञशाला से छन-छनकर अनंत में विलीन हो रही थी। कभी-कभी वायु का झोंका उस धूम स्तंभ को जोर से झकझोरकर बिखरा देता था।

यज्ञकुंड के निकट ही आचार्य कुशासन पर बैठ गए और मुझे सामने बैठने का संकेत किया। कुछ समय तक हम दोनों चुपचाप बैठे रहे। वे मुझे अनवरत देखते रहे, जैसे उनकी गूढ़ दृष्टि मेरे व्यक्तित्व में कुछ खोजने की चेष्टा कर रही हो; किंतु मेरी आँखें धीरे-धीरे सुलगती यज्ञ की अग्नि पर थीं।

''तुम चाहो तो आश्रम में ही रह सकते हो।'' उन्होंने कहा।

मेरे मन और बुद्धि दोनों को एक सुखद झटका लगा। मैं तो सोच रहा था कि

आचार्यजी मुझे जीव को न सताने का उपदेश देंगे; पर बात एकदम दूसरी निकली। उनकी इस अयाचित एवं अप्रत्याशित कृपा पर मैं फूल उठा। राख के नीचे दबी-दबी बुझी हुई आग मुझे प्रज्वलित अंगार-सी दीखने लगी। कुछ क्षणों बाद मुझे होश आया कि इस महती कृपा के लिए मुझे पुनः आचार्य का चरणस्पर्श करना चाहिए।

मेरे द्वारा चरणस्पर्श करने पर उन्होंने मुझसे पुनः कहा, "तुम चाहो तो आश्रम में रह सकते हो, पर शिक्षा तुम्हें नहीं दी जाएगी।"

मेरी प्रसन्नता एक बार फिर धूमिल हुई। जी में आया कि मैं पूछ पड़ूँ कि ऐसा क्यों है; पर मेरा सारा व्यक्तित्व प्रश्नवाचक मुद्रा में उनके समक्ष मौन ही रहा।

फिर उन्होंने ही पूछा, "क्यों? क्या सोच रहे हो?"

"सोच रहा हूँ कि जब मुझे शिक्षा ही नहीं मिलेगी तो यहाँ रहने की मेरी उपयोगिता क्या है?"

"तुम्हें शिक्षा नहीं मिलेगी, ऐसा मैंने नहीं कहा। मैंने तो कहा था कि तुम्हें शिक्षा दी नहीं जाएगी।" वे मुसकराते हुए बोले।

"जब दी नहीं जाएगी तो मिलेगी कैसे?"

अचानक उनकी दृष्टि यज्ञशाला के निकट ही बिखरे हुए हवि के उच्छिष्ट अन्न के दानों की ओर गई। उन्हें कुछ पक्षी चुग रहे थे। उन्होंने मुसकराते हुए पूछा, "उन पक्षियों को देखते हो?"

मैं मौन हो उनके अगले वाक्य की प्रतीक्षा करने लगा।

"इन्हें कोई अन्न देता तो नहीं। उच्छिष्ट दाने पर ही ये जी लेते हैं। वैसे ही उच्छिष्ट शिक्षा तुम्हारे लिए पर्याप्त होगी।"

"उच्छिष्ट शिक्षा!" यह बात मेरी समझ की पहुँच से थोड़ी दूर थी।

आचार्यजी हँस पड़े। बोले, "यदि तेरे संस्कार में होगी तो मैं अन्य ब्रह्मचारियों को जो कुछ सिखाऊँगा उसे तू देख-सुनकर ही बहुत कुछ सीख जाएगा। यही उच्छिष्ट शिक्षा तेरे जीवन को सार्थक बना देगी।"

उच्छिष्ट शिक्षा! क्या उच्छिष्ट ही मेरे प्रारब्ध के मूल में है? मैं सोचने लगा। इसी संदर्भ में संपूर्ण जीवन मेरे मानस पर चक्र-सा घूम गया। विराट् से उच्छिष्ट हुआ, गर्भ में आया। नियति से उच्छिष्ट हुआ, गंगाधारा में बहा दिया गया। समाज से उच्छिष्ट हुआ, सूत कहलाया—और अब उच्छिष्ट शिक्षा! यह कैसी विडंबना है मेरे साथ? मैं सोचता रहा, सोचता रहा।

"क्या सोच रहे हो?" आचार्य का गंभीर स्वर सुनाई पड़ा।

अचानक मेरी चेतना यथार्थ के धरातल पर आई। मैं हड़बड़ाकर बोल पड़ा, "कुछ नहीं…कुछ नहीं।…यही सोच रहा हूँ कि शिक्षार्थी होकर नहीं वरन् सेवक होकर ही आपके चरणों में रहूँ।"

"तुम शिक्षार्थी न होकर भी शिक्षार्थी रहोगे और सेवक होकर भी सेवक नहीं हो सकते।" आचार्य की यह पहेली मैं समझ नहीं पाया, केवल उनकी रहस्यमय हँसी देखता रहा। कुछ पलों बाद ही उन्होंने स्वयं स्पष्ट किया, "देखो, मैं तुम्हारा शिक्षक तो नहीं रहूँगा, पर तुम्हारी जिज्ञासु प्रवृत्ति तुम्हें सदैव शिक्षार्थी बनाए रखेगी। और मैं तुम्हारा स्वामी भी नहीं होना चाहता। इसीलिए तुम सेवक होकर भी सेवक नहीं रहोगे।"

"…तो क्या मुझे सेवा करने का भी अधिकार नहीं है?"

"यह तो एक ऐसा अधिकार है, वत्स, जो समाज कभी किसीसे भी नहीं छीन सकता।"

"तब आप स्वामी के रूप में भी अपनी छाया से मुझे क्यों वंचित कर रहे हैं?"

"स्वामी के रूप में ली गई सेवा सेवा ही रहेगी, वत्स। किंतु अपनी इच्छा से जब स्वतः सेवा की जाती है तब वह साधना हो जाती है। तुम यहाँ सेवक नहीं वरन् साधक रहोगे, राधेय।" इतना कहते हुए वे पुनः हँसे और उठकर उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया। कितना ममत्व था उस आलिंगन में, सो कैसे बताऊँ!

बाहर सिंह अब भी दहाड़ मारे जा रहा था, मुझे पीड़ा से मुक्ति दिलाओ। मैं कुछ पूछूँ, इसके पहले ही वे अपने योगकक्ष में चले गए।

कल्पना जगत् की अनेक लुभावनी संभावनाएँ अब भी मुझे घेरे रहीं।

□

अब मैं आश्रम में ही रहता था। ब्रह्मचारियों की दिनचर्या मेरी दिनचर्या थी; फिर भी मैं परम मुक्त था। जहाँ जी में आए, जा सकता था। कभी-कभी जनपद में भी आता-जाता था। पक्ष में एकाध बार घर की भी सुधि लेता था। संध्या के कुछ पहले ही मैं आश्रम की ओर लौट पड़ता था। मेरे अहं को आश्रम में बड़ा संतोष मिलता था; फिर भी मेरी माँ ने एक दिन मुझे रोक ही लिया।

पौष की प्रतिपदा थी। अनध्याय था। प्रातः अग्निहोत्र के बाद ही ब्रह्मचारी भिक्षा के लिए निकले थे। उन्हींके साथ मैं भी चल पड़ा। जब घर पहुँचा, हेमंत की मुलायम धूप ऊँचे टीले पर पसरने लगी थी।

मेरी उपशाला में भी धूप आ गई थी। पिताजी अब भी कंबल ओढ़े हुए

चतुष्की (एक प्रकार की चौकी) पर पड़े धूप सेंक रहे थे। पास में ही माँ बैठी थी। दूर से ही मुझे आता देखकर वह फूली नहीं समाई। उठकर खड़ी हो गई। आकर जब मैंने उसका चरण छुआ, उसने मुझे छाती से लगा लिया। वह ऐसी विह्वल थी मानो मैं युगों बाद उससे मिला हूँ। पिताजी उठकर चौकी पर ही बैठ गए। मैंने जब कंबल हटाकर उनका पग छुआ, वह जल रहा था।

''अरे, आपको तो ज्वर है!'' मैंने कहा।

''गत तीन दिनों से अस्वस्थ हैं।'' माँ बोली, ''अभी आज प्रातः तुम्हें याद कर रहे थे।''

''तभी तो मैं चला आया।'' मैंने मुसकराते हुए कहा। फिर अचानक पिताजी की आकृति की ओर दृष्टि गई, ताप की अरुणिमा चेहरे पर भी उभर आई थी।

मैंने माँ से ही पूछा, ''उपचार क्या चल रहा है?''

''प्राणक को ही दिखाया था। उन्हीं वैद्यराज की ओषधि चल रही है। पर अभी तक ज्वर उतरा नहीं है।'' माँ के स्वर में चिंता की छाया थी।

''तब अब क्या करना चाहिए?''

''कुछ नहीं, बेटे। अब तुम आ गए हो तो मेरा ज्वर यों ही उतर जाएगा।''

पिताजी के शुष्क अधरों के बीच मुसकराहट उग आई। मैं उन्हींके पास ही बैठ गया। वे पुनः ढुलक गए।

मैंने पूछा, ''आप तो कभी अस्वस्थ नहीं होते थे, आखिर व्यतिक्रम कहाँ हुआ?''

वे कुछ नहीं बोले।

माँ ने ही बताया, ''इधर आठ दिनों पूर्व जो वर्षा हुई थी, उसीमें भीग गए थे। उसके दूसरे या तीसरे दिन से ज्वर चढ़ आया।''

''किस विवशता में इस शीत की वर्षा में भीगना पड़ा?''

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में माँ और पिताजी दोनों एक-दूसरे को देखते रह गए। कुछ क्षणों तक बोझिल होता मौन माँ ने ही भंग किया, ''भीगते न तो क्या करते? हस्तिनापुर से जब लौट रहे थे, मार्ग में ही वर्षा होने लगी।''

''क्यों? रथ में नहीं थे क्या?''

''आजकल रथ लेकर कहाँ जाते हैं!'' माँ ने कहा और मेरी दृष्टि कदंब के वृक्ष के नीचे गई, जहाँ रथ और अश्व बँधे रहते थे। अब वहाँ कुछ नहीं था, केवल भिखारियों की हथेलियों की तरह खुला मैदान था, जहाँ दो-चार बालक उभरती हुई धूप में खेल रहे थे।

विस्मय के प्रकोष्ठ से झाँकती मेरी जिज्ञासा वाणी से टपक पड़ी, ''तो क्या पैदल ही आपको हस्तिनापुर जाना पड़ता है ?''

माँ चुप थी। करवट बदलते हुए पिताजी ही बोले, ''इधर तो ऐसा ही होता है।''

''तब तो बड़ी कठिनाई होती होगी। इतना लंबा मार्ग! एक योजन से कम नहीं होगा।'' मैं कहता गया, ''क्यों ? महाराज ने एक रथ तो आपके लिए छोड़ रखा था।''

''अब महाराज की चलती कहाँ है!'' पिताजी चुप थे। माँ ही बोल रही थी। उसीने बताया कि हस्तिनापुर में अब सारी व्यवस्था नए सिरे से हो रही है। रथशाला के भी नए नियम बन गए हैं।

''नए नियम का क्या तात्पर्य है कि पिताजी से रथ ही छीन लिया जाए।''

मुझे क्रोध आता देखकर पिताजी ने शांतभाव से कहा, ''नहीं, बेटे! बात यह नहीं है। नई व्यवस्था के अनुसार एक सहस्र रथ हर समय रथशाला में आरक्षित रहने अनिवार्य हैं। इस समय एक रथवाहिनी के साथ शकुनि महाराज गांधार की ओर गए हैं, इसलिए रथों की कमी हो गई है। मेरा भी रथ आरक्षितों की गणना में आ गया है।'' कुछ रुककर उन्होंने पुनः कहा, ''दो-चार दिनों में ही वे आ जाएँगे।''

''तब तक आप भी मत जाइए, आराम कीजिए।'' मैं बोला।

पिताजी ने एक गहरी साँस ली और टूटे हुए स्वर में उन्होंने कहा, ''आराम तो कर ही रहा हूँ, वत्स। पर चाकरी है न!'' इतना कहते-कहते उन्होंने फिर करवट बदल ली। दृष्टि मैदान की ओर गई। अनूप अंबष्ठ आता दिखाई दिया। वह कुछ बोलना चाहकर भी चुप हो गए; जैसे किसीने उनकी जबान पकड़ ली हो।

माँ ने सम्मानपूर्वक अंबष्ठ की अगवानी की। मैंने भी खड़े होकर नमस्कार किया। उसने पिताजी के सिर पर हाथ रखकर ताप देखा, फिर कुछ सोचते हुए बोला, ''अभी तो ज्वर है। महाराज ने आपका समाचार पूछा है।''

''जो देख रहे हैं, बता दीजिएगा।'' माँ ने कहा।

फिर अंबष्ठ वहीं काष्ठ के उच्चासन पर बैठ गया और मेरा कुशल-क्षेम पूछने के बाद बोला, ''आजकल क्या कर रहे हो ?''

मैंने आश्रम का अपना कार्यक्रम बता दिया।

उसने बड़ी वितृष्णा से कहा, ''कौशिक के आश्रम में जाते हो ? वह तुम्हें क्या शिक्षा देंगे! वहाँ तो राजद्रोह का पाठ पढ़ाया जाता है।''

"ऐसी बात तो नहीं है।" मैंने स्पष्ट प्रतिवाद किया।

"क्यों, वह यह नहीं कहते कि आचार्य को राजधानी में लाकर राजकुमारों को शिक्षा नहीं देनी चाहिए, वरन् राजकुमारों को ही आश्रम में आना चाहिए?"

"कहते तो हैं।"

"तो क्या यह राजद्रोह नहीं है? मैंने स्वयं उन्हें कहते हुए सुना है कि राजसत्ता के हाथों बिकी हुई शिक्षा और स्वर्णखंडों पर खरीदा गया प्रेम भोग की वस्तु हो सकती है, आत्मिक विकास की नहीं।" वह मुँह बनाते हुए पुनः प्रश्न की मुद्रा में बोला, "आचार्य का यह अहं राजसत्ता से टकराकर कब तक जीवित रह सकता है?"

मेरे मन में आया कि मैं भी उसी स्वर में स्वर मिलाते हुए कहूँ, 'आचार्यत्व से टकराकर राजसत्ता भी जीवित नहीं रह सकती।' पर माँ ने पीछे से मेरा कंधा दबाया। मैं चुप था, चुप रह गया।

जो बात पिताजी ने नहीं बताई उसका रहस्य अंबष्ठ ने खोला। उसने बताया कि इधर हस्तिनापुर गंभीर तनाव में है। कौरवों और पांडवों के बीच की खाई बढ़ती जा रही है। विचित्र स्थिति है। एक तरफ दुर्योधन और दुःशासन हैं तो दूसरी ओर भीम और अर्जुन।

"अरे, यह तो होता ही रहता है। बालकों को न लड़ते देरी और न मेल करते। इसे बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए।" माँ ने कहा।

"आप यहाँ बैठकर हस्तिनापुर के राजभवन में सुलगती अग्नि का अनुमान नहीं कर सकतीं।" उसने कहा, "और उन्हें बालक मत समझिए। वे ऐसे अंगारे हैं, जो एक-न-एक दिन राजधानी को जलाकर राख कर देंगे।" इतना कहकर अंबष्ठ ने पिताजी की ओर संकेत किया, "आखिर उस दिन ऐसी कौन सी बात थी जो इतना बड़ा कांड हो गया! इन्हींसे पूछिए, ये तो उस समय उपस्थित थे। भीम ने सैकड़ों रथ तोड़ डाले, अर्जुन ने अनेक अश्व मार गिराए। यदि यह घटना न होती तो रथों की न तो गणना की जाती और न उन्हें आरक्षित करने का प्रश्न ही उठता और न अधिरथ को ज्वर आता।" इतना कहकर वह हँसने लगा।

भीम का नाम सुनते ही मैं जल उठा। मेरे मुख से निकला, "वह तो महा कृतघ्नी है, साथ ही अभिमान का हिमालय भी। वह समझता है कि बल, बुद्धि, विद्या और वैभव में न तो कोई संसार में उसके समान है, न हुआ है और न होगा। पर अर्जुन से मेरा कोई विशेष संपर्क नहीं है।"

"किंतु दोनों में कोई किसीसे कम नहीं है, वरन् एक से बढ़कर एक।

उन्हींके उपचार के लिए तो दुर्योधन अपने मामा के साथ सक्रिय है।'' इतना कहते-कहते अंबष्ठ की मुद्रा अचानक बदली। उसने मुझसे कहा, ''तुम्हें एक दिन राजकुमार पूछ रहे थे।'' 'राजकुमार' से उसका स्पष्ट तात्पर्य दुर्योधन से था।

मेरी जिज्ञासा जागी, ''क्या पूछ रहे थे?''

''यही कि बहुत दिनों से राधेय दिखाई नहीं पड़ा है।''

''मैं क्या दिखाई पड़ता! वे लोग राजकुमार हैं और मैं मात्र सारथि पुत्र। उस वैभव की भीड़ में मुझ अकिंचन का अस्तित्व ही क्या!''

''नहीं, ऐसी बात नहीं है। वे तुम्हारी बड़ी प्रशंसा करते हैं। शायद ज्योतिषाचार्य सुवर्चा ने तुम्हारे भविष्य के बारे में उन्हें कुछ बताया है।''

पूर्व घटनाओं ने मेरे मस्तिष्क को घेर लिया। मैं चुप हो गया। यह चुप्पी असाधारण होते हुए भी लंबी नहीं थी। अंबष्ठ ने नितांत नई बात आरंभ की, ''आजकल कृपाचार्य राजकुमारों के शिक्षक हैं।''

''क्या कौरव और पांडव दोनों को वे ही शिक्षा देते हैं?'' मैंने पूछा।

''हाँ, पितामह (भीष्म) ने उन दोनों को शिक्षा देने का भार उन्हीं पर छोड़ा है। तुम भी चाहो तो उन्हींसे आकर शिक्षा ग्रहण कर सकते हो।''

''किंतु मेरे लिए शिक्षा का द्वार बंद है।''

''क्यों?''

''क्योंकि मुझमें शिक्षा ग्रहण करने की पात्रता नहीं है। मैं सूतपुत्र जो ठहरा।'' अपनी कुंठा से बराबर टक्कर लेते-लेते मेरे मन की दृढ़ता बढ़ती जा रही थी। अब मुझे स्वयं को सूतपुत्र कहने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती थी।

''तब तुम्हें आचार्य कौशिक ने शिक्षा देना कैसे स्वीकार किया?''

''वहाँ मैं उच्छिष्ट शिक्षा ग्रहण करता हूँ।''

''मैंने तो दो शिक्षा सुनी थीं—शस्त्र की और शास्त्र की। यह उच्छिष्ट शिक्षा क्या होती है?''

बात अधिक तूल न पकड़े, इसलिए उसे हँसी में उड़ाते हुए पिताजी ने कहा, ''न यह शस्त्र की शिक्षा है और न शास्त्र की, वरन् यह विशुद्ध कौशिकीय शिक्षा है।'' इतना कहकर वे जोर से हँस पड़े।

अंबष्ठ भी हँसने लगा।

फिर जनपद के विषय में इधर-उधर की बातें होती रहीं। अंबष्ठ का प्रत्येक प्रश्न पिताजी 'हाँ-हूँ' कहकर टालते रहे। थोड़ी देर बाद एक उष्ण दुग्ध चषक का पान कर अंबष्ठ चला गया था।

मैंने देखा, प्रयत्न कर उड़ाई हुई पीड़ा की बातें धीरे-धीरे पिताजी की आकृति पर पुनः जमने लगी थीं।

□

दिन का द्वितीय प्रहर था। धूप हलकी पड़ती चली जा रही थी। मैंने सोचा कि आया हूँ तो जरा मद्दी से मिलता चलूँ। अभी कुछ ही समय पूर्व साची मिली थी। उससे पता चला कि मद्दी का पिता महीनों से वात व्याधि से पीड़ित है। आजकल मैरेय उतारने और बेचने का काम मद्दी स्वयं करता था। मैं उधर ही चल पड़ा।

क्या मैं सचमुच मद्दी से ही मिलने चला था? मैं यदि इसे विश्वासपूर्वक कहूँ तो आप समझिए कि मैं आपको नहीं वरन् स्वयं को धोखा दे रहा हूँ। मेरे अवचेतन में तो माला थी, जो मद्दी के माध्यम से चेतन में उगने लगी थी। चला अवश्य था मद्दी की ओर, किंतु यह सोचते हुए कि माला के घर की ओर यही पगडंडी जाती है।

मद्दी मुझे अपने द्वार पर ही मिल गया। वह मुझे देखकर फूला न समाया। पहले तो मारे प्रसन्नता में तन से लिपट गया, फिर भौचक्का सा पश्चिमी आकाश की ओर देखने लगा।

"क्या देख रहे हो?" मैंने पूछा।

"देख रहा हूँ कि सूर्य अस्त होने जा रहा है या उदित हो रहा है।" उसने मुसकराते हुए कहा।

"तुम्हें क्या लग रहा है?"

"मुझे तो लग रहा है कि सूर्य उदित हो रहा है।"

"क्यों?"

"क्योंकि तुम आ गए हो। अवश्य ही सूर्य को पश्चिम में उदित होना चाहिए।" इस व्यावहारिक व्यंग्य पर मैं भी हँस पड़ा। वह तो हँसता ही रहा।

जब खिलखिलाहट थमी, मैंने उसके पिता का समाचार पूछा।

उसने बड़े सामान्य ढंग से हलका सा उत्तर दिया, "वृद्ध तो हैं ही। जब तक चल रहे हैं, चल रहे हैं।" पिता की रुग्णता को अधिक महत्त्व न देनेवाली उसकी मुद्रा क्षण भर में बदल गई। "इतने दिनों बाद आए हो, बताओ, तुम्हारा क्या स्वागत करूँ? गौड़ी, माध्वी, कादंबरी हर तरह की मदिरा इस समय तैयार है। जैसी इच्छा हो, ले आऊँ।"

"तुम इतने प्रकार की मदिरा खींचने लगे!" मुझे आश्चर्य था, "यह तो

बहुमूल्य मैरेय है, मद्दी।''

''साधारण मदिरा तुझे थोड़े ही पिलाऊँगा! तू मेरा बालसखा जो ठहरा।''

''किंतु मैं तो नहीं पीता।''

''तुम मदिरा नहीं पीते तब तुम महान् कैसे बनोगे?''

मुझे हँसी आ गई। महान् बनने की इस महौषध पर मैं देर तक हँसता रहा। फिर मैंने उसे बताया कि मैं अब आश्रम में रहता हूँ, जहाँ मदिरा का प्रवेश निषिद्ध है।

''इसलिए वहाँ महानता का प्रवेश भी निषिद्ध होगा।''

मैं आज तक समझ नहीं पाया कि मद्दी के कथन में व्यंग्य और यथार्थ के बीच सीमा रेखा कहाँ थी। उसकी मुद्रा से कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। मैंने जब बातों के क्रम में उससे पूछा कि तुम इतनी बहुमूल्य मदिरा कहाँ बेचते हो, तब वह बड़े अभिमान से बोला, ''हस्तिनापुर के राजभवन में।'' 'राजभवन' शब्द का उच्चारण करते हुए उसकी ग्रीवा हंस की ग्रीवा की भाँति तन गई।

जब मैं वहाँ से चला, मद्दी भी मेरे साथ हो लिया; पर मैं यह चाहता नहीं था। मेरी इच्छा तो माला से मिलने की थी। तब भला मैं मद्दी को क्यों स्वीकार करता। पर मैं उसे हटा भी नहीं सकता था। उसकी बातों में 'हाँ' में 'हाँ' मिलाता घूम-फिरकर वहीं चक्रमण करता रहा।

अंत में उसीने पूछा, ''आखिर तुम जाना कहाँ चाहते हो?''

''कहीं नहीं। यों ही विचरण के लिए निकला हूँ।''

''मुझे भी इस समय काम नहीं है, चलो, कुछ समय तुम्हारे साथ ही बिता दूँ।'' जिसे मैं हटाना चाहता था वह और भी चिपक गया। काफी देर तक जाने कहाँ-कहाँ की बातें करता रहा। पर मैं कुछ सुन नहीं रहा था। केवल डूबता सूर्य और घिरती हुई संध्या मेरे मस्तिष्क पर छाती रही। सोच रहा था, कहाँ से यह जोंक लग गया! इसे हटाऊँ भी तो कैसे? शिष्टता की कारा में मेरा मन भीतर-ही-भीतर घुट रहा था; पर मैं कुछ बोल नहीं पा रहा था।

आखिर एक क्षण ऐसा आया जब यह स्थिति असह्य हो गई। मैंने कहा, ''मद्दी, अब तुम जाओ और अपने रुग्ण पिता की चिंता करो।''

''पिता की चिंता तो करनी ही है; पर तुम बहुत दिनों के बाद मिले हो, चलो, तुम्हारे घर तक छोड़ आऊँ।''

''पर मैं अभी घर नहीं जा रहा हूँ।''

''तो कहाँ जाना चाहते हो?''

"सोचता हूँ, यहाँ तक आया हूँ तो माघी चाची से भी मिलता चलूँ।"

"ओ"हो, तो यह क्यों नहीं कहते कि माला से मिलने जा रहा हूँ!" वह जोर से व्यंग्यात्मक हँसी हँसते हुए बोला, "मैं अपने रुग्ण पिता की चिंता करूँ या न करूँ, पर तुम्हारे रुग्ण मन की चिंता अवश्य करूँगा।" इतना कहकर वह नमस्कार कर एकदम मेरा साथ छोड़कर चल पड़ा। उसकी इस नाटकीय गति में भी विचित्र चुभन थी, जो टीसने से अधिक गुदगुदा रही थी।

थोड़ी दूर जाने के बाद वह पुन: लौटा और बोला, "अच्छा मित्र, अब कब भेंट होगी?"

"जब भगवान् चाहेगा।" मैं भी मुसकराता रहा और वह भी। कुछ दूर आगे जाकर मैंने पीछे मुड़कर देखा; वह भी मुझे मुड़कर देख रहा था और नटखट हँसी हँस रहा था।

जब मैं माला के द्वार पर पहुँचा, दिन बैठने लगा था। लकुच लकड़ियाँ एकत्र कर सुलगाने जा रहा था। मुझे देखते ही अत्यंत आदरभाव से उठकर उसने सत्कार किया। तब तक माला भीतर से आ ही गई। उसकी सलज्ज मुसकराहट मन का स्पर्श करती निकल गई।

"बाहर क्यों खड़े हो? भीतर क्यों नहीं आते?" उसने कहा।

"काफी देर हो गई है, केवल चाची से मिलने आया था।" इतना कहने में मैंने दो बार लकुच की ओर देखा था।

"चाची तो नहीं है। यदि देर हो रही है तो आप जा सकते हैं।" बाहर निकलकर इतनी दुष्टता भरी हँसी के बीच माला बोली कि लकुच भी हँसने लगा। उसने कहा, "भीतर बैठ जाओ, बेटा, तुम्हारी चाची आती ही होगी।"

यह लकुच का निर्देश नहीं वरन् मेरे लिए अनुमति थी। अब मैं निस्संकोच भीतर जा सकता था। मैंने द्वार में प्रवेश करते ही एक थप्पड़ माला की पीठ पर जमाया।

"यह क्या कर रहे हो?" उसने पूछा।

"तेरी दुष्टता का पुरस्कार दे रहा हूँ।"

"मेरी दुष्टता! कैसी दुष्टता?"

"वही, जो तुमने बाहर की थी। इसका भी तुमने ध्यान नहीं रखा कि चाचाजी बाहर बैठे हैं।"

"तो कोई बुरी बात तो मैंने नहीं कही। तुम यदि चाची से मिलने आए हो तो चाची नहीं है, जाओ। इतना ही कहा था न!"

"चाचा के सामने मैं कैसे कहता कि मैं तुमसे भी मिलने आया हूँ!"

"तो मैं अपने पिता के सामने कैसे कहती कि चाची नहीं है, मुझसे ही मिलने चले आओ।" माघी का पूरा आँगन जैसे खिलखिला उठा। हम दोनों बड़ी देर तक हँसते रहे।

आज माघी ही मत्स्य लेकर हस्तिनापुर गई थी। रात होते-होते लौटेगी। इसे संयोग कहूँ या और कुछ, पर मेरे लिए यह स्थिति नितांत संकोचप्रद थी। अब तक जब कभी भी मैं माला से मिला था, बाह्य उन्मुक्त वातावरण में मिला था। अकेले घर में मिलने की यह प्रथम अनुभूति थी, इसलिए मेरा मन लज्जा से दबा-दबा जा रहा था। पर माला ऐसा कुछ अनुभव नहीं कर रही थी। वह परम मुक्त थी, एकदम खुली हुई।

उसने मुझसे भुनी हुई मछलियाँ ग्रहण करने का आग्रह किया। मैंने सीमित शब्दों में बताया कि मैं आश्रमवासी हो गया हूँ। वहाँ मांसाहार वर्जित है। पर वह मानने वाली कहाँ थी। उसने कहा, "वहाँ न वर्जित है, पर यहाँ तो मैं तुम्हें खिलाऊँगी।"

"तुम खिला सकती हो, क्योंकि अपने घर में कुत्ता भी शेर होता है।" मैं बोला।

उसने छूटते ही उत्तर दिया, "और दूसरे के घर में शेर भी कुत्ता। पर कुत्ते तो भुनी ही नहीं, कच्ची मछली भी बड़े प्रेम से खाते हैं।" एक नटखट हँसी हँसती हुई वह आँगन को पार कर मछलियाँ लेने कक्ष में जाने लगी। मैंने आग्रहपूर्वक उसे रोका और बताया कि मैं दूध के अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता। उसने बड़ी कृपा कर मेरी बात मान ली।

मैं सोचता रहा कि हर परिस्थिति में फुफकार मारनेवाला मेरा 'मैं' माला के सामने आते ही सपेरे की पिटारी में चुपचाप बंद हो जानेवाले नाग की तरह इतना भोला कैसे हो जाता है। मैं अपनी मन:स्थिति पर सोचता रहा और माला मुझपर।

अँधेरा बढ़ने लगा। मैंने चलने की इच्छा व्यक्त की।

उसने पुन: इठलाते हुए कहा, "क्यों? चाची से नहीं मिलोगे?"

मेरी इच्छा हुई कि मैं कह दूँ कि जिससे मिलना था उससे तो मिल चुका; पर मैं केवल मुसकराकर रह गया। उठकर बाहर चलने को हुआ कि माला भी साथ हो ली। बाहर आकर देखा, आग जल रही थी, पर लकुच कहीं चला गया था। माला ने चारों ओर दृष्टि घुमाई, वह कहीं दिखाई नहीं पड़ा। फिर वह द्वार बंद कर मेरे साथ चल पड़ी। प्रशस्त धरती और खुले आकाश के बीच मेरा संकोच उड़ चला

था। मैं कुछ तेजी से आगे बढ़ने लगा।

"बड़ी तेजी से भागे जा रहे हो।" उसने टोका।

"क्योंकि अब कुत्ते से शेर हो गया हूँ।" मैं तो नहीं, किंतु वह हँस पड़ी।

थोड़ी दूर आगे बढ़ने के बाद ही वह बोली, "...अब मैं आगे नहीं जा सकती। घर अकेला है।" इतना कहकर वह पगडंडी के मोड़ पर रुक गई। "अच्छा, अब कब मिलोगे?" उसने पूछा।

"संभवत: अब जल्दी मिलना न हो सके।"

"क्यों?" चिंता मिश्रित जिज्ञासा उसकी आकृति पर उभर आई।

"यह तो मैं नहीं बताऊँगा।"

"क्यों? तुम मुझसे भी छिपाओगे?" उसने मुड़कर दूर, अपने घर के द्वार की ओर देखा और बोली, "तुमने तो एक बार कहा था कि मैं तुमसे कुछ भी नहीं छिपाता।"

"किंतु कुछ ऐसी बातें होती हैं जिन्हें छिपाना ही पड़ता है।"

"इसका तात्पर्य है कि तुम कोई अपराध करने जा रहे हो।"

"अपराध! यह तुम क्या कहती हो, माला?"

"मैं ठीक कह रही हूँ, राधेय! मनुष्य अपने अपराध को जितना अधिक छिपाता है उतना किसी और बात को नहीं।" उस अँधेरे में भी मुझे दिखाई दिया कि माला के चेहरे पर एक अपूर्व विश्वास था।

"इसका मतलब है कि यदि मैं तुम्हें न बताऊँ तो तुम मुझे अपराधी समझोगी। और यदि बता दूँ तो?"

"तो अत्यंत सज्जन।" इतना कहते हुए हँसकर उसने मेरे दोनों कंधों को जोर से हिलाया।

"मैं तुम्हें बता तो दूँ, पर तुम मुझे वचन दो कि तुम इसे किसीको बताओगी नहीं।"

"गोपनीयता तो तुम्हारी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है, राधेय। आज मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि इस गोपनीयता के लिए तुम इतने व्यग्र क्यों हो!"

"क्योंकि मैं बहुत बड़ा काम करने जा रहा हूँ।" संध्या की बढ़ती हुई कालिमा में भी मुझे आभास हुआ कि माला का कुतूहल चरम सीमा पर है। मैंने सोचा, अब अधिक देर तक उसे उलझन में डाले रखना ठीक नहीं।

इधर कई दिनों से मन में ही बात पक रही थी। अभी तक मैंने किसीसे कहा नहीं था। सोचा, क्यों न माला से ही कह दूँ। मैं कहने ही जा रहा था कि उसके

और मेरे बीच से दौड़ता हुआ एक नेवला निकल गया। मैं शंकित हो उठा।

"यह भी कहाँ से चला आया!" इतना कहकर मैं कुछ सोचने लगा।

"क्या सोच में पड़ गए?" वह बोली।

"मैं तुम्हें बताने ही जा रहा था कि नेवले ने रास्ता काट दिया।"

"नेवला मनुष्य का रास्ता काट सकता है, पर उसके विचारों का नहीं।" वह हँसने लगी, "तुम इतने शंकित क्यों हो? जरूर तुम्हारे मन में कोई दुर्बलता है।"

"कैसी दुर्बलता? राधेय न कभी दुर्बल रहा है और न कभी रहेगा।" मेरा 'स्व' एक बार फिर फनफनाया। मैंने दृढ़ स्वर में कहा, "अच्छा, तुम सुनना चाहती हो तो सुनो, मैं शीघ्र ही महेंद्र पर्वत पर आचार्य परशुराम के यहाँ जाना चाहता हूँ।"

"ये परशुराम कौन हैं?"

"परशुराम कोई व्यक्ति नहीं वरन् ब्राह्मण जाति की एक परंपरा है। यह परंपरा रामायण काल से चली आई है। कदाचित् इसके पूर्व भी रही हो। इस परंपरा का जो भी उत्तराधिकारी होता है, वह स्वयं को 'परशुराम' ही कहता है।"

"हाँ-हाँ, रामकथा में भी एक परशुराम आते हैं।" माला बोलती रही, "राम ने जब शिव का धनुष तोड़ा था, उनकी भृकुटियाँ चढ़ी थीं। वे तो राम का संहार तक कर डालने का निश्चय कर चुके थे।"

"हाँ, यह परशुराम भी उसी परंपरा के हैं।"

इसके बाद मैं कुछ बताऊँ कि वह स्वयं बोल पड़ी, "तो क्यों जा रहे हो परशुराम के पास?"

"विद्या ग्रहण करने। वे अपनी परंपरागत विद्या किसी ब्राह्मण को देना चाहते हैं।"

"ब्राह्मण को देना चाहते हैं! तो उन्हें बहुत से ब्राह्मण मिल जाएँगे।"

"यदि सुपात्र ब्राह्मण मिलता तो वे इतने व्यग्र क्यों होते! सुना है, अब उन्हें विश्वास हो चला है कि अब मेरी परंपरा नष्ट हो जाएगी।"

मुझे बड़े आश्चर्य से देखते हुए उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी, "कहाँ सुना है तुमने यह सब?"

"आश्रम में ही इसकी चर्चा हो रही थी।"

"क्या चर्चा हो रही थी?"

"यही कि आचार्य परशुराम अपने शस्त्र एवं शास्त्र की विद्या का उत्तराधिकारी खोज रहे हैं।"

"तुम तो अभी कह रहे थे कि किसी ब्राह्मणकुमार को खोज रहे हैं।"

"हाँ, खोज तो किसी ब्राह्मणकुमार की ही है।"

"पर तुम तो ब्राह्मणकुमार नहीं हो।"

"नहीं हूँ तो क्या हुआ, ब्राह्मण बन जाऊँगा!"

"ब्राह्मण बन जाऊँगा! यह क्या कहते हो, राधेय? तुम झूठ बोलोगे, छल करोगे?" उसके स्वर में पहले से कुछ तीव्रता आई।

"...तो क्या हुआ? समाज ने मेरे साथ छल नहीं किया है क्या?"

"क्या किया है समाज ने तुम्हारे साथ?"

"सूतपुत्र न होकर भी उसने मुझे सूतपुत्र कहा। यह उसकी छलना नहीं तो और क्या है?"

"कैसे कह सकते हो कि तुम सूतपुत्र नहीं हो?"

"और समाज कैसे कह सकता है कि मैं सूतपुत्र ही हूँ; जबकि उसे मेरे जन्म का पता ही नहीं है?"

"जन्म का भले ही न पता हो, पर समाज को तुम्हारे पालक का पता है, तुम्हारे कर्म..." माला इसके आगे कुछ कहे, मेरी चिंतना अपने पूर्ण वेग से मुखरित हुई, "तुम कर्म की बात करती हो, माला! उसी कर्म के माध्यम से मैं ब्राह्मण बनूँगा।"

माला कुछ क्षणों तक मुझे एकटक देखती रही, अँधेरा बढ़ता गया। पर मेरे मन ने एक किरण पकड़ रखी थी, जिसकी जगमगाहट में मैं मार्ग खोज रहा था, नितांत नया मार्ग, जिसपर चलकर मैं समाज के मुख पर एक थप्पड़ जड़ सकूँ, जिसने सदा मुझे सूतपुत्र ही कहा और उसी परिधि में मुझे जीने के लिए विवश किया।

माला मेरी प्रकृति से अच्छी तरह परिचित थी। वह जानती थी कि हिमालय डिग सकता है, पर मेरा हठ नहीं। उसकी आशंका मौन होकर विस्फारित नेत्रों से मुझे देखती रही। फिर कुछ सोचते हुए उसने दृष्टि नीची कर ली और बहुत धीरे से बोली, "मुझे तो भय लग रहा है।"

"किस बात का भय है?"

"दो बातों का।" पल भर के बाद वह पुनः बोली, "पहला भय तो यह है कि कदाचित् तुम्हारे इस प्रयत्न का परिणाम अच्छा न हो!..."

वह अपनी बात पूरी करे कि मैं पुनः उसपर टूट पड़ा, "माला, तुम तो जानती ही हो कि मैंने कभी भी किसी परिणाम की चिंता नहीं की है।"

"किंतु तुम्हें करनी चाहिए।"

"क्यों करनी चाहिए? जब परिणाम ने कभी मेरी चिंता नहीं की तब मैं उसकी चिंता क्यों करूँ? जन्म ग्रहण करते ही जिस समय मैं गंगाधारा में बहा दिया गया था, क्या परिणाम ने मेरी चिंता की थी?"

मेरी प्रश्नवाचक मुद्रा को वह एक क्षण तक अवाक् देखती रही, फिर कुछ दबी-दबी सी बोली, "परिणाम ने भले ही चिंता न की हो, पर नियति ने तो चिंता की।"

"तो उसी नियति की धारा में मैं भी थपेड़े खाता हुआ कभी इस ओर, कभी उस किनारे पर लगूँगा, माला।" शायद इसके बाद उसके पास अब कुछ भी कहने को नहीं रह गया था।

मैंने उससे पूछा, "अच्छा बता, मेरा दूसरा भय क्या है?"

वह मुसकराई और बोली, "मेरा दूसरा भय!" वह कुछ समय के लिए चुप हो गई। सोचने लगी। मैंने अनुभव किया कि वह बात बदलना चाहती है—और सचमुच उसने मुद्रा बदलकर कहा, "यही कि तुम जब सफल हो जाओगे तब राधेय तो रहोगे नहीं। परशुराम के उत्तराधिकारी परशुराम हो जाओगे। और तब मुझसे बहुत दूर चले जाओगे।" उस समय उसके अधरों से फूल झरने लगे।

उस अँधेरे में भी मेरा मन उन्हें बटोरने में लग गया। पर वाणी मूक न रह सकी, "नहीं माला, दूर होकर भी क्या हुआ! मैं तो तेरे पास ही रहूँगा।" इतना कहकर मैंने दोनों हाथों से उसे पकड़कर अपनी ओर खींचा; पर वह अंधकार साक्षी है कि मैंने उसे पकड़ते ही छोड़ दिया। वह हँस पड़ी। उसने कुछ दूसरा ही समझा। पश्चिम से आती पगडंडी पर दूर, एक बढ़ते हुए धब्बे की ओर उसने संकेत किया। उसकी सलज्ज संभावना का अनुमान मुझे भी लगा। मैं भी हँस पड़ा।

"अच्छा, अब चलता हूँ।" इतना कहकर मैं बढ़ने को हुआ।

"क्यों, चाची से मिलने आए थे न! वह आ रही है।" वह हँसती रही और मैं विलंब का बहाना बना चल पड़ा। उसकी खिलखिलाहट बहुत दूर तक मेरा पीछा करती रही।

□

बहुत कुछ संकेतों से और कुछ शब्दों से मैंने माता-पिता दोनों को सूचना दे दी थी कि मुझे विद्याध्ययन के निमित्त यहाँ से दूर भी जाना पड़ सकता है। दोनों ने मेरी बातें चुपचाप सुन लीं, किसीने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। उनके मौन की

इस गंभीरता ने ही मुझे आभास करा दिया था कि मेरे अभाव में उनका यह अंतर्मंथन अवश्य मुखरित होगा। मेरे सामने तो मेरी माँ ने बस इतना ही कहा था, 'जैसी तुम्हारी इच्छा। जैसे आते रहते हो, बीच-बीच में आ जाया करना।'

मैं इस संदर्भ में कुछ कह नहीं सका था।

अँधेरा बढ़ता गया, रात घिरती गई। मैंने भोजन किया और सो गया।

मुझे उषाकाल के अग्निहोत्र के पूर्व ही आश्रम पहुँचना था, अतएव बहुत पहले ही नींद टूट गई। चुपचाप आँगन में जाकर आकाश की ओर देखा, नक्षत्रों ने बताया कि अभी दो घड़ी रात्रि शेष है। सोचा, सब सो रहे हैं, कदाचित् ही कोई जग पाया हो। कुछ दूर से नीरवता को चीरती केवल कुत्तों के भौंकने की आवाज आ रही थी।

किंतु मेरे विश्वास को उस समय सुखद आश्चर्य हुआ जब बगल के कक्ष से माँ की बोली सुनाई पड़ी, "अरे, सुनते हो!"

उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। अँधेरा माँ की ध्वनि निगल गया। मैं चुपचाप अपनी शय्या पर चला आया।

थोड़ी देर बाद माँ की आवाज पुनः सुनाई पड़ी, "लगता है, अभी आप सो ही रहे हैं।"

"नहीं, जाग रहा हूँ।" पिताजी बोल पड़े, "इसके पहले भी तुम्हारी आवाज सुनी थी; पर क्या कहता!"

"ज्वर कैसा है?"

"आज तो ठीक मालूम होता है।" पिताजी की वाणी में निर्बलता थी।

संक्षिप्त मौन के बाद माँ ने पुनः कहा, "सुना है, राधेय विद्याध्ययन के लिए कहीं दूर जा रहा है!"

"मैंने भी सुना है।"

"तो क्या करना चाहिए?"

"करना क्या चाहिए, चुप रहना चाहिए!"

"अरे, कम-से-कम यह तो पूछना चाहिए कि कहाँ जा रहा है!" माँ का स्वर कुछ तीव्र हुआ।

"क्या करेगी यह पूछकर तू?" पिताजी की इस ध्वनि में मुझे अपनी हठवादिता के प्रति व्यथा का अनुमान लगा। मुझे ऐसा आभास हुआ जैसे पिताजी यह कहना चाहते हैं कि राधेय ने जो निश्चय कर लिया होगा उससे उसे डिगाना असंभव है। पर बात दूसरी ही थी।

"क्यों, यह जानना नहीं चाहिए कि वह कहाँ जा रहा है?" माँ ने फिर पूछा।

"क्या तू जानती है कि वह कहाँ से आया है? जब तू यह नहीं जानती तो और कुछ जानकर क्या करेगी?"

"वाह रे वाह!" वह कुछ उत्तेजित हुई, "यह ठीक है कि मैंने उसे जन्म नहीं दिया है, पर मैं उसकी पालिका तो हूँ ही। मुझे पूछने का भी अधिकार नहीं है कि वह कहाँ जा रहा है?"

"तुझे अधिकार तो पूरा है, पर यह सब जानने से लाभ क्या? यही समझ कि वह विद्याध्ययन के लिए जा रहा है।"

"विद्या तो वह आचार्य कौशिक के आश्रम में ग्रहण कर ही रहा था।"

"किंतु वहाँ तो उसे उच्छिष्ट शिक्षा मिलती है। इस शिक्षा से उसे संतोष नहीं है और होना भी नहीं चाहिए।" इतना कहते-कहते उनकी गंभीर ध्वनि मद्धिम होती गई। निश्चित था कि वह कुछ सोचने लगे थे। शीघ्र ही वे बोले, "मैं जानता हूँ कि तुझे मेरी बात अच्छी नहीं लगी होगी। किंतु तू जिस राधेय को देखती है उसके भीतर एक दूसरा राधेय है, जो तुझे नहीं वरन् मुझे दिखाई देता है, जो हस्तिनापुर के राजकुमारों के समक्ष भी झुकना नहीं जानता। उसके सामने तो यह कहते हुए मैं अनेक बार झुका हूँ कि बेटा, मैं तो चाकर हूँ। देखो, वह राधेय इसे कहाँ-कहाँ ले जाता है।"

"तो मैं उससे कुछ न पूछूँ?" माँ बोली।

"यह तेरी इच्छा पर है; पर तू यह मान कि तेरे पास वह नियति की पवित्र धरोहर मात्र है। जब तक है, तू उसे अपना समझ, अन्यथा···" इसके बाद पिताजी कुछ कहना चाहकर भी चुप हो गए। माँ भी कुछ नहीं बोली। मैं उस गहन अंधकार को ही सुनता रहा।

अँधेरा मुझसे टकरा रहा था। मस्तिष्क में तिमिराच्छन्न वातावरण साँय-साँय कर रहा था। उसीमें सुवर्चा मेरी हथेली देखता मुझे दिखाई दिया। गंगातट के महर्षि मुझमें झाँकने से लगे। और आदित्य मंदिर का वह आपाद श्वेत व्यक्तित्व मुझे थपथपाता सा ज्ञात हुआ। मानो कोई मुझसे कहने लगा, तुम वह नहीं हो जो दिखाई पड़ते हो, वरन् जो नहीं दिखाई पड़ते हो उसीको दिखाने की चेष्टा करो। उठो, चेष्टा करो। उठो, चेष्टा करो। उठो···

मैं हड़बड़ाकर बाहर आया। कहीं कुछ नहीं था। मृत आकाश में जीवित नक्षत्र चमक रहे थे। मैं समझता हूँ कि मेरे अवचेतन ने ही मुझे यह निर्देश दिया था। शेष सबकुछ भ्रम था।

मैं उठा। तैयार हुआ। दोनों के चरणस्पर्श कर चल पड़ा। किसीने मुझसे कुछ नहीं कहा; फिर भी उनके पास कहने को बहुत कुछ था। उनका मौन बोल ही नहीं, चीख रहा था। उसका वश चलता तो वह मुझे रोक लेता; पर मैं रुकना नहीं चाहता था, एकदम नहीं।

कदंब के नीचे आकर मैंने मुड़कर देखा। द्वार पर अधिरथ और राधा थे। उनके साथ रेवा भी थी। जड़वत् यह त्रिमूर्ति मुझे अपलक निहार रही थी। कदाचित् पहला अवसर था जब रेवा की आँखों में मैंने अपने लिए इतनी व्यग्रता देखी थी।

□

ज्यों-ज्यों मेरा संकल्प दृढ़ होता गया त्यों-त्यों मन की द्विविधा से मैं घिरता गया। आचार्य परशुराम के सामने स्वयं को ब्राह्मण कहना क्या तुम्हारे लिए संभव है? कहना तो संभव हो सकता है, पर क्या तुम स्वयं को ब्राह्मणपुत्र सिद्ध कर सकते हो? मेरा मन निरंतर मुझसे पूछने लगा था। बाहर से अत्यंत सामान्य दीखने वाला मैं भीतर से आंदोलित था। स्वयं में एक विचित्र असंतुलन का अनुभव कर रहा था। इसका परिणाम यह तो हुआ ही कि मुझमें तैयारी की स्वत: प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। अब मैं ब्राह्मणकुमारों की संध्या-पूजा एवं अन्य कर्मों को भी बड़े ध्यान से देखता था। सोचता था, जितना शीघ्र हो सके उतना शीघ्र इन्हें सीख लूँ, क्योंकि मुझे ब्राह्मणत्व आरोपित करना था, ऊपर से ओढ़ना था।

किंतु मुखौटा कब तक वास्तविकता को छिपा सकता है? क्या मुखौटा वास्तविकता नहीं बन सकता? इसके लिए मुझे पुरानी वास्तविकता की नींव पर एक नई वास्तविकता स्थापित करनी पड़ेगी। कीचक (बाँस) के मूल पर कनेर उगाना पड़ेगा। संपूर्ण प्राकृतिक उपक्रम को उलटना कितना कठिन है! कितना दुरूह है! और है कितना अधिक श्रमसाध्य भी!

क्या कौशिकजी के चरणों में विनीत हो अपने संकल्प को सुनाऊँ? वे क्या कहेंगे? कभी चाहेंगे कि मैं सूतपुत्र होकर भी ब्राह्मण बन सकूँ? यदि उनमें जरा भी ऐसी चाह होती तो मुझे 'उच्छिष्ट शिक्षा' पर ही क्यों रखते? तब मैं इस कार्य में किसको अपना पथ-प्रदर्शक चुनूँ? अनजाने, अनचीन्हे जलधि की उत्ताल तरंगों में अपनी जीवन तरणी यों ही छोड़ दूँ या किसीको पतवार रूप में ग्रहण करूँ? वह कौन हो सकता है?

एक के बाद एक आश्रम की सारी आकृतियाँ मेरे दृष्टिपथ में आती और सरकती गईं। किसी पर मन टिकता तो बुद्धि उसे स्वीकार न करती। किसीको बुद्धि स्वीकारती तो मन उससे उचट जाता। अंतत: एक ही ऐसी आकृति आई जिसपर

मन और बुद्धि दोनों ने समझौता कर लिया, वह थी नैष्ठिक ब्रह्मचारी, सुव्रती की।

वय, ज्ञान, अनुभव, अभ्यास और स्वभाव—सभी दृष्टियों से वह मुझे अनुकूल लगे। उनकी मुझपर कृपा भी थी। उनकी आत्मीयता ने कभी मुझे इतर नहीं समझा था। मैं उन्हें 'तात' पुकारता था। उनसे निकटता का अनुभव करता था।

एक दिन मैंने उनसे कहा, "आपका नाम बिलकुल आपके व्यक्तित्व के अनुकूल है।"

"यह मेरा नाम नहीं है, मुझे तो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत लेने के कारण 'सुव्रती' कहने लगे।" उन्होंने बताया।

"तब आपका वास्तविक नाम क्या है?"

"ब्रह्मचारी का वास्तविक नाम क्या होता है? केवल ब्रह्मचारी।" वे बोले और हँसकर बात टाल गए।

मैंने कभी उन्हें क्रोध करते नहीं देखा था। मैंने धीरे-धीरे उनसे और निकटता बढ़ाई। बहुत कुछ उनसे जाना भी। मेरे मुख पर उन्होंने शायद ही मेरी प्रशंसा की हो; किंतु दूसरों ने मुझे बताया कि वे परोक्ष में मेरी बड़ी सराहना करते हैं। मेरी सेवा-भावना और जिज्ञासा से वे अधिक प्रभावित थे।

प्रतिपदा और अष्टमी को जब अनध्याय रहता, बहुधा वे आश्रम से दूर जंगल में निकल जाते। मैं भी उनके साथ हो लेता। उनकी सेवा भी करता और एक के बाद एक जिज्ञासाओं का अंबार भी उनके सामने लगाता। वह जरा भी विचलित नहीं होते। गिरि की भाँति उनके गंभीर व्यक्तित्व से मेरी हर समस्या के समाधान का निर्झर खिलखिलाता हुआ फूटता, जो मेरे मन और बुद्धि दोनों को भिगो देता।

एक दिन ऐसी ही स्थिति में मैंने उनसे सहजभाव से पूछा था, "ये आश्रम और वर्ण किसने बनाए, मनुष्य ने या भगवान् ने?"

"मनुष्य ने ही।" उन्होंने वैसे ही सहजता से उत्तर दिया। फिर मुसकराकर बोले, "यदि एक दृष्टि से देखा जाए तो भगवान् को भी मनुष्य ने ही बनाया है।" इतना कहकर वे काफी देर तक हँसते रहे। फिर उन्होंने बातें टालते हुए कहा, "यह तो मैं हँसी में कह रहा था। आखिर तुम जानना क्या चाहते हो?"

"मैं यही जानना चाहता हूँ कि मनुष्य इन व्यवस्थाओं को तोड़ सकता है या नहीं?"

"तोड़ भी सकता है और नहीं भी।" बड़ी सरल मुसकराहट थी उनके अधरों पर।

"दोनों बातें आप एक साथ ही कैसे कह रहे हैं?"

"इसलिए कह रहा हूँ कि आश्रम व्यवस्था को मनुष्य बड़ी सरलता से तोड़ता चला जा रहा है। साधारण जनों की बात ही क्या, भीष्म को ही देखो! अब तक उन्हें वानप्रस्थी हो जाना चाहिए था; किंतु अभी भी हस्तिनापुर की राजनीति में उलझे पड़े हैं। दूसरी ओर राजकुमारों का ब्रह्मचर्य किसी आरण्यक आश्रम में समिधा एकत्र करने में बीतना चाहिए था; किंतु वह राजभवन के वैभव एवं विलास में बीत रहा है।" इतना कहकर वे चुप हो गए।

हम लोग एक प्रपात के निकट स्फटिक शिला पर बैठे थे। उनके दोनों पैर हिल रहे थे, जो गिरते जल का कभी-कभी स्पर्श कर लेते थे। वे कुछ सोचते हुए उसी प्रपात की ओर देखते रहे।

"तब तो मनुष्य वर्ण-व्यवस्था को भी तोड़ सकता है!" मैंने बातों के अधूरे क्रम को आगे बढ़ाया।

"वह तोड़ तो सकता है, पर तोड़ नहीं रहा है, वरन् वर्ण की स्वतः गिरती प्राचीरों का जीर्णोद्धार करता जा रहा है। दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं; जबकि आज का मनुष्य निकट आने की चेष्टा में रत है।"

मुझमें उनके कथन की गहराई तक डूबने का सामर्थ्य नहीं था; फिर भी मैं मौन हो सोचने लगा—और जब किसी निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पाया तब मैंने दूसरा प्रश्न उनके सामने रखा, "आखिर यह वर्ण-व्यवस्था बनाई क्यों गई थी?"

"केवल कार्य-विभाजन के लिए। समाज को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक था कि वर्ण बनाकर उनको कुछ कार्य सौंप दिए जाते—और यही हुआ भी।" इसी बीच एक मृग ने हमारे वाम पार्श्व में छलाँग लगाई। दक्षिण ओर झुकना हमारा स्वाभाविक था। वह उसी मुद्रा में कहते गए, "किंतु विडंबना यह कि कार्य की विभाजन रेखा धीरे-धीरे धुँधली पड़ती गई और वर्ण-व्यवस्था दृढ़ होती गई। चांडाल का कार्य करके भी ब्राह्मण ब्राह्मण ही रहेगा और ब्रह्मज्ञानी हो जाने पर भी सूतत्व तेरा पीछा नहीं छोड़ेगा।" इतना कहकर वे अपनी प्रकृति के अनुसार पुनः जोर से हँस पड़े और मुझसे लिपट गए।

बात वहीं समाप्त हो गई; किंतु मैंने समझ लिया कि वर्ण-व्यवस्था के प्रति सुव्रती के मन में विक्षोभ है। मेरे इस विश्वास ने मुझे उनके समक्ष और अधिक खुलने की अनुमति दी; फिर भी अपनी योजना बताने का मुझे साहस नहीं हुआ।

कई दिनों तक मैं बड़े असमंजस में पड़ा था। एक सुहावनी संध्या को मेरे मन ने बड़ी तैयारी की। मैं सुव्रतीजी की पर्णकुटी की ओर गया। वे संध्या पर बैठे थे। मैं कुटी से थोड़ी दूर पर चुपचाप टहलता रहा।

अँधेरा बढ़ता गया। फाल्गुन का मंद समीर तन से अधिक मन को सहलाता रहा। बुद्धि उन सभी संभावित परिस्थितियों में उलझी रही, जो योजना बताने के बाद पैदा होतीं। इसी बीच मैंने देखा, आश्रम के अन्य ब्रह्मचारी उस ओर आए। उनमें से कई ने कुटिया के भीतर झाँका भी। कई लौट गए। और कई बिना झिझक भीतर भी चले गए।

जब मैंने प्रवेश किया, सुव्रतीजी कंबल ओढ़कर कुश-शय्या पर लेट चुके थे। ईशान कोण में दीवट पर एक दीप जल रहा था। निकट बैठे दो-तीन शिष्यों की शास्त्रीय समस्याओं का वे विश्राम की मुद्रा में ही समाधान कर रहे थे। पहुँचते ही उनके चरणस्पर्श कर मैं पैर दबाने लगा। शिष्यों से उनकी वार्त्ता लगभग घड़ी भर चलती रही।

जब सब चले गए तो उन्होंने बड़ी आत्मीयता से कहा, ''तुम भी जाओ, राधेय, विश्राम करो।''

अभी भी मेरा मुँह नहीं खुला। धड़कन कुछ बढ़ गई। कुछ दबा-दबा सा बोला, ''तात, एक विशेष प्रयोजन से आया हूँ।''

''बोलो, बोलो। क्या बात है? अब तक चुप क्यों बैठे थे?''

बड़े संकोच के साथ मैंने अपनी योजना बताई। वे सुनते ही उठ बैठे, जैसे उन्हें अपने कानों पर विश्वास ही न रहा हो। वे कुछ क्षणों तक अनवरत मुझे देखते रहे, फिर बहुत धीरे से बोले, ''क्या तुमने यह निश्चय कर लिया है?''

''हाँ।'' स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाते हुए मैं बोला, ''एक बार प्रयत्न तो अवश्य करूँगा।''

''इसके लिए तुम्हें ब्राह्मण बनना पड़ेगा—और यह कार्य आसान नहीं है।''

''आसान भले ही न हो, असंभव तो नहीं है!'' अब मेरी मानसिक हिचकिचाहट पर मेरी दृढ़ता सवार होने लगी थी।

''असंभव तो मनुष्य के लिए कुछ भी नहीं है।'' इतना कहकर वह पुनः कुछ सोचने लगे और बोले, ''यह कोई आवश्यक नहीं है कि तुम्हारे ब्राह्मण बन जाने पर आचार्य परशुराम तुम्हें अपना शिष्य बना ही लें।''

''तब कौन सी बाधा रह जाएगी?''

''बाधा रहेगी ज्ञान की पवित्रता की। क्या तुम समझते हो कि उनके यहाँ ब्राह्मणकुमार नहीं गए होंगे? क्या आर्यावर्त में ब्राह्मणकुमारों की कमी है? स्वयं उनके आश्रम में अनेक ब्राह्मणकुमार होंगे। किंतु वे ऐसे ब्राह्मणकुमार को खोज रहे हैं जिसमें उनके ज्ञान का उचित उत्तराधिकारी होने की योग्यता हो, उनके संकल्प

को वहन करने की शक्ति हो।''

''संकल्प वहन करने की शक्ति? कैसा संकल्प?''

''क्षत्रियों के विनाश का संकल्प! कर सकते हो यह संकल्प वहन?''

''वहन तो कर सकता हूँ। भले ही यह संकल्प न करूँ।'' मेरे कथन में इतनी सहजता थी कि वे अपनी प्रकृति के अनुसार ठहाका लगा बैठे।

जब उनकी हँसी थमी तब उन्होंने बहुत सोचते हुए कहा, ''तुम्हें देखकर तो कोई नहीं कह सकता कि तुम ब्राह्मण नहीं हो।''

''परशुरामजी भी नहीं?''

''शायद उनकी दृष्टि धोखा खा जाए।'' फिर वह जैसे सँभले, ''उस तप:पूत आचार्य को धोखा दे पाना निश्चित ही कठिन है, बहुत ही कठिन है।'' इसके बाद वे मौन हो गए और उधर से दृष्टि हटाकर दीपशिखा की ओर देखने लगे।

मौन के वे पल बड़े बोझिल थे। अचानक वे धीर-गंभीर स्वर में बोल पड़े, ''राधेय, यह सब करने से तुम्हें क्या लाभ होगा?''

''परशुरामजी का परंपरागत ज्ञान क्या अलाभकर है?'' मेरा उत्तर भी प्रश्नवाचक ही था।

''लाभकर तो है, पर कदाचित् तुम्हारे लिए लाभप्रद न हो।'' सुव्रती की यह बदलती हुई मन:स्थिति मेरा मन बैठानेवाली थी। मेरी आँखों में आँखें गड़ाकर कही हुई यह बात हृदय में चुभने लगी।

मैंने विनीतभाव से पूछा, ''ऐसा क्यों, तात?''

''क्योंकि भ्रष्ट साधन से प्राप्त की हुई कोई वस्तु कभी लाभकर नहीं होती।''

''इसका तात्पर्य है कि साधन महत्त्वपूर्ण है, साध्य नहीं!'' मैंने कहा।

''हाँ, बात कुछ ऐसी ही है।'' इसके बाद उन्होंने अपने दंड की ओर संकेत किया, ''इस दंड को देखते हो? इसे मुझसे प्राप्त करने के लिए तुम तीन प्रकार के साधनों का प्रयोग कर सकते हो। पहला साधन तो यह है कि माँगने पर या बिना माँगे मैं तुम्हें दे दूँ, तब यह तुम्हारे लिए मेरे द्वारा प्रदत्त दंड होगा। तुम इसे बड़े प्रेम और श्रद्धा से लोगों को दिखाओगे और कहोगे कि यह ब्रह्मचारीजी का उपहार है। दूसरा साधन यह है कि तुम इसे मुझसे क्रय कर लो, तब यह दंड तुम्हारे लिए क्रीत होगा। अन्य क्रीत वस्तुओं की भाँति महत्त्वहीन होकर सामान्य रूप में पड़ा रहेगा। इसे प्राप्त करने का तीसरा साधन यह है कि तुम इसे मेरे यहाँ से चुरा ले जाओ, तब यह दंड चोरी का कहा जाएगा। इसका उपयोग करना तो दूर रहा, तुम इसे किसीको दिखा भी नहीं सकते।'' वह कुछ क्षणों तक रुके और मुसकराने लगे, ''देखा,

साधन की अपवित्रता से वस्तु कैसे अपवित्र हो जाती है!''

''तो क्या अपवित्र साधन से प्राप्त की हुई विद्या भी अपवित्र होगी?''

''होना तो यही चाहिए।'' इतना कहकर वे चुप हो गए।

मेरा संपूर्ण स्वप्न चूर होकर बिखरने की स्थिति में आ गया। सम्मुख का दीप धीरे-धीरे मद्धिम होता मालूम हुआ, फिर अचानक अंधकार में परिवर्तित हो गया। एक गहरा अँधेरा चारों ओर से मुझे घेर बैठा। मैं नहीं कह सकता कि मेरी ऐसी मन:स्थिति कितनी देर तक थी, किंतु इतना याद है कि जब मैं प्रकृतिस्थ हुआ तब अनुभव किया कि मैंने उनका चरण दबाना छोड़ दिया है।

इसे मैं अपने व्यक्तित्व की विशेषता ही कहूँगा कि जब-जब मैं निराश हुआ, जब-जब मैं घबराया, जब-जब मुझे अँधेरे ने घेरा तब-तब मेरे भीतर से ही कोई-न-कोई किरण फूटी है, जिसने मेरा मार्ग प्रशस्त किया है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। मेरे मन में जैसे किसीने बड़े विश्वास से कहा, 'सुव्रती का यह नियम वस्तुपरक है। ज्ञान के संदर्भ में इसे लगाया नहीं जा सकता।'

अब क्या था! मैं पूरी दृढ़ता के साथ बोला, ''तात, आपका यह सिद्धांत संसार की हर वस्तु के लिए मान्य हो सकता है, पर ज्ञान के लिए नहीं। अपवित्र साधन से प्राप्त किया ज्ञान, यह आवश्यक नहीं कि निष्फल हो जाए। यदि ऐसा होता तो कच के माध्यम से आया शुक्राचार्य का ज्ञान देवताओं के किसी काम न आता।''

मेरे इस तर्क पर सुव्रतीजी अवाक् हो गए। मुझे लगा कि सम्मुख की दीपशिखा अब द्विगुणित वेग से जल रही है।

उन्होंने मेरी बड़ी प्रशंसा की। मुझे आशीर्वाद देते हुए कहा, ''गुरु का सबसे बड़ा सौभाग्य है अपने शिष्य से पराजित होना। सचमुच आज मैं सौभाग्यशाली हूँ और यह भी अनुभव करता हूँ कि परशुराम के ज्ञान-ग्रहण की पात्रता तुममें है। तुम अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होगे।''

आशीर्वाद प्राप्त कर जब मैं ब्रह्मचारी की पर्णकुटी से निकला, सप्तमी का तिर्यक् चंद्र मुसकरा रहा था। निस्तब्धता और शीतलता के ताने-बाने से बुनी झीनी चादर ओढ़कर लगभग सभी कुटियाँ सो गई थीं। केवल आचार्य कौशिक की कुटी में प्रकाश दिखाई दे रहा था। संभवत: वे अध्ययन में रत रहे हों। पीपल से अठखेलियाँ करता पवन मुझमें अद्‍भुत सिहरन पैदा कर रहा था। यह निश्चित ही मेरे जीवन की एक सुखद रजनी थी।

सुव्रती के अतिरिक्त मेरी यह योजना कोई जान नहीं पाया। किसीको आभास

तक मैं होने देना नहीं चाहता था। अपने दैनिक कार्यक्रम में रंचमात्र परिवर्तन आने नहीं दिया था। फिर भी अनजाने में बदलता जा रहा था। उच्छिष्ट शिक्षोपजीवी मैं अब अधिक-से-अधिक ज्ञान समेट लेने के लिए आतुर था; किंतु आचार्य की सेवा में किसी प्रकार की कमी मैंने नहीं की।

मैं ब्राह्म मुहूर्त के पहले ही उठ जाता था और नित्यकर्म से निवृत्त होने के बाद ही मेरे खुले कान अन्य ब्रह्मचारियों की आवृत्ति की ध्वनियाँ पीने लगते थे। यथासंभव मैं उन्हीं स्वरों में स्वर मिलाता चलता था। आचार्य की सेवा में रहने पर ध्वनि मुख से तो न निकलती, पर आवृत्ति का क्रम भीतर-ही-भीतर चलता रहता।

इस प्रकार मंत्र तो मुझे याद हो जाते थे, पर मेरा ज्ञान अर्थ की परिधि से दूर ही रहता। अर्थबोध के लिए मुझे लोगों की आँखें छिपाकर सुव्रतीजी की ही शरण लेनी पड़ती। रात्रि में सोने के पूर्व मैं उनके यहाँ जाता, अपनी समस्याएँ रखता। वे हर शंका का समाधान बिना किसी दुराव और झुँझलाहट के बड़े विस्तार से करते थे। कभी-कभी दो घड़ी तक यह क्रम चलता रहता। रात गंभीर होती जाती, पर बातों का क्रम नहीं टूटता।

एक दिन मैंने आभार प्रदर्शित करते हुए उनसे कहा, ''तात, आपको मैं बड़ा कष्ट देता हूँ।''

''इसमें कष्ट क्या है? इससे तो मुझे आनंद आता है, मेरी रचनाधर्मिता को संतोष मिलता है; क्योंकि एक मूर्ति को गढ़कर मैं दूसरी मूर्ति बना रहा हूँ।''

''मूर्ति बना रहे हैं?'' बात मेरी समझ के बाहर थी।

उन्होंने तत्क्षण मुझे समझाया, ''क्यों, सूत को ब्राह्मण बनाना एक मूर्ति को पुनः गढ़कर दूसरी मूर्ति बनाना नहीं है?'' वह भी हँस पड़े और उनके साथ मैं भी।

ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती, तब असीम को समेटने की व्यग्रता क्यों? मैं ज्ञान के लिए उतना व्यग्र नहीं था जितना कर्मकांड के लिए। मेरी सतत सजग आँखें ब्रह्मचारियों का प्रत्येक कर्मकांड सोखती जाती थीं और यथासंभव बुद्धि से उसका तारतम्य भी बैठाती थीं। असफल होने पर सुव्रतीजी के अतिरिक्त उन्हें कोई सहारा नहीं था। ऐसी ही स्थिति में एक बार मैंने उन्हींके संबंध में पूछा, ''आपने बताया था, तात, कि पितृऋण से मुक्त होने के लिए गृहस्थ आश्रम में रहना आवश्यक है; किंतु आपकी तो कोई गृहस्थी है नहीं।''

''नैष्ठिक ब्रह्मचारी गुरु की सेवा में रहता है।'' उन्होंने मुसकराते हुए बताया।

''यदि गुरु दिवंगत हो जाए तो?'' मैंने पुनः पूछा।

''तो गुरु-पत्नी, गुरु-पुत्र या गुरु-परिवार की सेवा में रहेगा।''

"यदि गुरु के परिवार में भी कोई न रह जाए तो?"

"तो गुरु द्वारा जलाई गई अग्नि की आराधना में ही जीवन बिता देगा।"

"इसका तात्पर्य है कि अग्नि को गुरु का स्थान प्राप्त है। यदि कोई आचार्य किसीको अपना शिष्य न बनाना चाहे तो वह अग्नि को ही अपना गुरु बना सकता है।" मुझे लगा, सदा से बंद मेरा द्वार जैसे खुल रहा है।

"अवश्य बना सकता है। अग्नि ही सृष्टि के आदि में रही है। यह यज्ञ में आहूत सभी देवताओं में अग्रणी है। शायद इसीलिए उसे 'अग्नि' कहते भी हैं।"

सुव्रतीजी को आर्ष विद्याओं का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने मुझे ऐसी अनेक बातें बताईं जो सामान्य ब्रह्मचारियों को मालूम नहीं थीं। कभी-कभी तो मैं स्वयं घबरा जाता और बोल पड़ता, 'यह सब जानकर क्या होगा, तात? हमें साधारण बातें ही बताइए।' तब वह बड़े आतंकित स्वर में कहते, 'जानते हो? आर्यावर्त के नितांत असाधारण व्यक्तित्व के समक्ष तुम परीक्षा देने जा रहे हो।' और तब मैं चुप हो जाता। उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनता और मस्तिष्क में सबकुछ समेटकर रखता जाता।

अंतिम तैयारी के समय उन्होंने मुझसे पूछा, "अच्छा बताओ, यहाँ से दूर जाने के बाद और महेंद्र पर्वत पर पहुँचने के पूर्व तुम्हें सबसे पहले क्या करना चाहिए?"

निश्चय ही उनका प्रश्न प्रश्न नहीं था वरन् कुछ और बताने की भूमिका थी। वह पुनः बोले, "तुम्हें सबसे पहले यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।" फिर उन्होंने यज्ञोपवीत के संबंध में विस्तृत जानकारी दी, "बिना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण संध्या करने का अधिकारी नहीं होता। ...त्रिकाल संध्या अलग-अलग नामों से पुकारी जाती है। यथा प्रातःकालीन संध्या को गायत्री, मध्याह्न संध्या को सावित्री एवं सायं संध्या को सरस्वती संध्या कहते हैं। इनमें मंत्रों एवं प्रक्रिया में मामूली सा परिवर्तन होता है।" उन्होंने उन परिवर्तनों को भी समझाया।

मुझे आश्चर्य था कि आश्रम में इतने दिन बिताने के बाद भी किसी ब्रह्मचारी को कर्मकांड की ठीक विधि से पालन करते नहीं देखा था। मैंने सहजभाव से पूछा, "तात, मैंने आश्रम के लोगों को तो ऐसा करते नहीं देखा!"

"मुझे भी नहीं देखा?"

"आपकी बात मैं नहीं करता।"

वे हँसे और बोले, "हाँ, अब कर्मकांड विधि-विधान से दूर होता जा रहा है। तभी तो आश्रमों की यह दशा है।" इतना कहने के बाद वे गंभीर हो गए थे।

यज्ञोपवीत के प्रत्येक धागों के प्रति सजग करते हुए उन्होंने कहा, ''इसमें तीन मुख्य सूत्र होते हैं। प्रत्येक सूत्र नौ तंतुओं में बटे और माँजे जाते हैं। ये नौ तंतु नौ देवताओं के नाम पर हैं—ॐ, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, सूर्य एवं सर्वदेव।'' इतना कहकर वे मुसकराने लगे। उन्होंने अनुभव किया कि मेरे मस्तिष्क पर बोझ बढ़ता जा रहा है। फिर भी ज्ञान की कड़वी घूँट मुझे एक और यह कहकर पिलाई कि ब्राह्मण का यज्ञोपवीत रुई का, क्षत्रिय का शण (सन) का एवं वैश्य का ऊन का होना चाहिए।

''पर यहाँ पर मैं ऐसा कुछ नहीं देखता, महाराज!''

''यदि तुम देखते होते तो बताने की क्या आवश्यकता थी!'' उन्होंने एक और रहस्योद्घाटन किया, ''शास्त्रोक्त विधि के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी की उत्तरीय वासस् (एक प्रकार का अधोवस्त्र) काषाय, क्षत्रिय का मांजिष्ठ (मजीठ) और वैश्य का हरिद्र होना चाहिए; किंतु इन सबका विकल्प भेड़चर्म और कंबल भी हो सकता है।'' उनके ज्ञान का आतंक मेरे मस्तिष्क पर पूरी तरह छा गया था। मैं उनका मुख देखता रह गया।

''क्या देखते हो? तुम उद्भट शास्त्रज्ञ के पास जा रहे हो। तुम्हें ब्राह्मणत्व की परीक्षा देनी है न!''

''आपने तो मुझे इतना आतंकित कर दिया है कि अब भयभीत होने लगा हूँ।'' मैंने कहा।

''तुम और भय, हा-हा-हा!'' वह जोर से हँसे, ''सूर्य शीतल हो सकता है, पर राधेय भयभीत नहीं हो सकता।'' संभवतः उन्होंने मुझमें नवस्फूर्ति की उद्भावना के लिए ऐसा कहा था।

मुझे ठीक याद है, एक क्षण रुककर उन्होंने मुझसे कहा, ''तुम्हें वह मंत्र याद है या नहीं?''

''कौन सा?''

''वही, अभयं मित्रात् अभयं अमित्रात्…।''

मैंने सिर हिलाकर मंत्र के याद होने की स्वीकृति दी और उनके स्वर में स्वर मिलाते हुए मंत्र बोलने लगा।

''जो इस मंत्र की आवृत्ति करता है उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता।'' उन्होंने बड़े विश्वास के साथ कहा।

□

अज्ञान में जो सुख है, वह ज्ञान में नहीं। अज्ञान वट की घनी छाया है, जिसमें

जड़ता है, निस्पृहता है और है आदिहीन अंत की शांति; किंतु ज्ञान मृग-मरीचिका है, जिसमें सतत गति है, मित्रतामूलक ऊहापोह है और है अंतहीन आदि की व्यग्रता। जब हम थोड़ा जान लेते हैं तो उससे अधिक जानना चाहते हैं। जब कुछ ज्ञेय हो जाता है, फिर अज्ञेय की ओर दौड़ते हैं। यही ज्ञेय से अज्ञेय की दौड़ ही अशांति की जड़ है, जिसके चक्कर में मैं पड़ चुका था।

अब मैं पहले से अधिक उद्विग्न था। मन उठती हुई आशंकाओं से घिरा रहता। निरंतर सोचा करता, यदि यह पूछा गया तो क्या कहूँगा? यदि वह पूछा गया तो क्या कहूँगा?

इसी बीच एक सामान्य सी घटना घटी, जिसने मुझे एकदम झकझोर दिया। प्रात:कालीन अग्निहोत्र के समय मैं यज्ञशाला में उपस्थित था। अचानक मुझे सूचना मिली कि मेरे पालित मृगशावक को एक गाय मार रही है। मैं दौड़ा हुआ बाहर आया। गाय को हटाया। मृगशावक के ऊपर लगी सींग की खरोंच पर तेल में यज्ञ की भस्म मिलाकर लेप करने लगा। मैं कह नहीं सकता कि इस कार्य में कितना समय लगा होगा। पर इसी बीच अग्निहोत्र समाप्त हो गया।

एक ब्रह्मचारी आया और बोला, "आचार्य तुम्हें बुला रहे हैं।"

यज्ञ की समाप्ति पर मेरी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी, फिर भी आचार्य ने बुलाया था। मैंने पहुँचने में शीघ्रता की। मुझे देखकर वे कुछ नहीं बोले। नितांत सामान्य भाव से सुव्रतीजी से बातें करते रहे। मैं भी बगल में बैठ गया। अन्य ब्रह्मचारी धीरे-धीरे वहाँ से उठकर चलते बने। बात करते-करते आचार्य ने पद्मासन भंग कर पैर फैलाया और निकट का स्तंभ टेककर बैठ गए। मेरी जिज्ञासा मचल रही थी कि आखिर आचार्य ने बुलाया क्यों।

किंतु आचार्य की मुद्रा मेरे प्रति तटस्थ थी, जैसे उन्होंने बुलाया ही न हो। कितना विचित्र था! पूछने की इच्छा होकर भी मैं मौन था। पूछूँ तो क्या पूछूँ? और कैसे पूछूँ? चुपचाप अपने स्थान से उठा और आकर उनके चरण दबाने लगा। वे मुसकरा पड़े और पूर्व की भाँति 'योगवासिष्ठ' के किसी प्रसंग की चर्चा में पुनः तल्लीन हो गए।

मेरी दृष्टि अचानक आचार्य के पीछे रखे दुग्धपात्र पर पड़ी। एक बिल्ली दूध पी रही थी। मैंने 'बिल' कहते हुए अपना हाथ उठाया। लोगों की दृष्टि उधर गई। बिल्ली उछलती हुई निकल गई थी।

आचार्यजी हँस पड़े। फिर मुझसे बोले, "देखते हो!"

मैं समझ नहीं पाया कि उनके कथन का क्या उद्देश्य है। सुव्रतीजी भी

चकित हो कभी मेरा और कभी आचार्यजी का मुख देख रहे थे। कुछ क्षणों के बाद आचार्यजी स्वयं बोले, ''बिल्ली को भगाने के लिए जो तुमने उद्घोष किया उससे वे पक्षी भी उड़ गए जो उच्छिष्ट अन्न चुग रहे थे।''

''किंतु महाराज, वे पुनः आ गए।'' मैंने कहा।

''इसलिए आ गए कि इनपर उन्हींका अधिकार है। किंतु अनधिकार चोरी से हड़पनेवाला जब एक बार भगा दिया जाता है तो फिर वह आने का साहस नहीं करता।'' इतना कहते-कहते एक रहस्यमय मुसकराहट आचार्य के अधरों पर झलक आई। मेरा शंकित मन उस मुसकराहट में उलझ गया।

मेरी मनःस्थिति का अनुमान संभवतः सुव्रतीजी को हो गया। वातावरण को हलका करने की नीयत से ही उन्होंने कहा, ''हमें ध्यान रखना चाहिए, बिल्ली फिर आ सकती है।''

''इसलिए आ सकती है कि वह मूर्ख है; किंतु कोई संवेदनशील विवेकी भगाए जाने पर दुबारा नहीं आ सकता।''

''और मान लीजिए, वह आ ही गया तो?''

''तो वह पुनः भगा दिया जाएगा, क्योंकि अनधिकार चेष्टा का परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।'' बड़े विश्वास से उन्होंने कहा और मेरी ओर देखकर मुसकराते रहे।

मैं उद्विग्न हो उठा। उनकी मुसकराहट मेरे मस्तिष्क में चुभने लगी।

मेरे आंदोलित मन में विचित्र मंथन था। मैं उनका चरण तो दबा रहा था, पर मैं वहाँ था नहीं। मैं सुव्रतीजी के कक्ष में चला आया था। उनसे बार-बार पूछ रहा था, 'आचार्य ने ऐसा क्यों कहा? मेरी योजना का क्या उन्हें पता चल गया है? कैसे पता चला? किसने बताया? क्या परशुराम से विद्या ग्रहण करना मेरी अनधिकृत चेष्टा है? क्या मैं उसका अधिकारी नहीं हूँ? आपने तो कहा था कि तुममें उनके ज्ञान की पात्रता है। वही तो प्राप्त करने जा रहा हूँ। तब मैं इतना घबरा क्यों रहा हूँ? इतना उद्विग्न क्यों हूँ?...माला कहती थी कि तुम्हारी गोपनीयता ही इस बात का प्रमाण है कि तुम अपराध करने जा रहे हो। तो क्या मैं अपराधी, चोर हूँ? उस बिल्ली की भाँति चुपचाप दूध पीने चला हूँ? अवश्य ऐसा है, नहीं तो आचार्यजी कहते क्यों? बोलते क्यों नहीं? आप मौन क्यों हैं?' मेरी बढ़ती हुई व्यग्रता भाव-लोक में सुव्रतीजी को जोर-जोर से झकझोरने लगी। और वास्तविक जगत् में आचार्यजी का चरण दबाने के स्थान पर मैं उसे जोर से हिलाने लगा था।

''यह क्या कर रहे हो?'' वे बोल उठे।

अब मैं कल्पनालोक से एक छिपकली की भाँति यथार्थ की धरती पर चू पड़ा था। लज्जित था।

"आखिर मेरे पैरों ने कौन सा अपराध किया था कि तुम उन्हें तोड़े डाल रहे हो?" आचार्य हँसते हुए बोले।

मैं पानी-पानी हो गया। कैसे कहूँ कि आचार्य को मेरी मन:स्थिति का अनुमान न हुआ होगा।

मैं चुप था, सुव्रतीजी आश्चर्यचकित थे और आचार्य चिंतन मुद्रा में।

मुझे वहाँ एक-एक पल भारी पड़ रहा था। आचार्य जब उठे, मुझे लगा कि मैं किसी पाश से मुक्त हुआ। पिंजरा खुलते ही भाग निकलनेवाले पक्षी की तरह मैं सुव्रती की कुटी की ओर उड़ा। पर यह भी पिंजरा खाली था। मैं मौन हो एक कोने बैठ गया। थोड़ी देर बाद सुव्रतीजी आ गए।

"क्या मेरी योजना का पता आचार्यजी को लग गया है?" उन्हें देखकर मैंने छूटते ही कहा।

"यह तो मैं नहीं कह सकता।"

"किंतु आपके और मेरे अतिरिक्त इसे कोई तीसरा नहीं जानता था।"

"यही तो रहस्य है, वत्स! हर बात तीसरा पहले जानता है और हम-तुम बाद में।"

सुव्रती की बात मेरी समझ में नहीं आई। उन्होंने स्वयं बताया, "तीसरा ही सबकुछ जानता है। हम सब तो कुछ नहीं जानते।"

"कौन है वह तीसरा?" कुतूहल के चरम बिंदु पर मैं बोल पड़ा।

"भगवान्!" कितना सरल, कितना सीधा, कितना आसान उत्तर था। वे अपनी प्रकृति के अनुसार ही हँसने लगे। मुझे लगा कि रहस्य के शिखर पर एक नन्ही सी चिड़िया ही मुझे दिखाई गई, जिसके पंख उसे कहीं भी पहुँचा सकते हैं, जिसका नाम हर कोई जानता है, पर वह किसीकी पकड़ में नहीं आ सकती, क्योंकि वह निर्गुण है, गंध और स्पर्श से परे।

"मात्र भगवान् की प्रेरणा से आचार्य ने जान लिया? यह बात मेरी समझ में नहीं आती।"

"जो समझ में न आए उसे भगवान् पर ही छोड़ना चाहिए।" इतना कहकर सुव्रतीजी जोर से हँसे और हँसते रहे।

मेरी उद्विग्नता बढ़ती गई। मैं दिन भर असामान्य रहा। कई घड़ी तक आश्रम के बाहर जंगल में निरुद्देश्य टहलता रहा। भीतर आने का साहस नहीं था। कहीं

आचार्यजी का सामना न हो जाए। अब उनकी छाया भी मुझे आतंकित करनेवाली थी। मेरे मन में यह विश्वास जमता चला जा रहा था कि आचार्यजी अवश्य ही मेरी योजना जानते हैं। भले ही यह सत्य न हो, पर चोर का जी आधा।

संध्या के झुटपुटे में चोरों की तरह मैं आश्रम में आया और अपनी कुटिया में घुस गया। कुश-शय्या पर पड़ा-पड़ा मैं सोचता रहा। एक ओर व्यग्रता थी, उद्विग्नता थी तो दूसरी ओर अपनी योजना को कार्यान्वित करने की अपार दृढ़ता। इस अग्नि और जल के संगम की वाष्प भीतर-ही-भीतर उठने लगी थी। यदि मेरे मन ने स्वतः संतुलन न किया होता तो वह मेरे व्यक्तित्व के घट को फोड़कर निकल जाती और मैं पागलों की भाँति चीख उठता।

रात्रि सरकती गई। निशीथ में मैं अपनी कुटिया से निकला। सुव्रतीजी के द्वार पर आया। उनकी नासिका बोल रही थी, प्रगाढ़ निद्रा में सोए थे। मैंने उन्हें जगाना उचित नहीं समझा। निविड़ अंधकार में उनके व्यक्तित्व को निहारता मेरा मन सोचता रहा कि क्या करूँ।

लगता है, भीतर से किसीने कहा, 'उन्हें सोने ही दो। चरणम्पर्श कर चल पड़ो, नहीं तो यह भयानक अँधेरा तुम्हें घेर लेगा।'

मैंने झुककर चरणस्पर्श किया ही था कि वे जाग गए।

''कौन है?'' वे बोले।

''मैं हूँ, तात!'' संकोच से भीगी, बोझिल ध्वनि में दूर तक बढ़ पाने का सामर्थ्य नहीं था।

''इतनी रात को चले!'' वे अचानक उठ बैठे।

''अब मैं जा रहा हूँ। सोचा, चलते समय आपके चरणस्पर्श कर लूँ।''

''आचार्यजी से आशीर्वाद लिया?'' उन्होंने पूछा।

मैं चुप था, एकदम चुप। स्तब्धता स्वयं मुझे काँपती हुई ज्ञात हुई।

''फिर घबरा उठे तुम।'' सुव्रतीजी की मुसकराहट उस अँधेरे में भी खिलखिलाई, ''कोई बात नहीं। तुम आचार्यजी से बिना मिले भी जा सकते हो, ब्राह्मणकुमार!''

'ब्राह्मणकुमार!' यह कितना सुखद संबोधन था मेरे लिए। मैं पुनः उनके चरणों की ओर झुका।

''जा तो रहे हो, ब्राह्मणकुमार; पर तुम्हें मालूम है कि तुम्हारा गोत्र क्या है, तुम्हारी शाखा क्या है, तुम्हारा वेद क्या है?''

मैं कुछ बता न सका। मैंने अनुभव किया कि मैं अपनी पहली ही परीक्षा में

निरुत्तर हो गया। फिर भी सुव्रतीजी हँसते रहे, ''घबराने की आवश्यकता नहीं। यदि कभी पूछा जाए तो तू मेरा ही गोत्र, मेरी ही शाखा, मेरा ही वेद बता देना।'' इतना कहकर उन्होंने अपना गोत्र, शाखा एवं वेद बताया और कहा, ''समझ लेना कि तू मेरा ही पुत्र है।''

''मैं आपका पुत्र! मेरा यह गौरव है! आप कैसी बात करते हैं, तात? ब्रह्मचारी को तो कोई पुत्र नहीं होता!''

''मानस पुत्र होता है, वत्स।'' वे पुनः हँसे, ''उसे भले ही पुत्र न हो, पर वह किसीको भी अपना पुत्र स्वीकार कर सकता है।''

मैं कुछ समय तक फिर मौन हो गया। मेरा साहस एक बार पुनः डगमगाया। मैंने बड़े विनीतभाव से कहा, ''कुछ और बता दीजिए, तात!''

''अब और बताने की आवश्यकता नहीं है।'' इतना कहकर वे उठे और द्वार के निकट आकर आकाश की ओर देखा। समय का अनुमान लगाया। फिर दाहिने हाथ की तर्जनी नाक के निकट ले जाकर देखा कि कौन सी नासिका चल रही है। संभवतः उन्होंने ग्रह-नक्षत्रों के साथ लग्न का भी विचार किया।

थोड़ी देर बाद अयाचित एक ध्वनि उनके मुख से छूट पड़ी, ''अब तुम जा सकते हो।''

''बड़े संकोच में हूँ।'' मैंने कहा।

''क्या?''

''यही, कहीं कुछ जानने की आवश्यकता पड़ी तो क्या करूँगा?''

''अपने अंतःकरण से पूछना।'' उनकी ध्वनि अप्रत्याशित रूप से गंभीर हो गई, ''अंतःकरण से बड़ा कोई गुरु नहीं, विवेक से बड़ा कोई ज्ञान नहीं और संतोष से बड़ा कोई धन नहीं।''

अब वे एक क्षण मुझे वहाँ रुकने देना नहीं चाहते थे। कदाचित् उन्हें भय था, मेरे अनुकूल लग्न कहीं निकल न जाए। वे मुझे लेकर आश्रम के द्वार तक आए। मैंने अंतिम बार अपना मस्तक उनके चरणों पर रखा और उस अंधकार सागर में मौन तैरता आगे बढ़ा।

'शिवास्ते पन्थानः।' उनका आशीर्वाद पीछे-पीछे चला।

□

छह

यह चित्र महेंद्र पर्वत का है, जो कभी भी अपनी हरीतिमा नहीं उतारता। वन-वैभव से संपन्न यह भूखंड अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिए आकर्षण का केंद्र है। यहाँ झरते हुए निर्झर हैं, जागते हुए सोते हैं और है उत्पातविहीन एक लंब्री उपत्यका।

पहाड़ी के शीर्ष पर वन-सौंदर्य के ललाट में अंकित बिंदी के समान है आचार्य परशुराम का आश्रम, जिसे अभी तक मैंने देखा नहीं है; किंतु सुना है कि बिंदु में समानेवाले सिंधु की भाँति यह आश्रम आकार-प्रकार में अपनी लघुता में तापसी भव्यता समेटे हुए है।

उपत्यका में ही एक छोटा सा ग्राम है गंगी। लोग बताते हैं कि इसका पुराना नाम 'गांगेयी' था, जो बिगड़कर 'गंगी' हो गया है। कभी गंगा यहाँ से बहती थी। जब उसने कक्षा बदली तब यह सारी-की-सारी भूमि गंगा की कोख से निकल आई और 'गांगेयी' कहलाई। प्राकृतिक दृष्टि से उर्वर और स्वभाव से शांत यह ग्राम मेरा अंतिम पड़ाव था। यहाँ मैं कई दिनों तक रह गया। ग्रामवासियों का स्नेहयुक्त आदरभाव और स्वयं मेरे मन की द्विविधा मुझे आगे बढ़ने नहीं देती थी।

ब्रह्मचारी ग्राम में नहीं बसता, इसीसे ग्राम के बाहर एक शिव मंदिर पर ही मेरी रातें बीतने लगीं। जाड़ा अपनी अंतिम साँस ले रहा था। कुश-शय्या पर एक कंबल ओढ़कर काम चला लेता था। दिन गाँव में बीतता था।

ग्राम भी था ब्राह्मणों का। अनेक ब्राह्मणकुमारों को मैंने देखा था। उनमें से कई के व्यक्तित्व भी आकर्षक थे। मैं सोचता था कि इनमें से किसीको भी परशुराम अपनी विद्या दे सकते थे। फिर उन्होंने क्यों नहीं दी? क्या इनमें पात्रता नहीं है, या इनमें से किसीने आकांक्षा ही नहीं की?

इस संबंध में किसीसे मैंने बात नहीं की। करता भी तो क्या करता? सोए हुए

ज्वालामुखी की तरह यह दबा हुआ विचार भीतर-ही-भीतर धधकता रहा। दो या तीन दिनों के बाद इस ग्राम का वृद्ध प्रमुख कुछ खाद्य पदार्थ लेकर मंदिर पर आया। मैं उसे संकेत से आशीर्वाद दूँ, इसके पहले ही एक नई शंका ने जन्म लिया, अभी दोपहर तक मैं ग्राम में ही था, इससे मिला भी था; पर कोई विशेष बात तो नहीं थी। फिर इस समय यहाँ क्यों चला आया? फिर भी चिंतन की सतह पर मेरा संध्या-पूजन चल रहा था। वह चुपचाप मंदिर के द्वार के निकट ही बैठ गया।

संध्या समाप्त कर ज्यों ही मैं सूर्य को अर्घ्य देने बाहर निकला, वह भी उठकर कुछ पग मेरे साथ आया।

''आपको कोई कष्ट तो नहीं है।'' उसने विनीतभाव से पूछा।

''कष्ट! ब्रह्मचारी को कहीं कोई कष्ट नहीं होता, भद्र।'' मैंने मुसकराते हुए बड़े सामान्य भाव से कहा। पर मन में तो यह बात थी कि इतने दिनों बाद आज मेरे कुशल-क्षेम की चिंता हुई है।

बिना पूछे इसी संदर्भ में बताने लगा, ''अभी तक तो मैं यह समझता था कि यह ग्राम आपका पड़ाव है, मगवास। पर अब मैं समझने लगा हूँ, आप यहाँ कुछ दिनों तक रहेंगे।''

''बहता जल और प्रवासी ब्रह्मचारी कब तक कहाँ रहेगा, इसका क्या ठिकाना!'' इतना कह मैंने एक हँसी अपनी आकृति पर चिपका ली। वह मुझे देखता रह गया।

''तो आप अधिक दिनों तक यहाँ नहीं रहेंगे?''

''नहीं। यह तो पड़ाव मात्र है।''

''क्या मैं जान सकता हूँ कि आपका गंतव्य कहाँ है?''

''ओ···महेंद्र पर्वत।'' मैंने तर्जनी से उस ओर बड़े भाव से संकेत किया और बोला, ''आचार्य परशुराम का आश्रम।''

''अच्छा, तो आप भी उसी मार्ग के पथिक हैं!'' इतना कहकर ग्राम प्रमुख तो मुसकराकर रह गया, पर उसका साथी हँसने लगा।

उनसे ऐसी प्रतिक्रिया की मुझे आशा नहीं थी। अचानक मेरी भंगिमा बदल गई। अब उन्होंने भी अपने को सँभाला। पर मैं चुप न रह सका, ''क्यों? आप हँसे क्यों?''

''नहीं-नहीं, कोई विशेष बात नहीं है।'' उन्होंने बड़ी सावधानी से स्वयं को छिपाया, ''यही सोचकर हँसी आ गई कि इस ग्राम में जो भी आता है, दो ही चार दिनों के लिए आता है।'' इतना कह उन्होंने खाद्य पदार्थ रख दिया और अभिवादन कर चले गए। किंतु मेरे मन पर घिरे बादलों में उनकी हँसी बिजली की भाँति

चमकती रही।

दूसरे ही दिन ग्राम के हर व्यक्ति को ज्ञात हो गया कि औरों की भाँति मैं भी आचार्य परशुराम के ब्रह्मास्त्र के लोभ में ही आया हूँ। ग्रामवासियों के व्यवहार से मुझे अनुभव होने लगा कि कल जैसा आज मेरा सम्मान नहीं है।

अगले दिन मैं उस ग्राम प्रमुख के द्वार पर भी गया। उठकर उसने मेरा अभिवादन तो किया, पर पहले जैसी बात नहीं थी। मेरे मन में एक बार आया कि मैं इस संदर्भ में कुछ पूछूँ; पर बातें कैसे शुरू करूँ, समझ में नहीं आया। उन्हींके द्वार पर बैठ गया। उसने कामधेनु का धारोष्ण दूध पिलाया, फलाहार कराया। ग्राम के अन्य लोग भी धीरे-धीरे एकत्र होने लगे। बातें चल पड़ीं और जलयान के पंछी की तरह घूम-फिरकर आश्रम और ब्रह्मचर्य जीवन पर आ गईं।

"ब्रह्मचारी को लोभ और संन्यासी को भोग से दूर ही रहना चाहिए।" ग्राम प्रमुख ने बड़ी दबी जबान से कहा।

"इसके लिए तो गार्हस्थ्य जीवन ही है।" यह दूसरी आवाज थी।

"तब ब्रह्मचारी लोग किसलिए इतनी दूर चले आते हैं?" यह ध्वनि मेरे पीछे से आई थी।

पर इससे मेरा सीधा संबंध था। मैंने उत्तर दिया, "ज्ञान के लिए। और ज्ञान की लिप्सा कभी लोभ नहीं होती।"

"अवश्य, यदि इस लिप्सा के पीछे प्रतिहिंसा की भावना न हो।" ग्राम प्रमुख ने कहा, "किंतु मात्र प्रतिशोध की भावना से ज्ञान ग्रहण करना और देना एक ब्रह्मचारी तथा आचार्य दोनों को अपने कर्तव्य से स्खलित करता है।"

ग्राम प्रमुख के इस वाक्य का मैंने भी समर्थन किया। फिर एक विशेष कर्कश ध्वनि मुझसे और टकराई, "तब आप आचार्य परशुराम के आश्रम में क्यों जा रहे हैं?" यह प्रश्न बड़ा सीधा था। उत्तर की प्रतीक्षा में सभी चुप थे। उनका मौन प्रश्नवाचक मुद्रा में मेरे सामने एकदम खड़ा हो गया।

मैंने बड़े विश्वास से कहा, "ब्रह्मास्त्र ज्ञान के लिए।"

"क्या आवश्यकता है एक ब्राह्मणकुमार को ब्रह्मास्त्र की? उसे तो शस्त्र से अधिक शास्त्र का जिज्ञासु होना चाहिए।" जनसमूह से निकली इस ध्वनि में गंभीरता से कहीं अधिक तीखापन था।

परिस्थिति मेरे लिए बोझिल होने लगी। उस समय जनसमूह की वाणी रुकनेवाली नहीं थी।

"आप जानते हैं, परशुरामजी किसी ब्राह्मणकुमार को अपनी ब्रह्मास्त्र विद्या

ही नहीं देना चाहते, वरन् ...''

यह वाक्य पूरा हो इसके पहले ही मेरे मुख से निकला, ''तो और क्या देना चाहते हैं?''

''अपने परंपरागत प्रतिशोध का उत्तराधिकार भी।'' मैंने अनुभव किया कि वातावरण एक विचित्र खीझ से भर उठा है। वह ध्वनि मुझे और तीव्र होती मालूम हुई, ''विचित्र बात है, परशुरामजी यह नहीं देखते कि मेरे ज्ञान ग्रहण की किसमें कितनी पात्रता है, वरन् वह यह देखते हैं कि कौन किस सीमा तक मेरा प्रतिशोध ले सकता है।''

यह ध्वनि अभी हलकी हुई नहीं थी कि एक दूसरी आवाज उभरी, ''जहाँ ब्राह्मणकुमारों का ज्ञान प्रतिहिंसा से परिवेष्ठित हो जाएगा, उस भूखंड का भगवान् ही कल्याण करें!'' और इसके बाद एकदम शांति हो गई, जैसे झंझावात थम गया हो।

मैं भी मौन था। उन ग्रामवासियों की संपूर्ण मनीषा का पर्वत मेरी बुद्धि को दबा बैठा था। मैं कुछ बोल तो नहीं पा रहा था, पर मेरा मन चीख रहा था, 'मूर्खो, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मुझे शास्त्र से अधिक शस्त्र चाहिए, मुझे तप से अधिक तामस चाहिए। मुझे क्षमा से अधिक प्रतिहिंसा चाहिए।' पर मैं चुप था, एकदम चुप। और प्रथम अनुभूति कर रहा था उस घुटन की, जो मुखौटा लगा लेने के बाद किसी व्यक्ति में अपनी संपूर्ण ऊर्जा के साथ आरंभ होती है।

थोड़ी देर बाद मैं वहाँ से चला आया। सिर पर तपता सूर्य पश्चिम की ओर ढुलकने को था। शिव मंदिर की छाया लंबी हो गई थी। तेज हवा के कंधे पर सवार शीत छाया में सिहरन पैदा कर रही थी; पर धूप तीखी लग रही थी। अतएव छाया में कंबल पर सिर रख, उत्तरीय ओढ़कर मंदिर के जगत पर ढुलक गया। पास के रसाल वृक्ष में छिपा कोकिल वसंत गा रहा था।

नींद कब आई, पता नहीं। पर इतना निश्चित था कि मैं बेसुध सो गया था। जब आँखें खुलीं तो देखा, चारों ओर से लोग मुझे घेरे हुए खड़े हैं। उनकी आकृतियों पर आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता है। इस रहस्य की परिधि का केंद्रबिंदु मैं कैसे बन गया, मुझे कुछ पता नहीं।

चकित हो मैं उठ बैठा।

''आप लोग मुझे इस तरह से क्यों घेरे हुए खड़े हैं?'' मैंने पूछा।

''हम लोग ब्रह्मचारी के रूप में भावी शासक को देख रहे हैं।'' उनमें से एक वृद्ध आगे आकर बड़े विनीतभाव से बोला। उसके पीछे ग्राम प्रमुख भी हो लिया था।

"भावी शासक!···यह क्या कहते हो?" मैं कुछ समझ नहीं पाया।

"हाँ-हाँ, भावी शासक···राजा।"

आश्चर्य की चरम सीमा पर एक जड़ता आ जाती है। मैं भी जड़ हो गया था। लोगों को विस्फारित नेत्रों से देख रहा था। इसी बीच उस प्रथम व्यक्ति ने रहस्योद्घाटन किया, "आप जब सो रहे थे, एक नाग फन काढ़कर आपके सिर पर छाया किए बैठा था।"

मुझे हँसी आ गई। "इससे क्या होता है?" मैंने पूछा।

"यह राजयोग है, ब्राह्मणकुमार।"

"आप ज्योतिषी हैं क्या?"

"ज्योतिषी तो नहीं हूँ, किंतु इस ग्राम का मांत्रिक हूँ।" क्षण भर रुककर वह पुनः बोला, "आश्चर्य तो यह है कि आपके वक्ष पर सारिका बैठी थी। वह एकटक नाग को देख रही थी, पर नाग एकदम शांत था। उड़ते समय भी सारिका नाग के फन पर चोट मारती चली गई, फिर भी वह फुफकार तक नहीं सका, वरन् चुपचाप सरक गया।"

"किधर गया वह नाग?" मैंने पूछा।

"यही तो कुछ ठीक नहीं हुआ।"

"क्या?"

"वह आपके सिर की ओर से नहीं गया वरन् आपके पैरों की ओर आया और तलवों को छूता निकल गया।" इतना कहकर वह कुछ सोचने लगा।

"क्या सोच में पड़ गए?"

"सोचता हूँ कि आप राजा तो होंगे अवश्य, पर बहुत पराभव और अपमान आपको देखना होगा।"

इतना कहकर उसने ग्राम प्रमुख की ओर देखा और बोला, "सारिका के व्यवहार से ऐसा लगता है कि कोई स्त्री ब्राह्मणकुमार के जीवन को गंभीर रूप से प्रभावित करेगी।"

अचानक माला की मुसकराती आकृति मेरे मानस में उतर आई। किंतु मैं बड़े शांतभाव से बोला, "किंतु मुझे राजा बनने की जरा भी संभावना नहीं दिखती।"

"पर आप राजा अवश्य होंगे।" उसने फिर वही भविष्यवाणी दुहराई। अब उसकी दृष्टि मेरे कान के कुंडलों पर गई। वह अत्यंत विनम्रभाव से बोला, "एक बात पूछूँ?"

"अवश्य पूछिए।"

"ये कुंडल आपने कब धारण किए हैं?"

"यह तो मुझे नहीं मालूम।"

"आपको नहीं मालूम?" इतना कहकर उसने मेरे दक्षिण कुंडल पर हाथ लगाया, "अरे, यह तो बिना जोड़ का है। यह कानों में कैसे लगा होगा?"

"यही तो मूल समस्या है। यह कानों में गया या कान इनमें गए!" मैं जोर से हँस पड़ा। सभी लोग मेरी हँसी में सम्मिलित हो गए।

पर वह मांत्रिक अभी भी चकित हो मुझे देखता रहा और बड़े विश्वास से बोला, "आप इस समय भले ही मेरी भविष्यवाणी की हँसी उड़ा लें, किंतु एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब आप राजा होंगे।"

"अच्छा भाई, यदि मैं राजा हो जाऊँगा तो तुम जो माँगोगे, दूँगा।"

"बस, इतना ही देंगे आप? बड़े विशाल हृदय के मालूम होते हैं!" उसका यह व्यंग्य मुझे चुभ गया, क्योंकि मेरा अहं अपने विरुद्ध किसी भी रूप में कुछ भी सुनने को तैयार नहीं होता।

मेरा स्वर गंभीर हुआ, "आखिर क्या चाहते हो तुम?"

"यही कि राजा होने के बाद आप किसी भी याचक को और विशेषकर ब्राह्मण याचक को अपने यहाँ से खाली हाथ न लौटाएँ।"

'एवमस्तु!'

"इतना कहने से काम नहीं चलेगा।" मांत्रिक की ध्वनि फूटे हुए मर्दल की भाँति घर्राई। उसने अस्त होते हुए सूर्य की ओर संकेत कर कहा कि उनकी शपथ लेकर कहना होगा कि हे भगवान् भास्कर! यदि मैं राजा हो जाऊँगा तो कोई भी ब्राह्मण याचक जो कुछ माँगेगा, उसे अवश्य दूँगा।"

मैं भावावेश में खड़ा हो गया। और जगत पर कुछ आगे बढ़कर डूबते हुए सूर्य को नमस्कार कर शपथ की शब्दावली ज्यों-की-त्यों दुहरा दी।

मांत्रिक की आकृति पर प्रसन्नता उभर आई, "अब मुझे विश्वास है कि राजा होने के बाद कोई ब्राह्मण आपके यहाँ से खाली हाथ नहीं लौटेगा।"

"पर मुझे तो यही विश्वास नहीं है कि मैं राजा भी हो सकता हूँ।"

"मुझे तो पूर्ण विश्वास है; किंतु मैं आपको कैसे विश्वास दिलाऊँ!" मांत्रिक ने कहा।

"जैसे मैंने आपको विश्वास दिलाया है।" मैंने कहा।

अब वह भी आवेश में आ गया। भगवान् सूर्य को नमस्कार कर भावाकुल हो बोला, "हे सविता देवता, यदि मेरी भविष्यवाणी मिथ्या हो जाए तो मैं अकाल

मृत्यु को प्राप्त होऊँ।''

उसके इतना कहते ही सभी 'साधु-साधु' चिल्ला उठे। वातावरण अत्यंत गंभीर हो गया। इस अप्रत्याशित स्थिति के प्रकोप से एक विचित्र 'चुप्पी' का धुआँ सा निकला और हम सब उसमें घिर गए।

धीरे-धीरे लोग हटने-बढ़ने लगे। संध्या के मुख पर कालिख पुतने के समय वहाँ मेरे अतिरिक्त कोई रह नहीं गया था।

□

आचार्य परशुराम से प्रथम साक्षात्कार की अनुभूति बड़ी विचित्र थी। उस आश्रम के ब्रह्मचारियों ने जब मुझे उनके समक्ष उपस्थित किया तब मैं एकदम घबराया हुआ था। उनके प्रभापूर्ण मुखमंडल का कुछ ऐसा प्रभाव था कि मेरे द्विविधाग्रस्त मानस में ज्वार सा उठने लगा। हिम रेखाओं से घिरी गहरे नील कुंडों जैसी उजली भौंहों से आच्छादित उनकी आँखें एकटक मुझे देखती रहीं। ऐसा लग रहा था मानो ऊपर से ओढ़े हुए ब्राह्मणत्व को छेदकर उन नेत्रों की रश्मियाँ तह तक पहुँच रही हैं। उनका मौन मुझसे टकराकर जैसे चीखने लगा था, तुम ब्राह्मण हो न? तुम ब्राह्मण हो न?···तुम···

सतत तीव्र होती यह चीख मेरे कान फाड़े डाल रही थी। मैं अपने दोनों हाथों से कान दबा लेना चाहता था। मेरे हाथ उठे भी, पर कानों पर न ले जाकर मैं जोर से सिर दबा बैठा।

अब वे बोल पड़े, ''क्या बात है?''

मन में सुव्रती की ध्वनि सुनाई दी, 'विवेक से बड़ा कोई गुरु नहीं।' मैंने उसीसे आदेश लिया और बोल पड़ा, ''सिर चकरा रहा है।''

''यहाँ जो आता है उसका सिर ही चक्कर खाने लगता है।'' इतना कहते ही कपास जैसी केशराशि से मंडित उनकी आकृति खिलखिला उठी, मानो किसी हिमखंड पर भूकंप आया हो।

उनका उन्मुक्त हास इतना विलक्षण था कि मेरी व्यग्रता द्विगुणित हो गई। धड़कन बढ़ गई। मैं पसीने-पसीने हो गया। मुझे यही लगने लगा कि इस बूढ़े की तेजस्विता ने मेरी वास्तविकता पहचान ली। यदि दो-एक क्षणों तक और ऐसी स्थिति रहती तो मैं कदाचित् डाल से चूके हुए वानर की तरह धरती पर चू पड़ता।

किंतु बड़े शांतभाव से उन्होंने पूछा, ''सिर क्यों चकरा रहा है?''

''निरंतर चलता रहा हूँ, गुरुदेव।'' मैंने डगमगाती वाणी की पतवार अपने विवेक के हाथों में थमा दी।

''कहीं विश्राम नहीं किया?''

''नहीं।'' मैंने केवल सिर हिलाया।

''रात को सोए भी नहीं?''

''बहुत कम।'' मैं धीरे से बोला।

''आखिर इतनी व्यग्रता क्या थी? आज न आते, कल आते।'' एक स्मृति रेखा उनके अधरों के बीच उभर आई। बड़ी शीतलता थी उनकी मुसकराहट में। उन्होंने एक ब्रह्मचारी को संबोधित करते हुए कहा, ''इसे ले जाओ और गोष्ठी (गोशाला) के बगल की कुटिया में विश्राम कराओ।''

वह मुझे लेकर चला। मेरी जान में जान आई। किंतु चार-पाँच पग भी अभी जा नहीं पाया था कि उनकी मेघों जैसी गड़गड़ाती आवाज सुनाई पड़ी, ''जरा सुनो तो।''

हे भगवान्! अब क्यों रोक लिया गया? लगभग सुप्त होती हुई मेरी व्यग्रता अचानक जाग पड़ी। एक कंपन सा मेरे भीतर हुआ। फिर भी मुझे लौटना था, लौट पड़ा।

''कुछ खाया-पीया या नहीं?'' उन्होंने पूछा।

मैं चुप था।

उन्होंने ब्रह्मचारी से कहा, ''कामधेनु दुहकर इसे पिला दो और पूर्ण विश्राम करने दो।''

दिन का तृतीय प्रहर चल रहा था। दो घड़ी बाद ही सूर्य अस्त होने लगेगा। ब्रह्मचारी ने इसी संदर्भ में कुछ सोचा और पूछा, ''गोधूलि में भी यदि यह सोता रह गया तो?''

''तो इसे सोने देना।'' आचार्य ने बड़े शांतभाव से कहा।

''तब मैं संध्या कैसे करूँगा?'' यह मैं नहीं वरन् मेरे भीतर से कोई बोल पड़ा था।

''अस्वस्थ मन, चित्त और शरीर से संध्या-पूजन नहीं किया जाता, वत्स! इसके लिए पूर्ण स्वस्थ होना आवश्यक है। पहले तुम अच्छी तरह विश्राम करो, तब कुछ सोचना।''

उनकी ध्वनि से मुझे एक विचित्र शांति का अनुभव हुआ। कुटिया में लाकर मुझे कुश-शय्या पर सुला दिया गया। मैंने अपना उत्तरीय ओढ़ लिया और आँखें बंद कर लीं। मैं थका तो था नहीं जो मुझे नींद आती, केवल घबराहट थी जो धीरे-धीरे शांत हो रही थी।

मैं अनुभव कर रहा था कि वह ब्रह्मचारी अब भी कुटिया में है और मुझे देख रहा है; पर मैं सोने का नाटक करता रहा। अब मैं लंबी साँसों के सहारे नाक बुलाने लगा, जिससे उसे भान हो जाए कि मैं सो गया हूँ।

मुझे अचानक सुनाई पड़ा, "क्या देख रहे हो?" निश्चित ही यह ध्वनि कुटिया के द्वार पर से आई थी। जिज्ञासा प्रबल होते हुए भी मैंने आँखें नहीं खोलीं। मुझे आहट लगी कि भीतर का ब्रह्मचारी भी बाहर की ओर गया और बोला, "कुछ नहीं, भाई, एक नया पक्षी आया है।"

"तात्पर्य?"

"अरे, वही ब्रह्मास्त्र का भिखारी।" अद्‌भुत वितृष्णा थी उसकी ध्वनि में।

"तब उसे इतने ध्यान से क्या देख रहे हो? अरे, उड़कर कहीं से आया है तो उड़कर ही चला जाएगा।" हँसी के बीच उसने कहा।

"नहीं, यह कुछ विचित्र लग रहा है।"

"यह है तो ब्रह्मचारी, पर कुंडल पहने है।"

"क्यों? ब्रह्मचारी क्या कुंडल नहीं पहन सकता? किस शास्त्र में लिखा है कि ब्रह्मचारी को कुंडल नहीं पहनना चाहिए?"

"हर बात शास्त्रसम्मत नहीं होती, कुछ परंपरासम्मत भी होती हैं।" एक हलकी सी हँसी सुनाई पड़ी।

"यदि कोई बात परंपरासम्मत है तो परंपराएँ तो टूटती रहती हैं। फिर आश्चर्य क्या?"

"आश्चर्य यह है कि यह कुंडल स्वर्णिम है, वह भी बिना जोड़ का।"

इसके बाद एक साधारण सी चुप्पी का मैंने अनुभव किया। लगा कि बाहरी व्यक्ति भीतर आकर मेरे कुंडलों को बड़े गौर से देख रहा है। फिर उसने कहा, "क्या आचार्यजी ने इस संबंध में इससे नहीं पूछा?"

"लगता है, उन्होंने ध्यान नहीं दिया।"

इसके बाद वह कुछ धीमे स्वर में बोला, "अब मैं भी अनुभव करता हूँ कि यह अद्‌भुत है, विचित्र है! कोई देवकुमार तो नहीं जो आचार्यजी को छलने आया हो?"

"यह तो भगवान् ही जाने!" फिर वह हँसने लगा, "आनंद आ जाए, यदि यह कोई छलिया निकले।"

संक्षिप्त मौन अंतराल के बाद फिर सुनाई पड़ा, "अरे, आचार्यजी ने भी परीक्षा लेने की हद कर दी। बड़ी पात्रता-कुपात्रता का विचार करते हैं अपने

ब्रह्मज्ञान के लिए। क्या हममें से कोई उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था उनके इस ज्ञान का?''

''ज्ञान के उत्तराधिकारी हो सकते हैं, पर प्रतिशोध का कौन उत्तराधिकार लेता!'' उसने कहा, ''कहीं ऐसा न हो कि काग विष्ठा में ही चोंच मार दे।'' इसके बाद मुझसे दूर हटती हुई हँसी का मुझे अनुभव हुआ।

जरा सा पलक खोलकर मैंने देखा, कहीं कोई नहीं था। फिर करवट बदलकर आँखें मूँदे पड़ा रहा। कुछ बातें मेरे मन में साफ हो गई थीं। पहली यह कि मेरी परीक्षा होगी, वह भी कठोर होगी। संभव है, कुंडल की परिधि में ही मुझसे प्रश्न पूछे जाएँ। दूसरी बात यह है कि आचार्यजी के प्रति यहाँ के ब्रह्मचारियों में भी गंभीर असंतोष है। तीसरी बात आचार्यजी के प्रतिशोध भावना से संबंधित है। लगता है, वे परंपरागत प्रतिशोध के प्रति जितने सजग हैं उतने शिष्य के ब्राह्मणत्व के प्रति नहीं। ब्राह्मण होना तो अपनी प्रतिहिंसा ढो पाने के लिए आचार्यजी की अनिवार्य शर्त मात्र है; क्योंकि क्षत्रियों के विनाश का दायित्व ब्राह्मण के अतिरिक्त और दूसरा कोई ले नहीं सकता। इन सभी संदर्भों में मेरा मन बनने लगा। मुझमें आचार्य का सामना करने की स्वत: तैयारी आरंभ हो गई।

संध्या आई और निकल गई। रात के भी कई प्रहर बीत गए। जब मेरी नींद खुली, गोष्ठी में गायें रँभा रही थीं। मैं उठकर लघुशंका के लिए बाहर आया। त्रयोदशी के चंद्र को प्रणाम किया और फिर जाकर कुशासन पर ढुलक गया। विचारों ने मुझे फिर आ घेरा। उस अंधकार से उभरती आचार्य परशुराम की आकृति मेरे नयनों के सामने आ गई। उनकी झुर्रियों में अपरिमित अनुभव की गहराई तथा कपाल और श्मश्रु के बालों पर बिखरी ज्ञान की श्वेतता मानो मुझसे कह रही हो, 'जानते हो, आश्रम के किसी भी ब्रह्मचारी को मैंने ब्रह्मास्त्र नहीं दिया और न उन्हें अपना उत्तराधिकारी ही बनाया; क्योंकि मुझे विश्वास नहीं था कि जिसके लिए मेरे पूर्वजों ने और मैंने अपना संपूर्ण जीवन बिता दिया उस उत्तरदायित्व का निर्वाह ये ब्रह्मचारी कर सकेंगे।

'आज स्वयं वय की सीमा पर खड़ा हूँ। संपूर्ण जीवन बह गया है। रेत-सा तन रह गया है। चूक चुका हूँ। सोचता हूँ, सिर का बोझ उतारकर किन्हीं सशक्त कंधों पर रख दूँ। ऐसे कंधों को ढूँढ़ रहा हूँ, पर वे अभी तक नहीं मिले, इसीलिए व्यग्र हूँ। तुम तो जानते ही हो कि व्यग्रता विवेक की आँखें बंद कर देती है। सचमुच मेरी आँखें बंद हो जाएँ और मैं अँधेरे में ही अंधों की तरह काली बिल्ली न ढूँढ़ता रह जाऊँ।'

संयोग की बात कहिए कि इसी समय एक बिल्ली ने मेरी बाईं ओर से छलाँग मारी और मुझे पार कर निकल गई। मैं ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा, पर मेरे नेत्रों के सामने आचार्य का चित्र एक दर्पण की भाँति टूटकर बिखर गया।

दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त के अग्निहोत्र के बाद जब मैं आचार्यजी के समक्ष प्रस्तुत किया गया तब घड़ी भर दिन चढ़ आया था। आचार्यजी अपनी कुटी के बाहर बैठे पार्थिव पूजन कर रहे थे। वे मिट्टी का शिवलिंग बनाकर मंत्र पढ़ते जाते और बेलपत्र चढ़ाते जाते थे। उस समय उन्होंने एक निरपेक्ष दृष्टि मुझपर भी डाली; पर कुछ बोले नहीं, पूजन में संलग्न रहे। मैं उनके दृष्टिपथ से जरा सा बाएँ हट गया। मेरे साथ आया ब्रह्मचारी मुझे छोड़कर चला गया।

"खड़े क्यों हो? भीतर से आसन ले आओ और बैठ जाओ।" मेरी ओर बिना देखे उन्होंने बड़े गंभीर स्वर में आदेश दिया।

मैंने भीतर आकर देखा, वह किसी शास्त्रज्ञ की नहीं वरन् निरंतर युद्धरत किसी योद्धा की कुटी लग रही थी। कुटी के दक्षिण पार्श्व में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र टँगे थे। भूमि पर भी कुछ आग्नेय अस्त्र रखे थे। वाम प्राचीर पर कई प्रकार के परशु लटक रहे थे। इतने प्रकार के परशु मैंने अपने जीवन में नहीं देखे थे। भाँति-भाँति के कुठार—साधारण से लेकर विशालकाय तक, जिसे कदाचित् एक सामान्य व्यक्ति उठा न पाए। ऐसे भी परशु थे, जिन्हें प्रक्षेपित भी किया जा सकता था। कुछ क्षणों तक मैं उन्हींमें उलझा रहा। कुछ को उलट-पलटकर भी देखने लगा।

तभी एक कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ी, "क्या कर रहे हो वहाँ?"

मैं आसन लेकर तुरंत बाहर निकला और वहाँ आकर बिछाकर बैठ गया। आचार्यजी की एकटक देखती आँखें मुझसे वही प्रश्न पूछ बैठीं।

मैं दबे स्वर में बोला, "परशु देखने लगा था।"

"पूजन के समय परशु नहीं, प्रतिमा देखनी चाहिए।" वे मुसकराए। उनका संकेत शिवलिंग की ओर हुआ। "जानते हो, यह क्यों पूज्य है?" उन्होंने पूछा।

मैंने अनुभव किया कि मेरी परीक्षा की घड़ी आरंभ हो गई है। मैंने स्वयं को विवेक के हाथों सौंप दिया और बड़े सामान्य भाव से बोला, "यह तो पूज्य नहीं है।"

"यह क्या कहते हो!" वे आश्चर्य से मेरी ओर देखते रह गए।

"ठीक कहता हूँ, आचार्यजी। मिट्टी से बने एक पिंड के अतिरिक्त यह कुछ नहीं है।" शायद ही कोई परीक्षार्थी इतने विश्वास के साथ उनके समक्ष बोला

हो। वे चकित से देख रहे थे। मैं कहता गया, ''मिट्टी कहीं पूज्य होती है! पूज्य होता है हमारे हृदय का वह भाव, जो उसे देवता बना देता है। अंतर का पुनीत देवत्व भाव आपने इस मृण्पिंड को सादर समर्पित कर दिया—और उसी देवत्व को ओढ़कर यह देवता बन बैठा है।''

वह बड़ी गंभीरता से मुझे ऊपर से नीचे तक देखते रहे। ऐसा लगा जैसे उनकी आँखें मेरे भीतर घुसती चली जा रही हों।

''क्या तुम इसे सिद्ध कर सकते हो?'' उन्होंने पूछा।

''क्या आप अपना देवत्व इससे लौटा सकते हैं?'' मैंने उन्हींके स्वर में स्वर मिलाते हुए प्रश्न का उत्तर प्रश्न से दिया।

''तुम तो शिष्य की भाँति नहीं वरन् एक प्रतिस्पर्धी की भाँति बोल रहे हो।'' हलकी झुँझलाहट से प्रभावित हो उनकी ध्वनि असामान्य हुई।

''अभी आपने मुझे शिष्य ही कहाँ स्वीकार किया है! केवल आपको गुरु स्वीकार करने की मेरी प्रबल आकांक्षा ने मुझमें यह विनीतभाव भर दिया है, जो एक प्रतिस्पर्धी में नहीं होता।'' एक सामान्य मुसकराहट मैंने अपने अधरों पर पसार ली।

वे कुछ समय तक मुझे देखते और सोचते रहे। हम लोगों की बातें इतनी उन्मुक्त और सहजभाव से हो रही थीं कि वहाँ दो-तीन ब्रह्मचारी और आ गए। उनकी दृष्टि में मेरे प्रति अपरिचित आश्चर्य था।

''यदि मैं अपना देवत्व इस प्रतिमा से हटा लूँ तो क्या तुम सिद्ध कर सकोगे कि यह मृण्पिंड मात्र है?''

''तब तो कुछ भी सिद्ध करने को शेष नहीं रह जाएगा।''

''अच्छा, तो मैंने अपना देवत्व इस प्रतिमा से हटा लिया।'' इतना कहते हुए उन्होंने उसपर से एक-एक कर सारे बेलपत्र उठा लिये, ''अच्छा, अब सिद्ध करो कि यह पूज्य नहीं है।''

''इसमें अब सिद्ध क्या करना है?'' मैंने प्रतिमा उठाई और तेजी से उसे निरभ्र आकाश में उछाल दिया। वह क्षण मात्र में धरती पर गिरकर बिखर गई।

''तुमने यह क्या किया, दुष्ट?'' आचार्य क्रोध में काँपने लगे।

पर मैं जरा भी विचलित नहीं हुआ। बड़े शांतभाव से मैं बोला, ''मिट्टी था, मिट्टी में मिल गया।''

आचार्य कुछ कह तो नहीं सके, किंतु चोट खाए साँप की भाँति फुफकारते रहे। उनकी क्रोधाग्नि बड़े वेग से धुआँ उगल रही थी। कुछ ही क्षणों बाद वे तड़पे,

''चला जा मेरी आँखों के सामने से!''

मैं सामान्य भाव से ब्रह्मचारियों की ओर मुड़ गया। वे मुझे लेकर मेरी कुटिया की ओर चले।

जानते हो, ''ये दुर्वासा से कम क्रोधी नहीं हैं।'' उनमें से एक ने कहा।

''तो मैं उनके क्रोध के लिए क्या करूँ?''

''तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था।'' यह दूसरी आवाज थी।

''क्यों नहीं करना चाहिए? मैं किसीका क्रीत दास नहीं हूँ। अपने विवेक को मैं दबा नहीं सकता।'' इस स्थिति में भी मेरा स्वाभिमान ऊर्जस्वित् था।

''यदि विवेक को दबाना नहीं था तो यहाँ आए ही क्यों?''

''योग्य गुरु की खोज थी, इसलिए चला आया। यदि मुझे यह ज्ञात होता कि आचार्यजी को अपने विचारों के अंध समर्थक की खोज है तो शायद मैं न आता।''

''किंतु, एक शिष्य को दुर्विनीत नहीं होना चाहिए।'' यह उपदेशात्मक वाक्य एक प्रौढ़ ब्रह्मचारी का था।

''पर मैं अभी शिष्य हूँ कहाँ! मैं तो शिष्यत्व ग्रहण करने योग्य हूँ या नहीं, अभी इसीकी परीक्षा होनी है।'' मैं झुँझलाहट के बीच बोलता गया, ''मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अनुशासन और शिष्टाचार के नाम पर सत्य का गला नहीं घोटा जा सकता।'' संभवत: एक पल रुककर मैं पुन: बोला, ''यदि ऐसी स्थिति का चुपचाप स्वीकार कर लेना ही विनीत होना है तो आप मुझे दुर्विनीत भी कह सकते हैं।''

इसके बाद सभी चुप हो गए। लोग मुझे कुटिया में छोड़कर चले गए। जाते समय मैंने बस इतना ही सुना कि 'इस बार अच्छे शिष्य से आचार्यजी का पाला पड़ा है।'

मैं चुपचाप कुश-शय्या पर ढुलक गया। मुझे ऐसा लगा जैसे सुव्रतीजी मेरी पीठ ठोंक रहे हों, 'वत्स, उत्तर देने में तुम्हारी निर्भीकता अद्‌भुत थी। कदाचित् ऐसा सटीक उत्तर, वह भी इतने साहस के साथ, मैं स्वयं नहीं दे पाता। मेरा आशीर्वाद छाया की भाँति सदा तुम्हारे साथ है। तुम अवश्य अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होगे।'

आज सोचता हूँ कि मेरा अवचेतन ही उस समय सुव्रती बनकर आ गया था। जो भी हो, मैं द्विगुणित उत्साह से उठ खड़ा हुआ, मानो विजयी योद्धा हूँ। मेरी भुजाएँ फड़क रही थीं। बिना दहाड़े गुफा से निकले केहरि की भाँति कुटिया से निकलकर टहलने लगा।

आचार्य का रोष था, उससे थरथराता आश्रम का वातावरण था, सहमे-सहमे ब्रह्मचारी थे, प्रशस्त परिसर में चरती गायें थीं, छलाँग भरते मृग थे, वृक्षों पर पक्षियों का कलरव था; पर मेरी अहम्मन्यता के सामने कहीं कुछ नहीं था। मैं विचरण कर रहा था और धीरे-धीरे आश्रम के प्रमुख द्वार तक पहुँच गया। सब मुझे देख रहे थे, पर कोई ब्रह्मचारी मेरे पास नहीं आया। आई भी तो बस एक गाय— सिर झुकाए हुए, मेरे स्पर्श के लिए आतुर।

मैं उसे सहलाने लगा। वह सिर ऊँचा करती गई और मैं उसे सहलाता गया। पल पर पल बीतते गए। अब मैं धूप से छाँह की ओर बढ़ा। निकट ही एक वट की जगत पर पैर लटकाकर बैठ गया। गाय और पास चली आई। मैं उसे सहलाता रहा और काल्पनिक विजयोल्लास में डूबता गया।

समय किस गति से बढ़ गया, कुछ याद नहीं। किंतु उस समय एक विचित्र अनुभूति हुई जब किसीने पीछे से मेरे सिर का एक ममता भरा स्पर्श किया।

''भोजन करने नहीं चलोगे?''

मैंने पीछे मुड़कर देखा, आचार्यजी खड़े मुसकरा रहे थे।

इस बदली हुई परिस्थिति के लिए मेरा मानस तैयार नहीं था। मैं हड़बड़ाकर खड़ा हुआ।

''इस आश्रम में सभी साथ ही भोजन करते हैं।'' उन्होंने कहा।

''अन्य आश्रमों में भी ऐसा ही होता है।'' मैंने कहा तो यही, पर कहना चाहता था कि इसमें यहाँ की कौन सी विशेषता है।

मेरी बात सुनते ही वे मुसकरा पड़े और मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए स्नेह से बोले, ''बड़े मुखर लगते हो।''

ममत्व का स्पर्श पा मेरा 'मैं' द्रवित हो गया और मैंने स्वयं को वहाँ के वातावरण से जुड़ा हुआ पाया। आचार्य ने अपने बगल में ही मुझे भोजन के लिए बैठाया। और फिर मंडप वेद ध्वनि से गूँज उठा—

''ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनामधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥''

जब भोजन समाप्त हुआ, आचार्यजी मुझे लेकर उसी वटवृक्ष के नीचे आए। उनके साथ उनका एक सेवक भी था। उससे उन्होंने कहा, ''कुशासन लाकर वट के तने के पास बिछा दो। मैं कुछ समय तक बैठूँगा।''

वह शीघ्र लौटा; किंतु वह एक ही आसन लाया था।

''वाह, तुम भी कितने विचित्र हो! बैठनेवाले दो और आसन लाए एक ही।

आखिर तुम अपनी बुद्धि से ऐसी शत्रुता क्यों निबाहते हो?'' वह जोर से हँस पड़े।

मेरे मन में आया कि कहूँ कि जिस आश्रम का आचार्य परंपरागत शत्रुता के निर्वाह में अपना जीवन गलाता रहा, यदि वहाँ के ब्रह्मचारी अपनी बुद्धि से शत्रुता का निर्वाह करें तो आश्चर्य क्या? पर मैं चुप था।

ब्रह्मचारी पुनः एक और आसन लेने दौड़ा। मैंने उसे रोकते हुए कहा, ''आप ठहरें, मैं ले आता हूँ।''

जब आसन लेकर आया तब मैंने देखा कि आचार्यजी उस ब्रह्मचारी से कुछ गंभीर बातें कर रहे हैं; किंतु मेरे पहुँचते ही बातें बंद हो गईं।

हम दोनों वहीं आसन बिछाकर बैठ गए। एक बार फिर उन्हें ध्यान से देखा, बढ़ती हुई अवस्था ने उनके तन को निचोड़ लिया है, केवल ध्वनि और नेत्रों में ही तेजी रह गई है। मैंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया, ''धूप की ओर पैर फैलाकर आप लेट जाइए।''

और सचमुच वे लेट गए। मैं धीरे-धीरे उनका पैर दबाने लगा।

''अभी तक तो मैं तुम्हारा नाम भी जान नहीं पाया।'' बड़े सहजभाव से उन्होंने कहा।

''मेरा नाम! ...वसुषेण।''

''नाम तो तुम्हारा बड़ा सांस्कृतिक है!'' इतना कहकर वे क्षण भर के लिए रुके, ''क्या तुम सचमुच ब्राह्मण हो?''

मुझे लगा कि मेरी परीक्षा का दूसरा चरण आरंभ हो गया है।

''क्यों? आपको इसमें संदेह है क्या?''

''संदेह तुममें नहीं है, न तुम्हारे नाम में है। सारा संदेह तुम्हारे कुंडलों में सिमटकर रह गया है।'' वे इतना कहकर मुसकराए और मेरे कुंडलों का स्पर्श करते हुए बोले, ''बड़े सुंदर हैं ये कुंडल। इनमें तो जोड़ भी नहीं है। आखिर ये तुम्हारे कानों में गए कैसे होंगे?''

''यह तो मैं नहीं जानता।''

''तब कौन जानता है?''

''शायद कोई नहीं।''

''क्यों? तुम्हारा इस संसार में कोई नहीं है?'' आश्चर्य में उनका मुख खुला-का-खुला रह गया।

मैं कुछ बोला नहीं, केवल नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

''क्यों? तुम्हारे माता-पिता भी नहीं हैं?''

"नहीं।"

"आखिर कोई पिता तो रहा ही होगा?"

"संसार में कोई बिना पिता का हुआ है!" पैर दबाते-दबाते मैं हँस पड़ा। वास्तव में मैं हँसा नहीं था वरन् अपने मानसिक तनाव पर एक चादर डाल बैठा था।

आचार्यजी के लिए मैं गंभीर रहस्य बनता जा रहा था। उन्होंने अब मुझे खोलने की चेष्टा की, "तुम्हारा गोत्र क्या है?"

मुझे सुव्रती की बताई बात याद हो आई। मैंने उन्हींका पढ़ाया पाठ ज्यों-का-त्यों उगलना आरंभ किया, "कौशल्य।"

"कौशल्य!" वह कुछ सोचने से लगे, "तब तुम्हारा वेद क्या है?"

"यजुर्वेद।" एक क्षण बाद मैंने पुनः कहा, "शुक्ल यजुर्वेद।"

"और शाखा?"

"माध्यंजिनी।"

वह कुछ समय तक गंभीरतापूर्वक सोचते रहे। उनके हिलते अधर कुछ जोड़ते-घटाते रहे। वे पुनः बोले, "पर मैं तो तुम्हें ऋग्वेदी समझता था, क्योंकि तुम्हारे मुख से कल जो सूर्य की उपासना में मंत्र निकला था वह ऋग्वेद का था।"

"कौन सा मंत्र?" मैंने पूछा।

उन्होंने आवृत्ति कर दी, "ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परसुव, यद्भद्रं तन्न आसुव।"

इस संदर्भ में मैंने कुछ न बोलना ही उचित समझा। किंतु मुझे आचार्य की दृष्टि में एक आशा की चमक सी दिखाई दी। आभास हो गया कि मैं इस परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गया हूँ।

"कुछ विचित्र सा लगता है। तुम अपना गोत्र, अपना वेद, अपनी शाखा आदि सब जानते हो; पर अपने पिता का नाम नहीं जानते!" स्पष्टतया यह मेरी परीक्षा का तृतीय चरण था। उन्होंने फिर पूछा, "तुम्हें यह सब बताया किसने?"

"माँ ने।" मैंने धीरे से कहा।

"तुमने माँ से पिता का नाम नहीं पूछा?"

"पूछा तो अनेक बार था, पर हर बार उसने यही कहा कि जो अब नहीं रहा उसे जानकर क्या करोगे!" बनावटी करुणा में मेरा स्वर भीग गया। आचार्यजी भी थोड़े द्रवित हुए। मैंने अनुभव किया कि जो कार्य मैं नहीं कर सका, वह मेरा अभिनय कर रहा है।

"तो कहाँ है अब तुम्हारी माँ?"

"है नहीं, थी।"

"क्या अब वह नहीं है?"

"जीवन के प्रवाह में मुझे छोड़कर चली गई।" मुझे लगा कि मुझसे कुछ सत्य निकलने जा रहा है। मैंने झट से अभिनय का सहारा लिया और आकृति पर दुःख की हलकी कालिमा उड़ेलकर सिर नीचा कर लिया।

"कहाँ चली गई तुम्हारी माँ?"

"व...ह...हस्तिनापुर के राजभवन में खो गई।" इतना कहकर मैंने अपनी आँखें पोंछीं और आचार्यजी के पैर दबाना छोड़कर सिसकियाँ भरने लगा।

मैं आचार्यजी की दुर्बलता समझ गया था। मेरा विवेक उसका लाभ उठाने की नीयत से ही यह नाटक रच बैठा। उसे सफलता भी मिली, "उन दुष्टों ने उसकी भी हत्या कर दी।" अब मैं और जोर से सिसकने लगा।

आचार्य की दृढ़ता पूरे आवेश में किटकिटाई, "इस ब्रह्महत्या का पाप हस्तिनापुर को भस्म कर देगा, वत्स!"

मैं सिसकता गया। बूढ़ा पूरे आक्रोश में बोलता रहा, "जब तक क्षत्रियों का विनाश नहीं होगा, धरती पाप से मुक्त नहीं होगी। तुम एक भुक्तभोगी हो। तुम्हारी मातृ-गरिमा क्षत्रियों से पदाक्रांत हुई है। जातीय विक्षोभ में निरंतर सुलगते रहना तुम्हारे लिए स्वाभाविक है। तुम मातृहंता के विपक्ष में ही सर्वदा रहोगे, मुझे पूरा विश्वास है। यही स्थिति तुम्हें हमारे ज्ञान की पात्रता प्रदान कर रही है। मैं तुम्हें अवश्य अपना ब्रह्मास्त्र दूँगा।"

वह बड़े वेग से उठे और मेरा हाथ पकड़कर चल पड़े। उनकी गति में एक विचित्र उल्लास था। लगता था कि जिस वस्तु के लिए वे अनेक वर्षों से व्याकुल थे वह आज अचानक मिल गई है। अन्य ब्रह्मचारी यह देखकर चकित थे कि अभी दो घड़ी पूर्व ही जिसने आचार्य की इतनी अवमानना की थी, आचार्य उसे ही अपना सबकुछ सौंपने के लिए चले जा रहे हैं। यह ब्राह्मणकुमार है या कोई ऐंद्रजालिक, जिसने अपने मोहजाल में उन्हें अच्छी तरह फँसा लिया है।

□

मैं आचार्य परशुराम का शिष्य हो गया। विधिवत् मुझे दीक्षा दी गई। आश्रम के अन्य ब्रह्मचारियों ने मेरे भाग्य से ईर्ष्या करते हुए मेरी सराहना की। मुझे आचार्यजी ने अपने बगल की कुटिया रहने के लिए दी। अब मैं अन्य ब्रह्मचारियों से अलग कर दिया गया।

मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि शास्त्र-ज्ञान देने के पूर्व उन्होंने कई दिनों तक

उसकी गोपनीयता के संबंध में मुझे समझाया था और बड़ी गंभीरता से कहा था कि शास्त्र-ज्ञान की गोपनीयता युद्ध की गोपनीयता से किसी भी स्थिति में कम महत्त्व की नहीं होती। उसी समय मैंने अनुभव कर लिया था कि मैं शास्त्री नहीं, वरन् योद्धा बनाए जाने की प्रक्रिया में हूँ।

पहले मुझे उन अस्त्र-शस्त्रों का प्रशिक्षण देना निश्चित किया गया जिसके संचालन में मंत्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके बाद मंत्रों की शिक्षा का क्रम निर्धारित किया गया। प्रातःकाल यज्ञ और पूजन के बाद नित्य ही आचार्यजी मुझे अपने अमूल्य प्रशिक्षण से गौरवान्वित करते। बहुधा मैं आश्रम से दूर जंगल में ले जाया जाता और शस्त्रों का रहस्य मुझे समझाया जाता।

जहाँ तक याद आता है, 'अंतर्धान' अस्त्र का प्रशिक्षण मुझे सबसे पहले दिया गया था। इस अस्त्र के प्रयोग में प्रयोक्ता को अदृश्य होना पड़ता है। किन-किन परिस्थितियों में और कैसे-कैसे स्वयं को छिपाया जा सकता है, आचार्यजी ने इसे अच्छी तरह समझा दिया और स्वयं अंतर्धान होकर दिखाया भी। मैं लगभग दो घड़ी तक उन्हें खोजता रह गया, पर खोज न पाया। अंत में मैंने अपनी असफलता का उद्घोष किया। वे झाड़ी के बीच से उठकर खड़े हो गए। मैं तो उन्हें देखकर स्तब्ध रह गया। उन्होंने अपने संपूर्ण शरीर पर झाड़ और पत्तियाँ लपेट ली थीं। स्वयं झाड़ी बन गए थे।

मैंने उस समय हँसते हुए कहा था, "मैं झाड़ियों में आचार्यजी को तो खोज सकता था, पर झाड़ियों के बीच झाड़ी खोजना मेरे लिए संभव नहीं था।"

आचार्यजी हँस पड़े और बोले, "स्वयं को छिपाने के लिए व्यक्ति को अपने परिवेश के अनुसार बदलना पड़ता है।"

मैंने उनका कथन तो सुना ही, किंतु उसे पूरा करते हुए मेरे भीतर से एक आवाज उठी, 'जैसे तुमने अपने को बदल लिया है।' मेरी मनःस्थिति ने दूसरा मोड़ लिया। मैं उसीमें उलझ गया।

मुझे अचानक सुनाई पड़ा, "क्या सोचने लगे?"

"कुछ...नहीं, कुछ...नहीं।" मैं लगभग हड़बड़ा सा गया, "सोच रहा था, यह कार्य आसान नहीं है।"

वे पुनः हँस पड़े, "संसार में कोई भी कार्य आसान नहीं है। पर हमारा पुरुषार्थ हर कार्य को आसान बना सकता है।"

उस दिन प्रशिक्षण का क्रम यहीं समाप्त हो गया था। अंतर्धान होने के बाद शत्रु पर किस प्रकार आक्रमण किया जाता है, इसपर विचार अगले दिन के लिए

छोड़ दिया गया।

दूसरे दिन हम लोग आश्रम से लगभग अर्ध योजन दूर पहुँचे। यह स्थान सघन वनों के बीच था। निकट ही एक निर्झर बह रहा था। हमारे साथ दो ब्रह्मचारी और थे, जो कई तरह के कुंत और फेंककर मारे जानेवाले कुठार लिये थे।

आचार्यजी ने सर्वप्रथम एक कुंत फेंककर बताया। अत्यंत जीर्णकाय दीखने पर भी उनका कुंत इतना दूर जाएगा, मुझे विश्वास नहीं था। इसीसे जब उन्होंने फेंकने के लिए मुझसे कहा तो साहस न हुआ। मैं हिचकिचाया। जब दूसरी बार उन्होंने पुन: प्रक्षेप का आदेश दिया तब असमर्थता स्वयं मेरे मुख से निकल पड़ी, ''शायद मैं इतनी दूर न फेंक पाऊँगा।''

''तब ब्रह्मास्त्र का संचालन कैसे करोगे?'' उनकी उन्मुक्त खिलखिलाहट निर्झर की ध्वनि में समा गई। वह बोलते रहे, ''अरे, मैं तो वृद्ध हो चुका हूँ। तुम्हारी स्फीत शिराओं में यौवन के रक्त का संचार है। अभी से निराश होगे तो काम कैसे चलेगा?''

तब मैंने अपनी सारी शक्ति और सारा सामर्थ्य बटोरकर कुंत प्रक्षेप किया; किंतु वह आचार्यजी के कुंत से आगे न जा सका। फिर भी उन्होंने मेरी सराहना की और कहा, ''एक बात तुम्हें सीखनी चाहिए।''

''क्या?''

''शस्त्र-संचालन में शक्ति की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती जितनी अभ्यास की। तुम जितना अभ्यास करोगे उतनी क्षिप्रता आएगी। एक समय ऐसा आएगा कि तुम यंत्रवत् प्रक्षेप करने लगोगे और हर कुंत लक्ष्यभेद में समर्थ होगा।'' इसके बाद आचार्यजी ने बड़ी क्षिप्रता से कुछ प्रक्षेप कर दिखाया और कहा, ''अंतर्धान अस्त्र-प्रक्षेपण में शत्रु को इसका जरा भी आभास नहीं होना चाहिए कि आक्रमण किधर से हुआ है। छिपना और बड़ी शीघ्रता से प्रक्षेप करना, इतना ही इस अस्त्र-संचालन का गुर है।''

फिर उन्होंने मुझे आदेश देते हुए कहा, ''झाड़ी में छिपे रहकर जितनी तेजी से हो सके, प्रक्षेपण करो।''

मैंने आदेश का पालन करते हुए दो कुंत तो लगातार फेंके, पर तीसरा फेंकते समय मेरा एक कुंडल झाड़ में फँस गया। मैं उसे छुड़ाने लगा, देर हुई।

''अरे, क्या हुआ?'' आचार्यजी चिल्लाए और मेरी ओर दौड़े। तब तक अन्य ब्रह्मचारी भी आ गए थे।

मैंने उन्हें वास्तविकता से परिचित कराया। आचार्यजी हँसने लगे, ''मैंने

समझा था कि कोई सर्पदंश तो नहीं कर बैठा।'' उनकी घबराहट से सचमुच ऐसा ही आभास हुआ था।

बड़ी सहज मुद्रा में वे बोले, ''इसीलिए कहा जाता है न कि ब्रह्मचारी का अलंकार स्वर्णिम आभूषण नहीं होता। उसका अलंकार तो होता है आवृत्ति, अभ्यास, अनुशासन और विनय।''

''तो मैं इसे अभी उतारकर फेंक देता हूँ।'' मैंने अपना हाथ बड़े झटके से कुंडल की ओर बढ़ाया। मेरा अभिनय एक बार फिर मुझपर हावी हुआ।

''नहीं-नहीं, ऐसा मत करना। यह तुम्हारी माँ की स्मृति का प्रतीक है। यह सदैव तुम्हें क्षत्रियों के विनाश के लिए प्रेरित करता रहेगा।''

एक विनम्र आज्ञाकारी की भाँति मैं हाथ हटाकर चुपचाप खड़ा हो गया। मैंने आचार्यजी की ओर से मुँह फेर लिया था, क्योंकि मेरे अंतर की प्रसन्नता अधरों तक मुसकराहट बनकर छलक आई थी। वह इसलिए नहीं कि मेरा अभिनय सफल हुआ था, वरन् इसलिए कि आचार्यजी उस जुआरी की तरह जान पड़े, जो हर संदर्भ में अपना ही दाँव देखता है।

मेरा अभ्यास बढ़ता गया। परशु, कुंत आदि के बाद मुझे कई प्रकार की बाणविद्या सिखाई गई। बाणों में भी बिना मंत्र के चलाए जानेवाले बाणों का अभ्यास पहले कराया गया। इस श्रेणी में सबसे कठिन अभ्यास शब्दवेधी बाण का था। इस कला में केवल ध्वनि के आधार पर बिना देखे लक्ष्यभेद करना पड़ता है। महीनों के सतत अभ्यास से धीरे-धीरे मैं इस विद्या में पारंगत हो गया था। अब यह मेरी रुचि बन चली थी। बहुधा रात्रि में भी धनुष-बाण लेकर निकल पड़ता था और कान लगाए रहता था। जहाँ कहीं भी किसी पशु या पक्षी की ध्वनि सुनाई दी कि बाण चला देता था। केवल इसका ध्यान रखता था कि हत्या आश्रम के परिसर में न हो और गायों को भूलकर भी बाण न लगे।

एक रात्रि बिना सोए ही कट गई।

वसंत लगभग बीत चुका था। बौराए रसाल गदरा आए थे। मालती की वास से बोझिल मंद गंधवाह का स्पर्श अद्‌भुत लग रहा था। सोई हुई धरती की हर साँस सुरक्षित थी। अपने लक्ष्यभेदन में रात्रि के प्रथम प्रहर से ही लग गया था। जहाँ किसी झुरमुट से कोई अभागा पक्षी बोला कि मेरा तीर उसके सीने से पार हुआ। रुचि से जुड़ी मेरी इस कला ने मुझे समय का भान होने नहीं दिया। यद्यपि समय की सूचना देनेवाले आकाश के नक्षत्र सदा मेरी आँखों के सामने थे; पर मैं यह भी नहीं जान पाया कि ब्राह्म मुहूर्त हो गया था।

आश्रम क्षेत्र से बाहर, आचार्य की पर्णकुटी के दक्षिण ओर रसाल पर बैठा एक कोकिल पंचम सुर में गा उठा कि मेरा सनसनाता बाण उसे जा लगा। मैंने देखा, धरती पर वह पके आम-सा चू पड़ा।

मेरे पीछे से किसीने मेरे कंधे पर हाथ रखा। मुझे एक चिरपरिचित गंभीर ध्वनि सुनाई पड़ी, "तुमने यह क्या किया?"

"शब्दवेधी का अभ्यास कर रहा हूँ, आचार्यजी।" मैंने उनका चरणस्पर्श करते हुए कहा। मेरी वाणी में सफलता का उत्साह था।

"किंतु ब्राह्म मुहूर्त में शस्त्र-अभ्यास वर्जित है। यह तो अग्निहोत्र एवं पूजन का काल है। कहीं सोकर उठने के बाद ही कोई जीवहत्या आरंभ कर देता है?" आचार्य की प्रश्नवाचक मुद्रा भी उत्फुल्ल थी।

"मैं तो अभी तक सोया ही नहीं।"

"आज सोए ही नहीं! तब तुम क्या करते रहे?"

"अभ्यास करता रहा। मुझे समय का ज्ञान ही नहीं हुआ।"

इतना सुनना था कि मारे प्रसन्नता के उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया। "तुम्हारी यही तन्मयता तुम्हें एक-न-एक दिन आर्यावर्त का महान् धनुर्धर बना देगी।"

आचार्य के इस आशीर्वचन पर मैं भी फूला नहीं समाया।

इसके बाद वह मुझे लेकर यज्ञकुंड की ओर चले। मार्ग में बोले, "क्यों नहीं तुम्हारे इस शब्दवेधी अभ्यास की परीक्षा ही आज ले ली जाए!"

मैंने स्वीकृति दे दी; किंतु उन्होंने यह नहीं बताया कि कब और कहाँ मेरी परीक्षा ली जाएगी।

मध्याह्न के कुछ पूर्व मुझे बुलाया गया और बताया गया कि भोजनोपरांत उसी झरने पर मुझे अपने धनुष-बाण के साथ चलना है। सूर्यास्त के लगभग एक घड़ी पहले वहाँ एक सिंह जल पीने आता है। जलपान की ध्वनि सुनकर उसे बाण मारना होगा।

मैं आचार्य की बात बड़े ध्यान से सुनता रहा। वे मुसकराते हुए बोले, "क्या सोच में पड़ गए? भय लग रहा है क्या?"

मैंने बड़े उत्साह से वह मंत्र दुहराया, "अभयं मित्रात्…"

उनकी आकृति पर संतोष की चमक उभरी और उन्होंने कहा, "अब तुम जाओ और अपनी तैयारी आरंभ करो।"

रात्रि जागरण के कारण मैं कुछ थका-थका सा था। कुटिया में पहुँचते ही मैं

शय्या पर ढुलक पड़ा और एक नींद ले ली। मेरी आँखें तब खुलीं जब एक ब्रह्मचारी मुझे भोजन पर चलने के लिए जगा रहा था।

उसने व्यंग्य करते हुए कहा, "उठो भाग्यवान्!"

"भाग्यवान्! आखिर आज मैं ही आपको मिला हूँ क्या?" मैंने हँसते हुए उसकी पीठ पर एक हाथ मारा और साथ चल पड़ा।

"मैं व्यंग्य नहीं करता हूँ। सचमुच तुम भाग्यवान् हो। इस आश्रम के ऐसे शिष्य हो जिसके लिए उठने-बैठने, सोने-जागने, यज्ञ-पूजन आदि का सारा नियम गंगा में प्रवाहित कर दिया गया है।"

सत्य इतने तीखेपन में था कि मैंने चुप रहना ही उचित समझा।

किंतु वह अपने ढंग से कहता गया, "धूल जब सिर चढ़ जाती है तब उसे विश्वास नहीं रहता कि शीघ्र ही मैं झाड़कर मिट्टी में मिला दी जाऊँगी। इसलिए कि वह मूर्ख है। यदि सिर पर चढ़ना ही हो तो स्वयं को तपाकर धूल को भस्म बनना चाहिए। हर कोई उसे अपने मस्तक पर सादर लगा लेगा। और यदि वह सिर से उतरना भी चाहेगी तो उतरने नहीं देगा।"

इसके बाद वह कुछ नहीं बोला।

भोजनोपरांत मुझे हलकी सी झपकी आ गई; पर मैं पूर्णरूप से सोया नहीं था, क्योंकि मुझे अपनी परीक्षा की चिंता थी। थोड़ी देर बाद ही मैं उठा और धनुष-बाण लेकर आचार्य की पर्णकुटी की ओर गया। पता चला कि आचार्यजी अपने दो शिष्यों के साथ कुछ देर पहले ही आश्रम से निकल चुके हैं। अतएव अब मुझे गंतव्य की ओर अकेले ही बढ़ना था।

निर्झर से अभी मैं दूर ही था कि आचार्य मुझे मिल गए। मैंने समझा कि विलंब के लिए मुझे टोकेंगे, पर वे कुछ नहीं बोले। मेरे साथ झरने तक गए और जहाँ से पानी गिर रहा था, उसके नीचे पहाड़ी में बनी एक गुफा की ओर संकेत कर उन्होंने कहा, "उसीमें से निकलता है और झरने में पानी पीने आता है। यहाँ के लोगों का कहना है कि सूर्यास्त से लगभग दो घड़ी पूर्व से उसके आने की संभावना हो जाती है।"

"तब तो समय हो चला है।" मैंने कहा।

"पर वह अभी तक आया नहीं है। तुम्हें शीघ्रता करनी चाहिए। ऐसा करो कि तुम इस शाल के वृक्ष के नीचे की झाड़ी में छिप जाओ। यहाँ से झरने के बीच में कोई विशेष अवरोध नहीं। तुम्हारा बाण सीधे जाकर लगेगा। किंतु एक बात का तुम्हें ध्यान रखना पड़ेगा।"

"किस बात का?"

"तुम लक्ष्य को भूलकर भी मत देखना, अन्यथा तुम्हारी विद्या नष्ट हो जाएगी।"

आचार्य-वचन की दृढ़ता से मैं थोड़ा घबराया। उन्होंने आश्वस्त करते हुए कहा, "मैं तुम्हें शाप नहीं दे रहा हूँ, वरन् इस विद्या की गंभीरता समझा रहा हूँ। इसमें लक्ष्य देखा नहीं जाता वरन् सुना जाता है।" क्रियापद कहते-कहते उनका स्वर आवश्यकता से अधिक गंभीर हो गया था। अपनी मुद्राओं से उन्होंने एक दायित्व सौंपा था, उसका आभास मुझे तो उस समय नहीं हुआ, पर उसके रहस्य को मैंने बाद में समझा।

इतना कहकर वे वहाँ से चले गए। मैं आदेशानुसार शर-संधान कर झाड़ी में छिप गया और लक्ष्य पर कान लगाए बैठा रहा।

थोड़ी देर बाद ही मुझे झरने की ध्वनि से उभरता एक कल-कल निनाद सुनाई पड़ा। अवश्य लक्ष्य आ गया। मैंने खींचकर बाण मारा। क्षण भर में वह ध्वनि एकदम गुम हो गई।

मैं झाड़ी में पड़े-पड़े ही उत्साह से चिल्लाया, "आचार्यजी, मैंने मार गिराया!"

"हाँ, अवश्य मार गिराया, पर सिंह को नहीं वरन् एक दूसरे श्रवणकुमार को।" काफी पीछे से आचार्यजी की आवाज सुनाई पड़ी थी। वे हँसते हुए चले आ रहे थे। मैं चकित हो उनकी ओर बढ़ा। मुझे आश्चर्य था कि यह दूसरा श्रवणकुमार है कौन?

"तुम अपने लक्ष्यभेद का परिणाम देखना चाहते हो न, आओ, तुम्हें दिखाता हूँ।" वह मुझे साथ लेकर झरने के निकट गए और दो-तीन शिलाखंड उतरकर उस गुफा की ओर निकट से संकेत किया।

मैंने जो कुछ देखा, बिलकुल अवाक् रह गया।

फूटा हुआ मिट्टी का एक बड़ा घड़ा मूँज की रज्जु से लटकता जल की सतह पर था। रस्सी का दूसरा छोर पकड़े एक पर्वत-कन्या खड़ी मुसकरा रही थी। मैं उस अनिंद्य सुंदरी को देखता रह गया। पर्वत-प्रदेश की इन आदिम जातियों में भी इतना सौंदर्य हो सकता है, इसकी कल्पना भी मुझे नहीं थी। मैं एक ओर फूटे घड़े को और दूसरी ओर उस सुंदरी को देखता रहा। उसकी आकृति पर से जब भी दृष्टि फिसलती तो उसके उन्नत उरोजों पर आकर अटक जाती। कुछ ऐसा लगा मानो माला का रूप-रंग और यौवन उस बाला पर चिपक गया है। यह उसकी मुसकराहट नहीं वरन् माला की मुसकराहट है जो मुझे चिढ़ा रही है, 'बड़े लक्ष्यभेदक

बने थे न, कैसा चकमा दिया मैंने तुम्हें!'

''बड़े ध्यान से क्या देख रहे हो?'' आचार्य की वाणी से मेरी उलझी मनःस्थिति को झटका लगा।

मैं सँभलते हुए बोला, ''यही खोज रहा हूँ कि श्रवणकुमार कहाँ है?''

आचार्यजी हँस पड़े। बोले, ''पगले, श्रवणकुमार है नहीं, कभी इसी स्थिति में था। और उसे दशरथ ने वन्य पशु समझकर मार डाला था।'' पूर्व कथा साफ-साफ मानस में उतर आई थी।

''जानते हो, क्या भूल की थी दशरथ ने?'' प्रश्न करने के बाद उन्होंने स्वयं उत्तर दिया, ''उनमें ध्वनि से लक्ष्यभेद करने की योग्यता तो थी, पर ध्वनि को समझने का सामर्थ्य नहीं था। जल भरते घड़े से निकली ध्वनि उन्होंने किसी जानवर के पानी पीने की आवाज समझी। वह वैसी ही भूल कर बैठे जैसी इस समय तुमने की है।''

''तो क्या इसीलिए आपने श्रवणकुमार को मार डालने की बात कही है?'' उनकी मुसकराहट ने इसे स्वीकारा और मैं बोलता गया, ''मैं तो चकित था कि मैंने किसी व्यक्ति की हत्या कर दी। उसका शव भी तो नहीं दिखाई दे रहा है।''

आचार्य मुसकराते रहे। उन्होंने बड़ी गंभीरता से परीक्षा का परिणाम घोषित किया, ''तुम लक्ष्यभेद में निपुण हो, पर ध्वनि की पहचान तुम्हें नहीं है। तुम्हारी यह दुर्बलता कभी भी तुम्हें धोखा दे सकती है।''

इसपर मैंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। भीतर-ही-भीतर हँसता और कहता रहा, 'ध्वनि की पहचान तो आपको भी नहीं है, आचार्य! अन्यथा आप मुझे स्वीकार करने का धोखा न खाते।' किंतु मुख से कुछ नहीं निकला।

मैंने सामने देखा, उस बाला ने फूटे घड़े को फेंका और रज्जु को समेटा। वह मुसकराहट बिखेरती सारिका-सी ऊपर की शिलाओं की ओर फुदकती हुई चढ़ती गई।

हम लौट पड़े। तृतीय प्रहर के ठंडे पड़ते सूर्य ने हमें आश्रम में प्रवेश करते देखा।

□

समय की पुस्तिका ने अपने कई पृष्ठ पलट डाले।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मैं आचार्य के निकट आता गया। वे शास्त्र तथा लोक-व्यवहार की कम और शस्त्रों की अधिक शिक्षा देते। उनका यत्न यही रहता कि मैं शीघ्रातिशीघ्र शस्त्रविद्या में पारंगत हो जाऊँ। आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर

बन जाऊँ। मेरी रुचि और लगन ने आचार्य की इस आकांक्षा को निरंतर बढ़ाया ही। कृपाण, कुठार, त्रिशूल, पाश, असि आदि का अच्छा अभ्यास कराने के बाद बाणविद्या का कोई ऐसा अंग नहीं छूटा जिसकी शिक्षा उन्होंने न दी हो।

एक दिन एक आदिवासी से उन्होंने एक विशेष प्रकार का बाण मँगाया। उसका स्वयं स्पर्श नहीं किया, वरन् उसे आश्रम के भीतर भी लाने नहीं दिया।

मुझे लेकर वे स्वयं आश्रम के बाहर आए और शिलाखंड पर रखे उस बाण की ओर संकेत कर कहा, ''देखो, यह कपिश है। एक प्रकार का बाण, जिसका स्पर्श भी हमारे लिए निषिद्ध है। जानते हो, क्यों? इसके अग्रभाग में जो अस्थि लगी है, वह या तो गाय की होगी या गज की।''

इसके पश्चात् ही उसे लानेवाले आदिवासी से उन्होंने पूछा, ''क्यों रे, यह किसकी है?''

उसने मुसकराते हुए उत्तर दिया, ''गाय की।''

''हरे, हरे! तब तो स्पर्श ही नहीं, इसका दर्शन भी वर्जित होना चाहिए। तू गज की अस्थि का क्यों नहीं ले आया?''

''इन पहाड़ों पर गज की अस्थि कहाँ मिलती है, देवता!'' इतना कहकर वह मुसकराने लगा। अत्यंत विपन्न होने पर भी वे आदिवासी अपने अधरों पर मुसकराहट उड़ेले रहते हैं और जरा-जरा सी बात पर खिलखिला पड़ते हैं।

अब उन्होंने मुझे आदेश दिया, ''तुम इसे अपने धनुष पर रखकर चलाओ और सामने के वृक्ष के तने पर ऐसा मारो कि इसका अग्रभाग उसमें प्रविष्ट कर जाए।''

मैं हिचकिचाया, ''जो बाण निषिद्ध है, उसके चलाने से क्या लाभ?''

''जरा सी भी अनभिज्ञता ज्ञान की पूर्णता में बाधक होती है।'' उन्होंने बड़ी गंभीरता से कहा, ''यह ठीक है कि इसके प्रयोग के बाद तुम्हें प्रायश्चित्तस्वरूप उपवीत बदलना पड़ेगा और शुद्ध होकर यज्ञ करना पड़ेगा; किंतु तुम्हें इसे चलाना चाहिए और इसका परिणाम देखना चाहिए।''

''क्या होगा इसका परिणाम?'' मेरी जिज्ञासा मुखर हुई।

''यह वृक्ष खड़ा-का-खड़ा पक्ष भर में सूख जाएगा।'' उन्होंने संक्षेप में इसकी फलश्रुति पर प्रकाश डाला, ''मंत्रसिक्त कर चलाया गया कपिश चांडालों और दानवों का नाश कर देता है। जितनी पवित्र अस्थि होगी दैत्यों का उतना शीघ्र विनाश करेगी।'' एक क्षण रुकने के बाद वे पुनः बोले, ''देवासुर संग्राम में जब देवता संत्रस्त हो गए थे, उनका कोई चारा नहीं चला था तब उन्होंने महर्षि दधीच

से ही उनकी हड्डियाँ क्यों माँगीं ?'' इतना कहकर वह मुसकराने लगे। मैंने अनुभव किया कि एक बहुत पुरानी गुत्थी अचानक सुलझ गई थी।

''किंतु इन हड्डियों की पवित्रता की अपरिमित शक्ति क्षत्रियों पर कोई काम नहीं करेगी।'' उनके मुख से निकला यह अनावश्यक वाक्य निश्चित रूप से उनके भीतर सतत सुलगते प्रतिशोध का धूम मात्र था। मैंने अनुभव किया कि यह बूढ़ा कितने घुटन और तनाव में जी रहा है। मैंने वह बाण उठाया और आदेशानुसार तने पर मारा। फिर दूसरे आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया।

''अब तुम्हें उस बाण को खींचना चाहिए।'' आचार्य ने कहा।

''तब तो वह हड्‌डी भी बाहर निकल आएगी।''

''नहीं, केवल काष्ठ अंश ही बाहर निकलेगा। हड्‌डी तो वृक्ष के विनाश के साथ ही नष्ट होगी। इस बाण का निर्माण ही इस ढंग से किया जाता है।'' वह इतना कह ही रहे थे कि तब तक वह लड़की आई और एक झटके में बाण की लकड़ी निकालकर मुसकराने लगी।

यह वही पर्वत-कन्या थी, जिसने मुझे शब्दवेधी बाण की परीक्षा के समय रस्सी में घड़ा लटकाकर धोखा दिया था। उसके अधरों पर सदा मुसकराहट उगी रहती और जरा-जरा सी बात पर उसके मोती जैसे दाँतों से पिघलकर हँसी झरने लगती। हँसते समय माला की ही तरह उसके दाहिने कपोल पर गड्ढे पड़ जाते, जिसमें मेरी दृष्टि अवश्य गड़ती। मैं उसे आँखों से देखता ही नहीं वरन् छूता रहता।

लगभग नित्य ही दिन के तीसरे पहर मैं उस झरने की ओर निकल जाता। वह मुझे वहीं कभी किसी झाड़ी से निकलती हुई, कभी किसी पहाड़ी पर फुदकती हुई और कभी कुल्हाड़ी से लकड़ी काटती हुई मिल जाती। जब भी दिखाई पड़ती, हँसती हुई।

एक दिन मैं उसे देखता रहा, वह मुझे देखती रही। नयनों से नयनों का संभाषण और फिर मिलन। आकर्षण की इस स्वाभाविक प्रक्रिया पर मैं अनजाने बहुत आगे बढ़ गया। एक क्षण ऐसा भी आया जब मेरे अधर उसकी नैसर्गिक मुसकराहट को संतोषपूर्वक पी लेना चाहते थे। ज्यों ही मैं उसकी ओर झुका कि मेरी अतृप्त वासना के बादलों में एक बिजली सी चमकी। जोर का झटका लगा। मैं पीछे हट गया। मेरे भीतर कोई अपनी पूर्ण ऊष्मा में बरज रहा था, 'अरे, तुमने यह क्या किया ? तुम भी फिसलने लगे। ब्रह्मचारी हो न! यह पर्वत-कन्या तो तुम्हारे लिए देवी है, पूज्य है, प्रणम्य है। तुमने यह साहस कैसे किया ? अच्छा हुआ, जो तुम्हें किसीने देखा नहीं। किंतु यह प्रकृति तो तुम्हें देख रही है। यह तुम्हें शाप दे

सकती है। तुम्हारी सारी तपस्या पर पानी फेर सकती है।' मेरी यह अंतर्ध्वनि पर्वतों से टकराकर, हजार गुना तीखी हो मेरे मस्तिष्क में जैसे चुभने लगी। मैं एकदम घबरा गया। मानो किसी अदृश्य शक्ति ने मुझे उसके चरणों पर झुका दिया।

"क्षमा करो, देवी, मेरा अपराध क्षमा करो।" मेरे मुख से स्वतः निकल पड़ा।

वह अब भी खड़ी-खड़ी मुसकरा रही थी, मानो उसने मेरी बात सुनी ही न हो। वह वहाँ पहुँच चुकी थी जहाँ भाषा नहीं पहुँचती। किंतु अब उसकी मुसकराहट मुझे चुभने लगी थी। मैंने उसकी ओर से आँखें फेर लीं। ज्यों ही मैं मुड़ा, मुझे एक दूसरी सुंदरी दिखाई दी। वह क्रोध में फुफकार रही थी। लगता था, उसकी आग बरसाती आँखें जैसे मुझे भस्म कर देंगी। निश्चित रूप से यह माला है, मैंने अनुभव किया। अब विचित्र स्थिति थी। एक ओर सत्य था, दूसरी ओर स्वप्न। एक ओर यथार्थ था, दूसरी ओर कल्पना। एक ओर बहिरंग था, दूसरी ओर अंतरंग। इन दो पाटों के बीच मैं उस समय कैसा पिसा था, सो कैसे बताऊँ!

भवितव्यता कितनी प्रबल, निर्मम और निष्ठुर होती है, इसका ज्ञान मुझे उस दिन हुआ।

नित्य की भाँति मैं दिन के तृतीय प्रहर में धनुष-बाण लेकर निकल पड़ा था। महान् धनुर्धर होने का पागलपन मेरी बुद्धि पर सवार था। मैं हिंस्र पशु की खोज में स्वयं हिंसक बनता जा रहा था। इसी समय मुझे कुछ दूरी पर एक झाड़ी में खड़खड़ाहट होती जान पड़ी। मैंने सोचा, कोई हिंसक पशु मुझपर आक्रमण करने की तैयारी में है। मैंने पल भर में शर-संधान कर लगातार दो-तीन बाण उस झाड़ी में मारे। खड़खड़ाहट शांत हो गई। मैंने समझ लिया, आक्रामक स्वयं मृत्यु की गोद में ढुलक गया।

उसे देखने मैं उस ओर बढ़ा। बाणों को झाड़ी से हटाया ही था कि मेरे मुख से निकल पड़ा, "हे भगवान्, मैंने यह क्या कर डाला? कहाँ हिंस्र जीव का चर्म उतरवाने की सोच रहा था, कहाँ यह क्या हो गया? अब इस पाप का क्या प्रायश्चित्त करूँ?" वहीं शीशम वृक्ष के नीचे खड़ा सोचने लगा। घंटों मस्तिष्क उसी में उलझा रहा। कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। संध्या अपना रंगीन आँचल फैलाने लगी।

तब तक उस शिलाखंड पर एक ब्राह्मण हाँफता हुआ चढ़ा। उसने मुझे देखते ही पूछा, "इधर कोई गाय तो नहीं दिखाई पड़ी थी?"

मैं क्या उत्तर देता? मौन ही रहा, बिलकुल मूर्तिवत्।

"बोलते क्यों नहीं? चुप क्यों हो? मेरी गाय तो इधर नहीं आई है?" वेशभूषा और ध्वनि की शुद्धता से वह तपोनिष्ठ वेदपाठी जान पड़ता था। मैं और अधिक स्वयं को रोक नहीं सका। मैंने झाड़ी की ओर संकेत किया।

वह पागलों की भाँति उस ओर दौड़ा और झाड़ी हटाते ही चीख पड़ा, "अरे दुष्ट, तुमने यह क्या किया? मेरे पास मात्र एक कामधेनु थी। तू ने उसका भी वध कर डाला! कहाँ मिलेगी मुझे ऐसी कामधेनु?" वह बिलखने लगा। ब्राह्मण का बिलखता क्रोध तड़पते हुए सिंह से भी अधिक घातक होता है, क्योंकि सिंह से रक्षा की जा सकती है, किंतु विप्र के हताश क्रोध के शाप से बचा नहीं जा सकता। मेरे अंग-प्रत्यंग रक्तशून्य होने लगे। एक गोहत्या का ताप और दूसरे इस दुःखी ब्राह्मण का कोप। क्या मेरे सँभाले सँभलेगा? मैं अपनी व्यग्रता में ही गिड़गिड़ाया, "क्षमा कीजिए, अभिज्ञता में ही मैं ऐसा पाप कर बैठा।"

"यह कैसी अभिज्ञता, नराधम! कामधेनु पर बाण चलाते समय तू अंधा हो गया था या कादंबिनी के मद में था?" वह क्रोध में भभक पड़ा।

"मैं कादंबिनी का स्पर्श तक नहीं करता, देव! ब्रह्मचारी हूँ। मुझे क्षमा करें।" मैं उसके चरणों पर गिर पड़ा।

उसने अपना चरण ऐसे झटके से हटाया जैसे मैं अस्पृश्य चांडाल होऊँ।

"तुझे झूठ बोलते लज्जा नहीं आती! जरा अपना रूप तो देख।"

मैं समझ नहीं पाया कि यह मुझे रूप देखने को क्यों कह रहा है। मैं विनीत हो बोला, "झूठ नहीं कह रहा हूँ। आप विश्वास करें।"

"झूठ नहीं बोल रहा है तो क्या यह सत्य है? कहीं ब्रह्मचारी भी कुंडल पहनते हैं! मैं सब समझ रहा हूँ। तू राजकुमार है, छली। मुझे छलने की चेष्टा मत कर।" उसने अपने आँसू पोंछे और बिलखता हुआ बोला, "संसार में अब मेरा कोई नहीं है। बस यही एक कामधेनु थी, वह भी चली गई। दुर्मते! तुमने मुझे निस्सहाय कर दिया। जा, तू भी एक दिन ऐसा ही निस्सहाय होकर मरेगा। जब शत्रु तुझपर वार पर वार करता रहेगा। तेरे रथ का पहिया धँस जाएगा। तू उसे निकाल नहीं पाएगा और मारा जाएगा।" वह दाँत क़िटकिटाते हुए बड़बड़ाता गया।

शाप के भय से अधिक उसके कथन पर मुझे आश्चर्य था। मैं कुछ समझ नहीं पाया। क्या मैं सचमुच राजकुमार हूँ? यदि नहीं, तो फिर क्यों मुझे इस प्रकार शाप दे रहा है? किंतु मुझमें अब यह कहने का भी साहस नहीं था कि मैं राजकुमार नहीं हूँ। रथी होकर युद्ध करने की मेरे जीवन में कोई संभावना नहीं है।

प्रस्तर प्रतिमा की भाँति सिर नीचा किए मैं मौन खड़ा रहा। उसकी मनःस्थिति

रुदन और कोप के, क्रोध और करुणा के तथा पश्चात्ताप और निरीहता के ऐसे संगम-स्थल पर थी कि उसके स्पर्श का साहस मेरे विवेक को नहीं हुआ।

गिड़गिड़ाते हुए मैंने अपना विनय पुनः दोहराया, "अनजाने हुए इस अपराध के लिए क्षमा करें, देव!"

वह एकदम लाल हो उठा, "दुष्ट, अब भी क्षमा माँग रहा है! बड़ा धनुर्धर बना है! लज्जा से डूब मर! चला जा मेरी आँखों के सामने से! हट जा यहाँ से! तुझे देखकर मेरी आग और भभक रही है। तू हट जा मेरे सामने से! मैं कहता हूँ न कि हट जा सामने से, अन्यथा भस्म हो जाएगा!"

भय था कि रुकने पर और अधिक कोप से शापित न हो जाऊँ। मैं सिर नीचा किए चल पड़ा। वह क्रोध से काँपता रह गया। मेरा मन उद्विग्न था, बैठे-बैठाए यह विपदा कहाँ से गले आ पड़ी। नियति की किस लहर ने बहाकर मुझे मगरमच्छ के जबड़े में फँसा दिया। मैं बड़ा व्यग्र था। डूबते सूर्य को प्रणाम कर बोल पड़ा, "मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ, भगवन्, तुम्हीं मेरी रक्षा करो।"

इस घटना के बाद नियति पर मैं अधिक विश्वास करने लगा था। मुझे लगने लगा कि मेरा स्वतः कोई अस्तित्व नहीं, वरन् भवितव्यता स्वयं अपनी डोर में मुझे बाँधकर कहीं घसीटे लिये जा रही है। कर्म पर से मेरे विश्वास की पकड़ ढीली पड़ गई थी।

मैंने इस घटना की चर्चा किसीसे नहीं की। यह भीतर-ही-भीतर मुझे सालती रही और मेरे व्यक्तित्व पर एक विकृति छोड़ती रही। कुछ उदास-उदास सा मैं निष्क्रिय हो चला था। संभवतः इस परिवर्तन से आचार्यजी परिचित हो गए थे। उन्होंने कई बार मेरे स्वास्थ्य के संबंध में पूछा भी; पर मैं कोई ठीक उत्तर नहीं दे पाया।

दिन खिसकते गए। मेरी महत्त्वाकांक्षा निष्क्रियता को धीरे-धीरे धोने लगी। उस ब्राह्मण के शाप की चिंता धूमिल पड़ती गई। फिर भी उसका मुझे राजकुमार मानना मेरे मस्तिष्क में अनेक भंगिमाओं के साथ उभरा। उसके साथ ही सुवर्चा और मांत्रिक की भविष्यवाणियाँ भी घुल-मिल गईं। इन सबसे मिल-जुलकर बना मेरा ही एक ऐसा चित्र मेरे सामने आने लगा जो मुझे बहुत अच्छा लगता था; किंतु जिसे पहचानना मेरे लिए सहज नहीं था।

जीवन एक बाजी है, जिसकी हार-जीत मेरे हाथ में नहीं, पर खेलना तो मेरे हाथ में है ही। अतएव जीवन की बाजी खेलने का उत्साह मैं फिर से जुटाने लगा। शापवाली घटना पर काल की धूल की तह पर तह जमती चली गईं।

मैं बड़ी आस्था के साथ आचार्यजी की सेवा में लग गया। अपना सारा ज्ञान वे मुझमें उड़ेलते गए—और एक संध्या को बड़ी आत्मीयता से बोले, ''वत्स! जो कुछ मेरे पास था वह सबकुछ मैंने तुझे दे दिया, केवल एक वस्तु अभी तक दे नहीं पाया।'' फिर मेरी आँखों में झाँककर जैसे उन्होंने कुछ टटोला, ''वह मैं दे नहीं सकूँगा। उसे तुम्हें स्वयं लेना पड़ेगा।''

मैंने समझ लिया कि आचार्यजी अपने वैरभाव के संबंध में कहना चाहते हैं। मैंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, ''जिस ओर आपने अनेक बार संकेत किया है और इस समय भी कह रहे हैं, उस वस्तु को मैंने प्रथम दिन आश्रम में प्रवेश करते समय द्वार पर ही ग्रहण कर लिया था।''

बूढ़ा प्रसन्न हो गया। उसकी आकृति की प्रत्येक झुर्री संतोष का स्वर अलापने लगी। उनकी आँखों में ऐसी शांति मैंने कभी नहीं देखी थी। मेरे सिर पर हाथ रखते हुए उनके वात्सल्य ने मुझे आशीर्वाद दिया।

एक मास भी न बीता होगा कि नियति ने फिर मुझपर डोरा डाला।

आचार्य इधर कुछ अस्वस्थ थे। अनिद्रा से पीड़ित थे, फिर भी निश्चिंत थे। बहुधा कहा करते थे कि 'तुम्हें पाकर वसु, और कुछ पाना अब मुझे शेष नहीं रह गया है।...अब बाढ़ की नदी का कगार हूँ, कब गिरूँ और कब बह जाऊँ।'

एक दिन भोजन करने के बाद उन्होंने बताया कि मेरे सिर में पीड़ा है। स्पष्ट था कि पिछली रात वे सोए नहीं थे। पौष का महीना था। अपनी पर्णकुटी के बाहर ही वे धूप में लेट गए। मिलनयामिनी से भी छोटा दिन आधा बीत चुका था।

मैं आचार्यजी का सिर अपनी जाँघ पर रखकर दबाने लगा। वे श्लथ थे ही। धीरे-धीरे उनकी आँखें लगने लगीं और वे सो गए। यदि कोई उधर आता दिखाई देता तो मैं संकेत से उसे बता देता कि चुप रहो, आचार्यजी सो रहे हैं।

इसी बीच मेरी जाँघ के नीचे पता नहीं किधर से एक कीट पहुँच गया। वह काटने लगा। मुझे वेदना होती गई, पर मैं जरा भी टस से मस नहीं हुआ। मेरी गुरुभक्ति ने मुझे बाँधकर स्थिर बना दिया था।

कीड़ा काटता गया। आचार्यजी खर्राटे भरते रहे। मुझे अनुभव हुआ कि वह काटता हुआ मेरी जाँघ में घुसता चला जा रहा है। फिर भी मैं नहीं हिला। कुछ ही समय बाद मैंने देखा कि आचार्य की नींद खुल गई। उन्होंने हड़बड़ाकर अपना दाहिना हाथ बाईं ओर पीठ के नीचे ड़ाला। एक चिपचिपे गरम पदार्थ का उन्हें अनुभव हुआ। हाथ निकालकर देखा तो वह रक्त था।

''यह क्या?'' कहते हुए वे उठ बैठे।

अब मैंने उन्हें बताया, "यह रक्त मेरी जाँघ का है।"

"तुम्हारी जाँघ का!"

उनके आश्चर्य का समाधान करते हुए मैंने वस्तुस्थिति बताई। उनकी मुखमुद्रा एकदम बदल गई। उनकी आँखों में सोई शांति की छाया तपते हुए लौह सी लाल हो उठी।

"काटता हुआ कीट जाँघ में घुस गया और तू टस से मस नहीं हुआ?"

"मुझे आपकी निद्रा भंग होने का भय था।"

"मात्र इतने भय के कारण तूने मर्मभेदक वेदना सहन कर ली!" मैं उनका यह अप्रत्याशित परिवर्तन देखता रह गया।

"तब तू निश्चित ही क्षत्रिय है। क्षत्रिय के अतिरिक्त ब्राह्मणों में इतना धैर्य नहीं हो सकता। अंग कटता चला जाए और ब्राह्मण चुप रहे, यह कभी नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता। यह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है, उसके स्वभाव के विरुद्ध है। अवश्य ही तू क्षत्रिय है। तू ने मुझे धोखा दिया है।" उनका आचार्यत्व कुपित हो फुफकारने लगा।

मैं बड़े असमंजस में पड़ा। मैं अब क्या कहूँ? मेरा विवेक एक बार फिर जागा, 'पता है, तू क्या है? जब तुझे स्वयं पता नहीं है कि तू क्या है, तब तू क्यों नहीं शपथ लेता कि मैं क्षत्रिय नहीं हूँ।' अब मैं मुखर हुआ, "मैं क्षत्रिय नहीं हूँ, आचार्य! विश्वास मानिए, मैं क्षत्रिय नहीं हूँ।"

"तू झूठ बोलता है।"

"मैं सत्य कहता हूँ।" मैंने आकाश की ओर हाथ उठाया, "भगवान् भास्कर की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं क्षत्रिय नहीं हूँ।" इतना कहकर मैंने सूर्य की ओर देखा और वह बादलों में छिप गया।

"तू क्षत्रिय नहीं है, तब तू छलिया है!" उन्होंने आँखें बंद कर लीं, "तू एक तपस्वी ब्राह्मण के समक्ष झूठ बोल रहा है। अब तक तो तेरा अहित नहीं हुआ है, पर अब अवश्य होगा।"

मेरे पैरों के नीचे की धरती खिसकने लगी। कहीं मैं दुबारा न शापित हो जाऊँ, मैं घबरा गया। उनके चरणों पर गिर पड़ा और अपनी वास्तविकता पर से दो-एक ही पट हटाए थे कि जैसे अग्नि में घृत गिरा। वे भभक उठे, "नराधम! तुमने घोर अपराध किया। मेरे समस्त स्वप्न खंडित हो गए। मेरी आकांक्षाओं का प्रासाद टूटकर बिखर गया। मैंने सोचा था, तुम जैसा योग्य शिष्य पाकर मैं अब शांति से जी लूँगा; किंतु जीना तो दूर, अब शांति से मर भी नहीं सकता। जीवन भर

मेरी प्रतिहिंसा मुझे चुभती रही, अंत तक चुभती रह जाएगी।'' अपना सिर पीटकर वे बोलते गए, ''पापी! तुमने कैसा मुझपर जादू कर दिया था! तेरी सेवा और विनयभाव ने मुझे ऐसा मोह लिया था कि मेरी दृष्टि वास्तविकता तक पहुँच भी न सकी। जब भी मैं तुझे देखता, तेरी आकृति पर मुझे गायत्री का तेज दिखाई देता। तेरे प्रशस्त ललाट पर ब्राह्मणों जैसा अभिमंत्रित तिलक दृष्टिगोचर होता। तेरे पूजन में भी द्विजों की सात्त्विकता रहती। क्यों ऐसा हो गया? मैं क्यों धोखा खा गया?'' वे सचमुच बिलखने लगे। उनके स्वप्न निचुड़कर आँखों से बहने लगे।

मैंने धैर्य और साहस का सहारा लेकर उन्हें सांत्वना दी, ''आप इतने व्याकुल न हों, गुरुदेव! जरा सोचें तो, जिसके आदि का पता नहीं, क्या वह ब्राह्मण नहीं हो सकता?''

''वह सबकुछ हो सकता है, पर ब्राह्मण नहीं हो सकता। विश्वास कर, उसमें वेदना सहने की इतनी शक्ति नहीं होती।'' इस मनोवैज्ञानिक सत्य को वह जरा भी छोड़ना नहीं चाहते थे।

फिर भी मैंने प्रयत्न किया, ''यह जातीय सत्य व्यक्तिगत धरातल पर झूठ भी हो सकता है।''

''जो जीवन भर जातीय वैर पाले रहा, वह सत्य को भी जातीय धरातल से अलग सोच नहीं सकता।'' इतना कहते-कहते उनपर क्रोध की दूसरी लहर आई, ''आखिर किस लोभ में तुमने मेरा ब्रह्मास्त्र चुराया? चोर! लुटेरा! दस्यु! बोलता क्यों नहीं?''

''शत्रुओं को पराजित करने के लिए।'' मेरे मुख से अनायास निकल पड़ा।

''जा, जिस शत्रु को पराजित करने के लिए तुमने मेरी इतनी सेवा की, अभ्यास और साधना की, वह एक भी तेरे काम नहीं आएगी। तू अवसर पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग ही भूल जाएगा।'' इतना कहकर उन्होंने हाथ में जल लिया। उनके अश्रुपूरित नेत्र मुँदे। अधर पर कंपन हुआ और फिर पागलों-सा चीखे, ''देख, वह भस्म हो गया। भस्म हो गई तेरी साधना, भस्म हो गई तेरी तपस्या और भस्म हो गया तेरा ब्रह्मास्त्र!''

भय की चरम सीमा पर मनुष्य निर्भय हो जाता है। ऐसी निर्भयता का उत्तरीय ओढ़कर मेरा भय भी हँसने लगा।

''तू अब भी हँस रहा है, दुष्ट! निर्लज्ज!''

''इसलिए हँस रहा हूँ कि आप मेरी तपस्या को भस्म करते हैं, पर आप अपनी प्रतिशोध-भावना को भस्म नहीं कर सकते! कितनी विवशता है आपकी!

एक अग्नि जो आपके पूर्वजों को राख कर गई, जिसमें आज तिल-तिल कर सुलग रहे हैं, आप उसे शांत नहीं कर सकते।''

''कैसे शांत कर सकता हूँ? यही अग्नि तो मुझे उत्तराधिकार में मिली है।''

इस बार की मेरी हँसी पहले से तेज थी, ''उत्तराधिकार में मिला वैरभाव और राजा का कोप अधिक पालना नहीं चाहिए। उसे पाप की गठरी की तरह उतारकर फेंक देना चाहिए और शांति का जीवन जीना चाहिए।'' मैं हँसते हुए बोलता गया, ''शापित होने पर भी मैं आपका शिष्य हूँ। मैं आपके अधिक मुँह लगकर दुर्विनीत होना नहीं चाहता, बस इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रतिहिंसा की अग्नि-शय्या पर जलते रहने से कहीं अच्छा है, सद्भावना की गोद में शांतिपूर्वक सोना।''

मेरे असामान्य व्यवहार से उनकी मुखमुद्रा भी बदली। वे पहले की अपेक्षा कुछ सामान्य होते हुए बोले, ''मैं कैसे सद्भावना की बात सोचूँ, जबकि हमारे पूर्वजों ने ऐसा नहीं सोचा।''

''तो उन्होंने गलती की। उसी गलती को आप भी दुहराइए, क्या यह ठीक है?''

''अब मैं देखता हूँ कि तू मेरे पूर्वजों तक पहुँचने की कोशिश कर रहा है, सीमा से बाहर जा रहा है।''

''मैं सीमा का उल्लंघन नहीं कर रहा हूँ, गुरुदेव! वरन् एक शाश्वत सत्य की ओर इंगित कर रहा हूँ।''

''सत्य तो यही है कि मेरे पूर्वजों ने इक्कीस बार धरती को क्षत्रियविहीन किया था और मैं...''

वे अपना वाक्य पूरा करें, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा, ''कोई ब्रह्मास्त्र न तो प्रकृति को पराजित कर सकता है और न नियति को; क्योंकि प्रकृति अपनी सृष्टि की सुरक्षा स्वयं करती है। आप इक्कीस बार नहीं, इक्कीस सहस्र बार क्षत्रियों का विनाश कर दीजिए, पर प्रकृति उसका बीज सुरक्षित रखेगी और वे जन्म लेते रहेंगे।''

परंपरागत पाले वैरभाव पर मेरा यह आघात इतना तीक्ष्ण था कि वे तिलमिला उठे, ''मैं तुझसे उपदेश सुनना नहीं चाहता, दुष्ट! तू मेरी आँखों से ओझल हो जा।''

''यदि आपका आक्रोश मेरे विवेक को ठुकरा सकता है तो मैं भी आपके शाप की परवाह नहीं करता।'' आचार्यजी के समक्ष पहली बार मेरा अहं अपने स्वाभाविक रूप में उभरा, ''आप और आपके सभी पूर्वज अपने ही प्रतिशोध से

शापित थे और मैं, वह भी मैं नहीं, वरन् आपका दिया हुआ ब्रह्मास्त्र स्वयं आपसे शापित हुआ। तो क्या हुआ? मुझे इसकी जरा भी चिंता नहीं। मैं तो प्रतिहिंसा की उस विशाल काया को देख रहा हूँ, आचार्य, जिसकी लौह प्राचीरों के भीतर आपकी और आपके पूर्वजों की संपूर्ण मनीषा बंदी होकर कुंठित हो गई है। मेरे शाप के चारों ओर तो कोई दीवार नहीं है। मैं तो···हा-हा-हा!'' मेरे इस विलक्षण अट्टहास से सारा आश्रम जैसे काँप उठा।

इस स्थिति को जिसने भी सुना वह दौड़ा हुआ इधर ही चला आया। धीरे-धीरे सभी ब्रह्मचारी एकत्र हो गए। विचित्र दृश्य था। पर्णकुटी के बाहर रक्त की धारा अभी सूख नहीं पाई थी। आचार्यजी की पीठ आरक्तिक थी। मेरी जाँघ से रक्त अब भी बह रहा था और मैं अट्टहास कर रहा था, ''मैं कुछ देकर नहीं वरन् यहाँ से कुछ-न-कुछ लेकर ही जा रहा हूँ। केवल ब्रह्मास्त्र ही न नष्ट हुआ, शेष सबकुछ तो मेरे पास है ही।''

आचार्यजी अवाक् हो मुझे देखते रह गए। बाद में वे संयत होकर बोले, ''शेष सबकुछ तो तुम और कहीं से भी पा सकते थे।''

''तो मैं समझ लेता हूँ कि मैं आपके यहाँ नहीं, और कहीं आया था।'' मैं उसी आवेश में कहता गया, ''मैं लुटेरा हूँ, दस्यु हूँ; पर काल मेरी कर्तव्यनिष्ठा की निश्चित रूप से सराहना करेगा। और आपकी प्रतिहिंसा के लिए उसके पास घृणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।''

''मैं देखता हूँ कि तुम अपनी परिधि से बाहर होते चले जा रहे हो।'' आचार्य का कोप पुनः तमतमाया।

''अपनी ही परिधि से नहीं, आश्रम की परिधि से भी बाहर जा रहा हूँ; क्योंकि मेरी आकांक्षा पूरी हो चुकी है। और आप अब भी इसी चिंता में घुल रहे होंगे कि कोई ऐसा शिष्य मिले जो आपके प्रतिशोध का निर्वाह कर सके। अच्छा तो अब मैं चला।'' चलते हुए भी मेरे मुख से निकला, ''मनुष्य किसी और से नहीं, अपने वैरभाव से ही मारा जाता है।''

मैं तीर की तरह आश्रम के द्वार की ओर बढ़ा चला जा रहा था। न मुझे अपने अस्त्रों की चिंता थी और न वल्कल की। अचानक मेरे भीतर एक ध्वनि कौंधी, 'यह क्या कर रहे हो? आवेश में अपना शिष्यकर्म भी भूल गए।' मैं लौट पड़ा। मेरा यह अप्रत्याशित प्रत्यावर्तन लोग चकित हो देखते रह गए। अब यह ब्रह्मचारी क्या करने वाला है?

आचार्य के निकट आकर मैंने उनके चरणों की धूलि मस्तक पर लगाई और

धीरे से बोला, "क्षमा करें, गुरुदेव!"

...और चल पड़ा। मैंने किसी ओर नहीं देखा। सब अवाक् थे; पर मैं चला जा रहा था—अनचीन्हे, अनजाने लक्ष्य की ओर। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे आश्रम की मूकता मुझसे पूछ रही हो—अरे, कहाँ चल पड़े? सद्यः डूबे सूर्य की अरुणिमा मुझसे पूछ रही हो—अरे, कहाँ चल पड़े? संपूर्ण वन्य प्रकृति मुझसे पूछ रही हो—अरे, कहाँ चल पड़े? फिर भी मेरी गति में जरा भी शिथिलता नहीं आई थी।

मैं आवेश में चला जा रहा था कि पीछे से एक ध्वनि मुझसे आकर टकराई, "अरे वसु, जरा रुकना तो!"

मैंने मुड़कर देखा, एक ब्रह्मचारी मेरा कंबल, वल्कल, धनुष आदि आवश्यक सामान लेकर चला आ रहा था।

मैं नहीं, वरन् मार्ग ही मुड़ गया था, जो मुझे गंगी ग्राम में पुनः आना पड़ा। रात्रि का उदास प्रथम प्रहर मेरे अयाचित आगमन पर स्तब्ध था। मैंने उसी शिव मंदिर पर आसन जमाया जहाँ आज से कई वर्ष पूर्व जमा चुका था।

उषा की प्रथम किरण के साथ ही मेरे आगमन की सूचना ग्राम में फैलने लगी। ग्राम प्रमुख और मांत्रिक सबसे पहले मेरे पास आए। उनकी आकृतियों पर मात्र एक जिज्ञासा थी कि मैं अपने उद्देश्य में सफल हुआ या नहीं। किंतु उन्होंने ऐसा कुछ पूछा नहीं और न मैं स्पष्ट रूप से कुछ बताना ही चाहता था।

"बड़ी कृपा की जो लौटते समय भी हमें अपनी सेवा का अवसर दिया।" उष्ण दुग्ध का पात्र मुझे देते हुए ग्राम प्रमुख बोला।

"इसके लिए मेरी कृपा की नहीं वरन् विवशता की सराहना कीजिए।" मैंने हँसते हुए कहा, "महेंद्र पर्वत से दक्षिण की ओर मात्र एक मार्ग आता है—और उसी पर आपका ग्राम है।"

"इसीलिए न हम भाग्यशाली हैं कि हर आने-जानेवाले का दर्शन पाते हैं।"

चाहे जिस भावना से उसने कहा हो, पर मुझे मांत्रिक के इस कथन में बड़ा व्यंग्य लगा। मैं स्वाभाविक रूप से गंभीर हो गया। इसी समय उसने अपना दूसरा तीर मारा, "ब्रह्मचारी का क्या! आज यहाँ, कल वहाँ। मेघों की भाँति हवा के रुख पर चलते जाना।"

मांत्रिक मुझे खोलना चाहता था, पर मैं मौन था। कहीं वह कुछ और न समझ बैठे, इसलिए मैंने उसीके स्वर में स्वर मिलाते हुए उत्तर दिया, "इस बार मेघ सीधे समुद्र से चला आ रहा है। और जानते हैं, सारा खारापन छोड़कर।" फिर एक

बनावटी हँसी मैंने ऊपर से ओढ़ ली।

"खारापन छोड़कर अमृत ग्रहण कर लिया। वाह! इस सफलता के लिए बधाई।" मांत्रिक बोला।

मेरे कथन का लोगों ने अपने ढंग से अर्थ लगाया। ब्राह्मणकुमार ने ब्रह्मास्त्र पा लिया और उनके वैरभाव का उत्तराधिकार भी ग्रहण नहीं किया। धन्य हैं! आखिर परशुराम को पराजित करनेवाला भी कोई मिला।

उनकी इस व्याख्या से मैं मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ।

बात फैलते-फैलते चारों ओर फैल गई। सारा ग्राम जान गया। मुझे बधाई देनेवालों का ताँता सा लग गया। वह शिव मंदिर तीर्थ हो गया। लोग पुष्प और नैवेद्य से मेरा पूजन तक करने लगे। मेरी प्रसन्नता एवं पूजनीयता के धरातल पर आशंका का लघु कीट भी रेंग रहा था कि यदि वास्तविकता खुली तो क्या होगा?

पर मैं बहुत अधिक व्यग्र नहीं था। एकघ्नी तो मेरे पास थी ही। एक शत्रु का विनाश मैं निश्चित रूप से कर सकता हूँ। इसी आधार पर मैं अपने मस्तिष्क को बना चुका था कि यदि बात फूटी तो मैं कहूँगा कि मुझे मात्र एकघ्नी चाहिए थी, वह मिल गई। वैरभाव से लिपटा ब्रह्मास्त्र लेकर मैं क्या करूँगा?

किंतु ऐसी स्थिति ही नहीं आई। कई दिन बीत गए। एक दिन पता चला कि महर्षि भरद्वाज के पुत्र द्रोण भी महेंद्र पर्वत पर गए हैं। मुझे एक ग्रामीण ने ही बताया था कि वे बड़े उत्साह से जा रहे थे। हम लोगों ने उन्हें रोका, पर वे रुके नहीं। वयस्क होने पर भी उनमें इतना उतावलापन था जैसे लूट के माल के लिए लपके जा रहे हों।

लौटते समय तो इधर से ही लौटेंगे। कुछ बातें पता चलेंगी। मैं भी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा करने लगा। दो दिनों के बाद ही पता चला कि वे तो कब के लौट गए। जब मैंने उनके संबंध में विशेष जानकारी चाही तब एक ग्रामीण ने हँसते हुए बताया, "वे दूसरे ही दिन प्रातः लौट गए थे और इधर से ही गए थे। आपने ध्यान नहीं दिया होगा। ग्राम में तो उन्होंने प्रवेश ही नहीं किया।"

"तुम लोगों ने उन्हें रोका नहीं?"

"रोकना तो बहुत चाहा, पर वे रुके ही नहीं। बड़ी निराशा से बोले, 'अब क्या होगा यहाँ रुककर।' "

"लगता है, कुछ हाथ लगा नहीं।"

वह ग्रामीण जोर से हँस पड़ा। उसने कहा, "मैंने तो सुना है, परशुरामजी ने उनकी बड़ी उपेक्षा की।" वह बिना पूछे ही बताता गया, "उन्होंने परशुरामजी से

कहा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ।' आचार्यजी ने कहा, 'जो भी यहाँ आता है, ब्राह्मण ही बनकर तो आता है।' द्रोण अपने पिता और पूर्वजों का परिचय देते रहे, पर बूढ़ा माननेवाला नहीं था।'' मेरे मन की आवाज उठी कि दूध का जला छाँछ भी फूँक-फूँककर पीता है। पर मैं चुप था। ग्रामीण बताता गया, ''अंत में आचार्यजी झुँझला उठे, 'यदि ब्राह्मण थे तो अब तक कहाँ मर रहे थे? उस समय आए हो, जब चिड़ियाँ खेत चुग ले गईं।'

''वे बिना खोले गए पत्र की तरह लौटा दिए गए।''

''और कुछ कहा नहीं द्रोण ने?'' मैंने विशेष जिज्ञासावश उससे पूछा।

''कहते क्या! गए थे साम्राज्य लूटने और आए थे हारे हुए जुआरी की भाँति मुँह लटकाए हुए।'' इतना कहकर वह विचित्र ढंग से हँसने लगा।

गंगी ग्राम में मैं अधिक रहना नहीं चाहता था। लगभग प्रतिदिन चल पड़ने का कार्यक्रम बनाता रहा, पर ग्राम की आत्मीयता ने मुझे महीनों बाँधे रखा।

□

⁂ सात ⁂

गंगा की लहरों की भाँति समय किसीकी प्रतीक्षा किए बिना बढ़ता गया। अब सुव्रती की केशराशि भी हिमानी होने लगी थी। उनका चरणस्पर्श करते हुए मुझे कुछ ऐसी अनुभूति हुई कि अब वे ही आश्रम के आचार्य हैं। बाद में पता चला कि आचार्य कौशिक संन्यस्थ हो गए हैं। सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण उनकी वश्यता स्वीकार कर चुके हैं। उनके निस्त्रैगुण्य व्यक्तित्व की व्याप्ति अब विशाल हो चुकी है। मैंने चाहा कि उनके भी दर्शन करूँ; पर सुव्रतीजी ने ही बताया कि पहले वे आश्रम के थे, आश्रम उनका था, अब वे संपूर्ण धरती के हैं और धरती उनकी है। इस विशाल धरा पर वे कहीं विचरण कर रहे होंगे।

कुछ समय तक शांत रहते हुए उन्होंने मुसकराते हुए कहा, ''बहती वायु और संन्यासी का क्या ठिकाना!'' इसके बाद उन्होंने बात एकदम बदल दी। मेरी सफलता के संबंध में पूछने लगे। मैंने सबकुछ विस्तार से बता दिया। वे सामान्य ही रहे। उनकी आकृति पर न प्रसन्नता की झलक दिखाई दी और न चिंता की रेखाएँ ही उभरीं। कुछ गंभीर हो वे श्राप्त वचन बोले, ''मैंने कहा था न कि गलत साधनों से कभी भी उत्तम साध्य प्राप्त नहीं किया जा सकता!''

''किंतु जिसके पास गलत ही साधन हो वह क्या करे?'' मैंने कहा।

वह हँसने लगे और क्षण भर रुककर बोले, ''कुछ भी हो, जो तुमने प्राप्त कर लिया है, वह कम नहीं है। इस वय में ही तुम एक अच्छे धनुर्धर हो गए हो।''

''वय से भी साधना का कोई संबंध है, आचार्य?''

''क्यों नहीं है! यदि ऐसा न होता तो ब्रह्मचर्य की वय सीमा क्यों बाँधी जाती!'' अचानक वे हँस पड़े। लगा कि जैसे उन्हें कुछ याद हो आया, ''इस प्रश्न का ठीक उत्तर तुम हस्तिनापुर में पा सकते हो, पितामह भीष्म से। वे अपने पौत्रों के लिए. बड़े चिंतित हैं कि अवस्था बढ़ती जा रही है, पर उनकी शिक्षा की ठीक

व्यवस्था हो नहीं पाई है।''

''क्यों?'' मैंने बात बीच में काटी।

''उन उद्धत राजकुमारों का प्रशिक्षण एक कृपाचार्य के वश की बात नहीं है। अतएव पितामह ने कृपाचार्य के बहनोई द्रोण को भी खरीद लिया है।''

''खरीद लिया है!'' मेरा आश्चर्य स्वाभाविक था।

''जब एक आचार्य अपना आश्रम छोड़कर राजकीय चाकर हो जाता है तब उसे बिका हुआ ही समझना चाहिए।'' सुव्रती की आकृति पर स्वाभिमान उभरा। वे बोलते गए, ''किस महत्ता के शिखर पर था भरद्वाज का आश्रम! वहाँ अनेक राजकुमार स्वयं शिक्षा ग्रहण करने आते थे। यह शिक्षक के साथ-ही-साथ शिक्षा का भी गौरव था। स्वयं भरद्वाज ने द्रोण को अग्निवेश्य के यहाँ आग्नेय अस्त्रों की शिक्षा के लिए भेजा था। वही द्रोण आज राजकीय चाकर हो गया है। क्या होगा इस समाज का?'' चिंता से उनका स्वर भारी हो गया।

मैं कहना ही चाहता था कि द्रोण ने आचार्य परशुराम के यहाँ टक्कर मारी थी, पर भारी रह गया।

आश्रम के कुशल-क्षेम के बाद मैंने आसपास के प्रदेश के संबंध में भी पूछा और अंत में घूम-फिरकर अपने ग्राम पर आया। ग्राम का नाम सुनते ही वह आवश्यकता से अधिक गंभीर हो गए और दार्शनिकों की मुद्रा में बोले, ''नियति पर मनुष्य का कोई वश नहीं। हम सब तो उसके हाथ के खिलौने हैं। वह जब तक चाहता है, हमसे खेलता रहता है और जब चाहता है, एक हठी बालक की भाँति पटककर तोड़ देता है। अतएव न तो प्रसन्न होना चाहिए उससे खिलाए जाने पर और न दुःखी होना चाहिए उससे टूट जाने पर।''

मैं बिलकुल नहीं समझ पाया कि सुव्रतीजी किस संदर्भ में यह कह रहे हैं, मानो वे मुझे किसी गंभीर परिस्थिति के लिए तैयार कर रहे हों। वे कहते गए, ''जीर्ण पत्र वृक्षों से झरेंगे ही और नई कोंपलें निकलेंगी ही। यही तो सृष्टि का क्रम है। प्रत्येक किसलय की कोमलता में कितने जर्जर पत्रों का मर्मर सोया है, कोई बता सकता है? कदाचित् वृक्ष को भी पता नहीं है, क्योंकि वह अपने अंगों के प्रति निरपेक्ष है। उसकी शाखाएँ काटिए, वह कभी भी आपत्ति नहीं करेगा। वैसे ही मनुष्य को भी जीवन-क्रम से निरपेक्ष होना चाहिए। जन्म, जरा, मृत्यु को वैसे ही निर्लिप्त देखना चाहिए जैसे सरिता के प्रवाह को तटवर्ती चट्टानें देखती हैं।''

मैं चुप था। केवल सुव्रतीजी की मुद्रा देखता रहा। फिर भी मेरी मानसिकता उस संदर्भ तक पहुँच नहीं पा रही थी और न उस समय तक पहुँच पाई जब मैंने

आश्रम छोड़ा।

ग्राम की ओर बढ़ा। वही पुरानी पगडंडियाँ, गंगा का वैसा ही कल-कल निनाद, मार्ग के वैसे ही भोलेभाले लोग, सबकुछ पहले जैसा ही था; फिर भी विचित्र-विचित्र सा लग रहा था। सोचने लगा कि कई वर्षों बाद लौटा हूँ। मन के चौखटे में इन सारे चित्रों को ठीक से बैठा नहीं पा रहा हूँ।

पथ में परिचित भी दिखाई दिए। अभिवादन के बाद कुछ सहमे-सहमे से लगे। न मैंने कुछ पूछा, न उन्होंने कुछ बताया; पर मन कहने लगा, कोई बात अवश्य हो गई है।

शीत की चुनौती को स्वीकार करता कंबल की गेंडुरी में लिपटा बूढ़ा काष्ठिक मंगल लकुटी के सहारे आता दिखाई दिया। वह बगल से चुपचाप निकल जाने को था। लगा, जैसे उसने मुझे पहचाना ही नहीं।

''अच्छे हो, दादा?'' मैंने उसे टोका।

''अरे राधेय! यह कैसा वेश बना बैठा है, बेटा? मैंने तो तुम्हें पहचाना ही नहीं।''

''सब कुशल-क्षेम तो है?''

''सब भगवान् की कृपा है।'' कुछ रुककर खाँसते हुए उसने पूछा, ''कहीं दूर गया था क्या, बेटा?''

''हाँ, कई वर्षों के बाद लौट रहा हूँ। ग्रामवासी तो कुशल से हैं?''

''सब ठीक ही है…'' जैसे वह कुछ कहते-कहते रुक गया। अचानक उसकी मुद्रा बदली, ''प्रभु जो करता है, बेटा, ठीक ही करता है।'' इतना कह वह खाँसता हुआ आगे बढ़ गया।

क्या बात है कि हर व्यक्ति नियति की क्रूर सत्ता को असहाय हो स्वीकारता चला जा रहा है? यद्यपि मैं भी उसीसे पराजित हूँ; किंतु मैं असमर्थ नहीं हूँ, असहाय नहीं हूँ। मेरी ऊष्मा अपनी कर्मठता पर विश्वास करती है। मैं कुछ ऐसा ही सोचता रहा।

अपने में ही खोया मैं आगे बढ़ता चला जा रहा था। बूढ़े सूर्य की ठंडी बाँहों में सिकुड़े दिन का लगभग आधा जीवन समाप्तप्राय था।

मैं गंगा पार आया ही था कि विचित्र कुहराम से सामना हुआ। लोग राजपथ की ओर भागे चले जा रहे थे। ''क्या बात है? क्या बात है?'' मैंने कई लोगों से पूछा, पर कोई स्पष्ट बता नहीं सका। हर कोई उधर ही भागा जा रहा था, जैसे संतप्त वायु का झोंका तृणों को स्वयं में लपेटे लिये चला जा रहा हो। मैं भी उस

ओर उड़ चला।

कितनी विचित्र स्थिति थी मेरी! मैं अपना सामान लिये हर भागनेवाले के साथ भागा जा रहा था; पर भागने का कारण नहीं जान पा रहा था। जिससे पूछूँ वही संकेतों से बताता था जैसे वाणी स्थिर हो गई थी। किसी प्रकार ज्ञात हो पाया कि हस्तिनापुर का कोई किसीको हरण कर लिये जा रहा है।

परशुराम के समक्ष अपनी माँ के संबंध में बोला गया असत्य मूर्त होकर मेरे नेत्रों में उतर आया। मैं चीख पड़ा, ''कौन है वह, जो हरी जा रही है? तुम सब बोलते क्यों नहीं?''

''अरे वही, लकुच की पुत्री, माला।'' यह आवाज किधर से आई, मुझे कुछ पता नहीं। किंतु इतना याद है कि सुनते ही मैं तड़ित वेग सा बढ़ चला और हर एक को पछाड़ता बहुत आगे निकल आया। रथ का घर-घर नाद अब भी मेरे कानों से दूर था; पर नेत्रों को उससे उड़ती धूलि का आभास हो चला था। मैंने अनुमान से ही एक बाण खींचकर मारा।

''अरे, किसे मार रहे हो? माला को या उसके हरनेवाले को?'' मेरे साथ एक दौड़ते व्यक्ति ने मुझे टोकते हुए पूछा।

''पागल हो, मैं माला को क्यों मारूँगा!'' उस बेचारे को क्या पता था कि अनुमान से बाण चलाने का मुझे अभ्यास अच्छा है।

मेरा बाण रथ के धुरे में लगा था। रथ की गति मंद पड़ गई। हमारे और उसके बीच का अंतराल कम होने लगा। कुछ क्षणों में रथ हमारी दृष्टि-परिधि में आ गया। मैंने कानों तक प्रत्यंचा खींचकर दो-तीन बाण और मारे। अश्व धराशायी हुए। वाहन लड़खड़ाया। अब वह रथ छोड़ माला का हाथ पकड़कर पैदल भागने की चेष्टा करने लगा। माला प्रतिरोध करती हुई स्वयं निकल भागना चाहती थी; पर वह उसे छोड़ना नहीं चाहता था। हम लोग तब तक उसके निकट पहुँच गए थे।

''रुक जाओ! यदि जरा भी आगे बढ़े तो मेरा तीर तुम्हारे वक्ष के पार हो जाएगा!'' मैंने उसे सावधान किया।

वह शर-संधान करते हुए देखकर थोड़ा घबराया और बोला, ''जिसके पास शरचाप न हो, उसपर धनुर्धारी बाण नहीं चलाते।''

''तो छोड़ दो इस माला को।''

''धरती और नारी भीख माँगने से नहीं मिलती।'' धनुष पर से बाण हटाते ही वह ऐंठा।

''मैं भीख नहीं माँग रहा हूँ वरन् एक दस्यु को सावधान कर रहा हूँ।'' भीड़

मुझ तक आ गई थी; पर सब अवाक् थे।

मेरी आवाज सुनते ही वह तमतमाया, "तू मुझे दस्यु कहता है, दुर्मुख! जानता है, मैं कौन हूँ! हस्तिनापुर के सेनाधिपति का पुत्र।"

"तू चाहे सेनाधिपति का पुत्र हो या पिता, लुटेरे का कार्य करेगा तो दस्यु कहलाएगा।" मैं देख रहा था कि अब भी भीड़ चुप थी। किसीने भी मेरा समर्थन नहीं किया। शायद हस्तिनापुर के राजभवन के विरुद्ध बोलने की शक्ति वे खो चुके थे।

मैं उन्हीं पर उबल पड़ा, "आप सब चुप क्यों हैं? बोलते क्यों नहीं? अत्याचार सहन करने का यह सामर्थ्य ही अत्याचारी को जन्म देता है। अन्यथा इसमें कौन सी शक्ति थी, जो ग्राम में घुसकर यह ग्राम-कन्या का हरण करता!"

माला ने बड़ी कातर दृष्टि से मेरी ओर देखा।

वह जोर से हँसा। "अत्याचार सहन करने का यदि सामर्थ्य न हो तो आ जा मेरे सामने।" उसने ललकारा।

मैंने एक बार अपने पीछे की ओर देखा। वहाँ मरे हुए लोगों की जीवित भीड़ थी, जिसकी भयग्रस्त टकटकी से एक वितृष्णा सी हुई।

मेरी शिराओं में रक्त-संचार तेज हुआ। मैं दो-चार पग और आगे बढ़ा, "तुम्हारे सामने तो था ही, अब और निकट आ गया हूँ। सोचता हूँ, मेरे पास धनुष है और तुम्हारे पास असि। कैसे निर्णय होगा?"

"मैं असि छोड़ देता हूँ और तुम धनुष फेंक दो। आओ, मल्लयुद्ध हो जाए।"

"पहले तुम अपनी असि फेंको।" मैंने कहा।

वह हँसा, "क्यों, तुम मेरा विश्वास नहीं करते?"

"ब्रह्मचारी लुटेरों का विश्वास नहीं करते।" मैं छूटते ही बोला।

वह दाँत पीसकर रह गया। बोला, "किंतु एक लुटेरा भी तुम्हारा विश्वास करता है।" इतना कहकर उसने असि फेंक दी और भीड़ को संबोधित करते हुए गरजा, "देखो, यदि तुममें से एक व्यक्ति भी आगे बढ़ा तो ठीक नहीं होगा।"

आगे बढ़ने को कौन कहे, भीड़ दो कदम पीछे हट गई।

मैं ललकारकर उससे भिड़ गया। मुझे एक क्षण भी न लगा होगा कि मैंने उसे कंदुक की भाँति उठाकर धरती पर दे मारा।

"हे भगवान्!" कहता हुआ वह चीखा। फिर मैं उसके वक्ष पर सवार हो गया और उसकी छाती को धर दबाया। पसलियों की हड्डियाँ चरमरा उठीं। वह दया की भीख माँगने लगा।

मैं क्रुद्ध वृषभ-सा फुफकार उठा, ''अभी क्षण भर पहले कह रहा था कि धरती और नारी भिक्षा से नहीं प्राप्त की जा सकतीं और अब स्वयं प्राणों की भीख माँग रहा है!''

किंतु वह गिड़गिड़ाता रहा।

''तू यदि वचन दे कि इस ग्राम की ओर कभी अपना कृष्ण मुख नहीं दिखाएगा, तभी छोड़ सकता हूँ।'' मैंने कहा।

मरता क्या न करता! उसने मेरी बात मान ली। मैंने खींचकर एक लात उसकी कमर पर जमाई। वह 'आह' करके रह गया।

उसे छोड़कर मैंने अपना धनुष-बाण व सामान उठाया और माला का हाथ पकड़कर एक विजयी योद्धा की भाँति चल पड़ा। मैंने पीछे मुड़कर देखा भी नहीं। केवल रथ के मंद होते घर-घर नाद से ज्ञात हुआ कि वह भाग चला है।

इधर भीड़ मेरे सम्मान में उछल पड़ी। मैं उसे दुत्कारते हुए तड़पा, ''तुम्हें लज्जा नहीं आती, तुम इतने लोग खड़े-के-खड़े रह गए और एक व्यक्ति ग्राम की कन्या को बलात् लिये जा रहा था! तुम सबको चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए!'' वे सन्न रह गए थे। मैं फटकारता जा रहा था, ''डूबने की भी आवश्यकता नहीं है। तुम सबके सब मरे हुए हो! तुम्हारी आत्मा मृत है, अन्यथा तुम्हारे जीवित रहते कोई ऐसा दुष्कर्म कर नहीं पाता।''

''वर्षों के बाद आज दिखाई पड़ रहे हो न, तभी इतनी ऊँची बोली बोल रहे हो। तुम्हें क्या मालूम है कि हस्तिनापुर किस सीमा तक अनाचार पर उतारू है! आएदिन ऐसी दुर्घटनाएँ हो रही हैं।''

''केवल इसलिए हो रही हैं कि तुम अनाचार सहने के आदी होते जा रहे हो। तुम्हारा पौरुष दुराचारी की फटकार पर शशक की भाँति बिल में दुबक जाता है।''

''तो क्या हम राजभवन का विरोध करें? राजद्रोह के भागी बनें?'' भीड़ से उभरी यह आवाज निश्चित रूप से सबसे तेज थी।

''राजद्रोह के लिए भड़काना मेरा काम नहीं; पर इतना याद रखो कि किसी भी शासन का अत्याचार एवं उसकी क्रूरता प्रजा की दुर्बलता से ही उत्पन्न होती है।'' मेरी यह आवाज इतनी भारी पड़ी कि भीड़ का कोलाहल इससे पिसकर मात्र फुसफुसाहट भर रह गया।

भीड़ पर अपनी आँखों से उपेक्षा छिड़कता मैं माला का हाथ पकड़े आगे बढ़ा।

एक विचित्र बात हुई। अचानक माला मुझसे लिपटकर रोने लगी, फूट-

फूटकर रोने लगी। भीड़ इस चमत्कारी परिवर्तन पर अवाक् रह गई। मैं भी कुछ सोच नहीं पाया। वह बिना कुछ कहे रोती चली जा रही थी। मैंने सोचा, पहले उसने शायद मुझे पहचाना न हो और अब पहचानकर रो रही है; किंतु अपने विचार पर मैं स्वयं हँसने लगा। भला ऐसा हो सकता है कि वह मुझे पहचान न सकी हो! फिर क्यों रो रही है? मैंने उससे अनेक बार और अनेक प्रकार से रोने का कारण पूछा; पर वह बिना कुछ कहे रोती रही।…वरन् जब-जब कारण पूछा जाता तब-तब उसका रुदन और तेज हो जाता।

अचानक आई विपत्ति और आश्चर्य की चरम सीमा पर मनुष्य अवाक् रह जाता है। उसके हरे जाने की स्थिति अचानक आई विपत्ति थी और उससे मुक्ति की अवस्था आश्चर्य की चरम सीमा। ऐसी स्थितियों में उसका जड़ हो जाना स्वाभाविक था।

स्तब्धता का बाँध टूटते ही उसकी आँखों में बाढ़ आ गई। वह कैसे बताए कि क्यों रो रही है? सिसकन से मात्र एक बात उभरी कि चाची नहीं रही। कौन चाची? किसकी चाची? वह कुछ बता न पाई।

रुदन का कंपित स्वर बस इतना बताने में समर्थ हुआ कि राधा चल बसी। अरे, यह क्या हो गया? जिसने मुझे पाला, अब वह ही इस धरती पर नहीं है। अब घर आकर सबसे पहले मैं किससे मिलूँगा? कौन मुझे अपनी छाती से लगाकर कहेगा—वत्स! आ गया। कहीं इसी परिस्थिति का सामना करने के लिए तो सुव्रतीजी मुझे तैयार नहीं कर रहे थे? बूढ़ा मंगल अवश्य यह जानता रहा होगा।

मेरी शिराएँ झनझना उठी थीं। चतुर्दिक् का संपूर्ण परिवेश शून्य होने लगा था। मैंने अपने को बहुत सँभाला। माला की सिसकियों में डूबते हुए पूछा, "आखिर वह कैसे चली गई?"

"नाग ने डस लिया!" आँसू की लहरों पर एक पीड़ा उतराई और मैं उसीसे लिपटकर रोने लगा।

दोनों हाथों से मुँह ढककर मैं रोता रहा। माला वहीं खड़ी रही। मेरी बरसाती आँखों के समक्ष से जग का यथार्थ बह गया था। केवल माँ की आकृति रह गई थी। कितनी करुणा थी उसके नेत्रों में! कितना ममत्व था उसके स्वर में! जब वह चलते हुए बोली थी, 'तू जा रहा है, वत्स! अब तेरे बिना कैसे रहूँगी?'

सचमुच वह रह न सकी, चली गई। निष्ठुर काल ने उसे मुझसे छीन लिया। कहाँ है वह क्रूर काल? मैं बिलखते हुए भी किटकिटाया, 'यदि मिलता तो मैं उसे पीसकर पी जाता।'

अचानक माँ की आकृति धुँधली पड़ने लगी। उसीके भीतर से एक भयानक नाग उभरता हुआ फनफनाया, 'एक बार पीस डालने के बाद भी अभी तक पुन: पीसकर पीना चाहते हो!' इसके बाद ही वह नाग आदित्य मंदिर के विशाल अजगर के रूप में परिवर्तित हो गया।

मैं अब फूटकर बिलख पड़ा, ''उस अजगर ने ही मेरा बदला तुझसे लिया, माँ! माँ, तुझे मेरे पापों ने ही खा डाला।''

मैं बिलखता रहा। अनंत मेरी करुणार्द्र सिसकियाँ पीता चला गया।

□

इस समय मैं आदित्य मंदिर के सामने की जगत पर बैठा गंगा का प्रवाह देख रहा हूँ। वह प्रवाह जिसमें कभी मैं बहकर आया था और कभी मेरी माँ बहा दी गई थी। यह धारा कितनों को छोड़ती और कितनों को बहाती रही है। इसका यह क्रम अनंत काल से चलता रहा है और चलता रहेगा। केवल हम नहीं रहेंगे, क्योंकि हम स्थिर रहने के लिए नहीं, बह जाने के लिए ही जनमे हैं। हमारी अस्मिता एक नश्वर घेरे में बंद है। ऐसे ही नश्वर घेरों का एक विराट् संगम है यह संसार, जहाँ आकाश के नक्षत्रों की भाँति एक उग रहा है और दूसरा टूट रहा है।

मेरी माँ टूट गई। भीतर से वह उस दिन टूटी थी जब मैं उसे छोड़कर गया था, बाहर से वह उस दिन टूटी जिस दिन इसी मंदिर की जगत पर पिसे गए अजगर के किसी वंशधर ने उसे काट खाया।

इस टूट के अतिरिक्त एक नक्षत्र मेरे जीवन में नया उगा भी है, वह है माला। यों तो बहुत पहले से उससे मेरी निकटता थी, पर यह माला वह माला नहीं रही। यह तो हरनेवाले से छुड़ाई गई माला थी। बाज के पंजे से निकाली गई सारिका, जिसे नियमत: मुझे अपने ही पिंजरे में पाला जाना चाहिए था।

फिर मैं अपने पिता की ओर देखता हूँ, अकाल वृद्ध अधिरथ की ओर, जिनका सहारा काल ने छीन लिया और वे समय से पूर्व ही वृद्ध लगने लगे थे। उनका एकमात्र आश्रय मैं ही रह गया था, जिसे वह स्वयं अपना नहीं समझ पा रहे थे। एक दिन इसी संदर्भ में वे किसीसे कह रहे थे कि जो मेरा था, जब काल ने उसी पर डाका डाला तो अपने दिए हुए को ले जाते उसे कितनी देर लगेगी।

इसी बीच बदलते हुए समय की गति से कहीं अधिक गति हस्तिनापुर की क्रियाशीलता की हो गई थी। माला को हरनेवाले सेनापति-पुत्र की पांडुकुमारों से निकटता थी। उसने मेरे प्रति उलटी-सीधी बातें गढ़ीं और भीम एवं अर्जुन को प्रभावित करना चाहा। गुप्तचरों ने सूचना दी कि वह कोई और नहीं, अधिरथ का

पुत्र है। पांडुकुमार कुछ ठंडे पड़े, पर दुर्योधन चुप नहीं बैठा। उसने कई बार मुझे बुलवाया; किंतु मेरा टूटा और उदास मन हस्तिनापुर जाने को नहीं हुआ। दुर्योधन को मेरे परशुराम के आश्रम तक पहुँचने की बात भी मालूम हो गई थी। लगता है, पिताजी ने ही बताई होगी।

जैसा आप जानते हैं कि पिताजी सूर्यास्त के बाद ही घर आते थे। एक दिन मैंने अनुभव किया कि उनके रथ की घरघराहट मध्याह्न में ही सुनाई पड़ रही है। उपशाला में आकर देखा, कदंब के नीचे रथ रुक चुका था। इस अप्रत्याशित आगमन पर आश्चर्य उस समय शांत हो गया जब पता चला कि दुर्योधन स्वयं आया है। मैं उसके स्वागत के लिए चल पड़ा।

''आपने बड़ी कृपा की।'' मैंने सौजन्यवश कहा।

''कृपा न करता तो क्यां करता? मैंने तुम्हें कई बार बुलवाया, पर तुम नहीं आ सके। सोचा, महान् लोगों के पास स्वयं चलना चाहिए।'' इस व्यंग्य के बाद वह लिपटकर हँसने लगा। बड़ी चतुराई से उसने अपनी मुद्रा बदली। बोला, ''यद्यपि मैं हँस रहा हूँ, पर मेरा मन रो रहा है; क्योंकि मैं ऐसे समय आया हूँ जब राधा नहीं रही।''

वातावरण एकदम भारी हो गया। मैंने स्पष्ट देखा, पिताजी की आँखों के नीले ताल में हिलोरें उठने लगीं।

उसने मेरी पीठ पर हाथ रखा, ''क्या सोच रहे हो? जो होना था, वह तो हो चुका। चलो मेरे साथ। यहाँ रहोगे तो उदास रहोगे।''

''और हस्तिनापुर में दास रहूँगा।'' उदास के जोड़ में 'दास' मैंने बहुत सोच-विचारकर नहीं कहा था। अनायास ही मुख से निकल गया था।

पर यह शब्द दुर्योधन के मर्म को छू गया। वह ललकार उठा, ''कौन है जो तुम्हें दास समझे?''

''मैंने तो परिहास में कहा था।'' मैं मुसकराया।

''किंतु तुम्हारा यह परिहास यथार्थ हो सकता है। पांडवों की अहम्मन्यता कुछ भी कर सकती है। पर विश्वास रखो, मेरे रहते ऐसा कुछ नहीं होगा।'' दुर्योधन के कथन की शक्ति उसके आत्मविश्वास से और अधिक बढ़ गई थी।

मैं अपना उत्तरीय और धनुष लेकर उसके साथ चल पड़ा।

इसके बाद मैं नित्य पिताजी के साथ हस्तिनापुर जाने लगा और सायंकाल उन्हींके साथ लौट भी आता था। राजभवन के तनावपूर्ण जीवन में प्रवेश करता गया और उसकी समस्याओं में भी लिप्त होता रहा।

आर्यावर्त के दो महान् आचार्य, द्रोण और कृप, इस समय हस्तिनापुर राज्य के चाकर थे। वे राजकुमारों को शस्त्र एवं शास्त्र की शिक्षा देते थे। शिक्षण जब साधना और तपस्या न होकर राजकीय सेवा हो जाता है तब शिक्षक को शिक्षार्थी के हित से अधिक रुचि का ध्यान रखना पड़ता है। यही प्रवृत्ति शिक्षा को खिलौना बना देती है।

कृप और द्रोण दोनों धृतराष्ट्र के मुखापेक्षी थे और पितामह से उपकृत। राज्य की अव्याख्येय अनुकंपा का आभास राजकुमारों को था। अब भला उनपर आचार्यों का नियंत्रण क्या होता! उलटे राजकुमारों का हठ ही इन आचार्यों को प्रभावित करता था; किंतु पांडवों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती।

धृतराष्ट्र का अत्यधिक मोह कौरवों को बिना लगाम का अश्व बना बैठा था। यद्यपि उन्हीं अश्वों में मैं भी था, पर वास्तविकता स्वीकार करने में मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं है। कौरवों से कहीं अधिक अनुशासित पांडव थे, क्योंकि उनके सिर पर किसीकी विशेष छाया नहीं थी। वे बड़ी भक्तिभावना से आचार्यों की आज्ञा का पालन करते थे।

सेवा के सेतु ही पांडव आचार्यों के अधिक निकट पहुँच गए थे। उनमें भी द्रोण की अर्जुन पर विशेष कृपा थी। वे चाहते थे कि अपने संपूर्ण ज्ञान से उसे विभूषित कर दें; किंतु यह दुर्योधन के रहते संभव हो पाना कठिन था।

मुझे ठीक याद नहीं है कि यह बात कब की है। एक दिन दुर्योधन द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा को एकांत में ले गया था। उसका पूरा नाम न लेकर लोग उसे मात्र 'अश्वत्थ' कहते थे। उस समय मैं भी था। उसने उससे कहा, "अश्वत्थ, क्या आचार्यजी ही तुम्हारे पिता हैं?"

"क्यों, इसमें भी कोई संदेह है?"

"संदेह नहीं है, तभी तो मैं पूछ रहा हूँ।" अश्वत्थ दुर्योधन का मुख देखता रहा। दुर्योधन पुनः बोला, "संदेह मात्र इसलिए है कि वह तुमसे भी अधिक अर्जुन को मानते हैं।"

बात इतनी दृढ़ता से कही गई थी कि अश्वत्थ गंभीर हो गया। उसने पूछा, "इसका प्रमाण?"

"बिना प्रमाण के दुर्योधन कुछ नहीं कहता।" इतना कहते हुए एक विद्रूप खिलखिलाहट उसके मुख से बिखर पड़ी थी।

अश्वत्थ को बताया गया कि कभी-कभी रात को भी आचार्यजी अर्जुन को अभ्यास कराते हैं।

"शब्दवेधी बाण का अभ्यास रहा होगा।" उसने कहा, "उसका अभ्यास तो वे मुझे भी कराते हैं।"

"क्या तुम दोनों एक साथ ही अभ्यास करते हो?" दुर्योधन ने पूछा।

"नहीं तो!"

"तब क्या यह संभव नहीं है कि अंधकार में उसे कुछ ऐसी विद्या सिखा रहे हों जो तुम्हें नहीं सिखाना चाहते?"

कुछ विचित्र सा लगा कि मात्र इतने से ही अश्वत्थ सोच में पड़ गया, "भगवान् जाने क्या माया है!"

"इस माया को भगवान् को ही नहीं, तुम्हें भी जानना चाहिए।"

इतना सुनकर अश्वत्थ मुँह लटकाए वहाँ से चल पड़ा। दुर्योधन ने मुझसे मुसकराते हुए धीरे से कहा, "बाण लक्ष्य पर लग गया है।" फिर हँसने लगा।

संदेह की जिजीविषा वट और पीपल से भी अधिक होती है। इन दोनों के बीज पत्थर पर भी उग जाते हैं। पर संदेह तो हवा में भी जमने का सामर्थ्य रखता है। वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। हवा में उड़ाई हुई बात पनपने लगी। पिता-पुत्र की दूरी बढ़ने लगी।

अश्वत्थ जितना द्रोण से अलग होता गया उतना ही कौरवों के निकट आता गया। इसका स्पष्ट भान मुझे उस दिन हुआ, जब दुर्योधन ने आचार्यजी के समक्ष प्रस्ताव रखा कि हम लोगों के साथ ही राधेय भी शस्त्र शिक्षा ग्रहण करेगा।

"पर यह कैसे हो सकता है? हमारा काम तो राजकुमारों को प्रशिक्षित करना है। क्या राधेय राजकुमार है?"

आचार्य द्रोण की बात पूरी हो, इसके पहले ही अश्वत्थ बोल पड़ा, "क्या मैं राजकुमार हूँ? आखिर आप मुझे शिक्षा देते हैं या नहीं!" इस टेक के उत्तर पर आचार्य ठगे से रह गए। वह कहता गया, "जैसे मैं राजकीय चाकर का पुत्र हूँ वैसे वह भी राजकीय चाकर का पुत्र है।"

निश्चित था कि आचार्य की मनःस्थिति असामान्य हो गई थी। वह कुछ बोल नहीं पाए।

किंतु अर्जुन ने अपने श्रद्धेय को सँभाला, "तुम आचार्य के पुत्र हो, पिता की हर वस्तु की भाँति उनकी विद्या पर भी तुम्हारा अधिकार है; पर राधेय को वह अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।" अर्जुन के तर्क में जहाँ शक्ति थी वहीं उसके स्वर में शालीनता भी थी।

किंतु भीम अपने हाथ के बाण को चाबुक की तरह हिलाते हुए बड़े ही

उपहासपूर्ण ढंग से चिल्लाया, "तू भी अपने पिता की विद्या क्यों नहीं ग्रहण करता?" टिक" टिक" टिक।"

मेरा रक्त उबल पड़ा—अपने अपमान पर नहीं वरन् भीम की कृतघ्नता पर। इसी नीच के प्राणों की रक्षा मैंने की थी और यही मेरा उपहास करता है। मेरा वश चलता तो मैं उसपर टूट पड़ता; किंतु दुर्योधन ने ऐसी स्थिति आने नहीं दी।

उसने भीम को डाँटा, "बात आचार्यजी से हो रही है, तुम्हें बीच में कूदने की क्या आवश्यकता है?"

भीम चुप हो गया।

आचार्य ने बड़े शांतभाव से कहा, "मैं राजकुमारों की शिक्षा के ही लिए नियुक्त किया गया हूँ। यदि राजकुमार ही किसी और को अपने साथ रखना चाहते हैं तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।"

दुर्योधन का हलकापन अपनी असफलता पर करतल ध्वनि कर हँस पड़ा। पांडव इसका प्रतिकार करना चाहते थे; पर आचार्यजी ने संकेत कर उन्हें शांत कर दिया। प्रशिक्षार्थियों में मैं भी सम्मिलित कर लिया गया।

कौरव-पांडवों के बीच मुझे एक विभाजन रेखा दिखाई पड़ रही थी और मैं स्वयं को पांडवों से बहुत दूर कौरवों के बीच खड़ा पा रहा था।

कालचक्र घूमता गया। दिन पर दिन बीतते चले गए।

हम सब आचार्य द्रोण के शिक्षार्थी थे। प्रत्यक्ष रूप से वह सभी शिष्यों को समान समझते थे, पर परोक्ष रूप से बात ऐसी नहीं थी। यदि यह कहूँ कि उच्छिष्ट शिक्षा यहाँ भी मेरे भाग्य में थी, तो कदाचित् भूल नहीं करूँगा। फिर भी मैं प्रसन्न था। आचार्यजी जो कुछ बता रहे थे, उससे कहीं अधिक मैं आचार्य परशुराम के आश्रम में सीख चुका था।

वय में मैं सबसे अधिक था और अपने विश्वास से बलिष्ठ भी; फिर भी शिक्षार्थी के रूप में उपेक्षित ही था। इसीसे मेरे शिष्यत्व से मेरी ईर्ष्या अधिक जागरूक थी। वह स्पष्ट अनुभव कर रही थी कि सेवाभाव ही नहीं वरन् समर्पण की भावना भी अर्जुन में अद्भुत है। दो-एक बार ऐसी उससे बातें भी हुईं। उसने स्पष्ट कहा, "राधेय, तुम तो यहाँ की स्थिति से अच्छी तरह परिचित हो। शस्त्र-साधना के अतिरिक्त अब मेरे पास रह क्या गया है?" उसकी वाणी में न निराशा थी और न हताशा, वरन् एक विचित्र प्रकार का तनाव था, जिसे छोड़कर राजभवन की शांति अपनी अंतिम साँस ले रही थी।

उससे मैं और बातें करता कि एक चर आ पहुँचा और बोला, "भीतर माताजी

बुला रही हैं।''

'माताजी' कहने से मैं कुछ स्पष्ट समझ नहीं पाया; किंतु जब भीतर गया, सामने कुंती को खड़ा पाया। निरभ्र आकाश की भाँति निष्कलुष व्यक्तित्व श्वेत वस्त्रों से आच्छादित ऐसा लग रहा था मानो गंगा को हिमवेष्टित कर दिया गया हो।

''अच्छे हो।'' बस इतना ही वह बोल पाई। ममत्व से वह मेरा सिर सहलाती रही। मेरे कुंडल छुए और अंत में वक्ष पर भी उसने हाथ फेरा। फिर पता नहीं क्यों प्रसन्नता से खिल उठी। ''कभी-कभी इधर भी चले आया करो।'' उसने कहा।

मैं कुछ नहीं बोला, वरन् एक विचित्र ऊब का अनुभव करता रहा। यदि दुर्योधन देख लेगा तो क्या सोचेगा—मैं उसके पाले से बाहर चला आया हूँ।

उत्तरीय से ढके रहने पर भी कुंती ने मेरे वक्ष का स्पर्श किया था, इसलिए मेरा हाथ वहाँ जाना स्वाभाविक था। मैंने पहली बार अनुभव किया कि मेरा वक्ष औरों से भिन्न है। कुछ उभड़ा-उभड़ा कवच जैसा मालूम हुआ। अब मैं वस्त्र हटाकर उसे देखने लगा।

कुंती मुसकराई, ''इसे मत देखो और न किसीको दिखाना।''

''क्यों?'' मेरे कुतूहल ने अँगड़ाई ली।

''तुम्हारे कवच को जितने कम लोग देखें उतना ही उत्तम है। यों तो तुम्हारा कुंडल सभी लोग देखते होंगे।''

''तब आपने कवच को कैसे देखा?''

अब वह एकदम सकपका गई। ''यों ही कभी दृष्टि पड़ गई होगी। यह सबको नहीं होता। यह तुम्हारे लिए विशेष दैवी वरदान है। देवता तुमपर सदय हैं।''

''देवता मुझपर सदय हैं! यह क्या कह रही हैं आप? कभी सूतपुत्र पर भी देवता कृपा करता है! उसकी कृपा तो राजभवनों पर होती है।'' मेरे और उसके बीच आकर मेरी कुंठा खड़ी हो गई।

कुंती विचित्र सी लगी। वह भीतर से जैसे कुछ कहना चाह रही हो, आवाज उठ भी रही हो, पर अधर बड़ी निर्दयता से उसे दबा देते हों। व्यक्तित्व की यह विवशता मात्र उसकी मुसकराहट में बदलती जा रही थी।

''क्या सूत मनुष्य नहीं होता?'' मुसकराहट पर से एक आवाज तैर गई।

''आपका पुत्र तो ऐसा ही मानता है।''

''कौन पुत्र?''

''वह भीम।'' मैंने कहा।

"भीम!" वह जोर से हँस पड़ी। बोली, "वह भोजन से बढ़कर मनुष्य को भी नहीं मानता।" और हँसती गई, मानो खिलखिलाहट से ही मेरे मन का परिताप धो डालना चाहती हो।

तभी एक अनुचर ने आकर कहा, "राजकुमार आपको बुला रहे हैं।"

जिसकी आशंका थी वही हुआ। दुर्योधन को कहीं से पता चल गया कि मैं यहीं हूँ।

अब मैं उसके पास पहुँचा। वह झुँझलाया, "तुम उन नीचों के यहाँ क्या करने चले जाते हो जी?"

"यों ही, राजमाता ने देखा तो बुला लिया था।"

"कौन राजमाता? वह तो देख ही नहीं सकतीं। उनकी आँखों पर तो पट्टी बँधी है।" निश्चित ही उसका तात्पर्य गांधारी से था।

मैंने स्पष्ट किया कि राजमाता कुंती ने बुलाया था।

"अच्छा, तो उस चुड़ैल ने बुलाया था! अवश्य ही कुछ डोरा डालना चाहती होगी।" उसने कहा।

कुंती के लिए दुर्योधन का यह संबोधन मुझे अच्छा नहीं लगा; फिर भी मैं कुछ नहीं बोला, क्योंकि मैं दुर्योधन की प्रकृति अच्छी तरह समझ गया था। वह भभकता था तो आग की तरह और यदि कोई उसे न छेड़े तो स्वत: राख के नीचे दबकर बुझने लगता था।

थोड़ी देर बाद ही उसने कहा, "आज पिताजी ने किसी मंत्रणा के लिए सबको बुलाया है।"

"राजकुमारों की मंत्रणा में मेरा क्या काम?" मैंने कहा।

"व्यर्थ की बकवाद मत करो। मैं जो भी कहता हूँ, सुनो। तुम्हें मेरे साथ रहना पड़ेगा।" उसकी झुँझलाहट में एक आत्मीयता थी, जो मुझे उसके निकट और खींच ले गई।

मंत्रणाकक्ष में बहुत से लोग थे। मंच पर, ऊँचे सिंहासन पर धृतराष्ट्र थे। उसी के कुछ नीचे विदुरजी अपने आसन पर बैठे थे। दूसरी पंक्ति में अन्य अमात्य थे। उन्हींके पार्श्व में कृपाचार्य और द्रोण भी। उनके समक्ष का निचला सभाकक्ष पांडवों से भरा था। वाम पार्श्व की प्रथम पंक्ति में युधिष्ठिर अपने चारों भाइयों के साथ बैठे थे।

मुझे अपने बगल में दुर्योधन ने बैठाया। मैं इस कक्ष में पहली बार आया था। मेरा मानस यहाँ का वैभव देखकर स्तब्ध रह गया था। प्राचीर से लटकते मणिजटित

ज्योति पात्रों पर पड़ते ही वातायनों एवं गवाक्षों से दुबककर चली आती तृतीय पहर की धूप सतरंगी हो जाती थी। पूरे कक्ष में एक इंद्रधनुष सा खिंच जाता था।

मेरी आँखें चौंधियाई सी चारों ओर देख रही थीं। मैंने अनुभव किया कि विदुरजी मुझे बराबर निहार रहे हैं। दोनों आचार्यों की दृष्टि भी मेरी ओर है। दुर्योधन ने भीम की ओर मेरी आँखें घुमाईं। वह तो जैसे मुझपर दृष्टि गड़ाए ही बैठा था। एक क्षण बाद ही वह उठकर कुछ कहने को हुआ, किंतु युधिष्ठिर ने उसका हाथ पकड़कर बैठा लिया। फिर भी वह अर्जुन के कान में कुछ बुदबुदाया।

इधर दुर्योधन ने मुझसे धीरे से कहा, ''देखो, तुम्हारे बैठने से वह कुड़बुड़ा रहा है।''

''तो क्या मैं स्वयं यहाँ से हट चलूँ?'' कदाचित् मेरी हीन वृत्ति ही बोल उठी। यदि दुर्योधन ने मेरा हाथ न पकड़ लिया होता तो निश्चित था कि मैं वहाँ से उठ पड़ता।

निरंतर उपेक्षित एवं तिरस्कृत मेरा मन उस राजसी वैभव के दबाव से और बैठा जा रहा था। यदि मैं कहूँ कि उस रंगीन वातावरण में एक बदरंग धब्बे सा मैं वहाँ सबकी आँखों में गड़ रहा था तो शायद भूल न होगी।

उस फुसफुसाहट भरे मंत्रणाकक्ष में एक भारी आवाज आ धमकी, ''महामात्य, सभी लोग उपस्थित हो गए हैं?'' धृतराष्ट्र की इस ध्वनि के साथ ही कुतूहल भरी चुप्पी ने जन्म लिया।

''जी हाँ, महाराज!'' विदुरजी ने कहा।

''अन्य अमात्य एवं आचार्यगण भी हैं?''

''हाँ, महाराज।''

''और सभी राजकुमार?''

''वे भी हैं, महाराज।''

''कोई और भी है?''

धृतराष्ट्र के इतना पूछते ही विदुरजी की दृष्टि फिर मेरी ओर मुड़ी। मेरा हृदय 'धक' से करके रह गया। ''और कोई तो है नहीं, महाराज, केवल अधिरथ का पुत्र आ गया है।'' विदुरजी ने बड़े सामान्य भाव से कहा।

''अधिरथ का पुत्र! उसकी यहाँ क्या आवश्यकता?'' धृतराष्ट्र की ध्वनि पहले से थोड़ी गंभीर हुई। अब कई आँखों ने मुझे एक साथ देखा।

दुर्योधन तुरंत उठ खड़ा हुआ और बोला, ''राधेय मेरा मित्र है। मैं उसे साथ लाया हूँ।''

"किंतु मैंने राजकुमारों को बुलाया था, उनके मित्रों को नहीं।"

"आपने बुलाया अवश्य नहीं था, पर मैं ले आया हूँ।" उसकी ध्वनि में हठ की कड़वाहट थी, "यदि आपको मेरे मित्र का यहाँ रहना रुचिकर न हो तो मैं उसे लेकर जा सकता हूँ।"

"मैंने तुम्हें जाने को कहाँ कहा, वत्स!" अब धृतराष्ट्र ढीले पड़े, "तुम भी बैठो और अपने मित्र को भी बैठाए रखो। इससे मेरा क्या बनता-बिगड़ता है!"

मैंने अनुभव किया कि मेरे सिर पर से एक चक्रवात निकल गया।

"मैंने किसी विशेष कार्य से आप सबको नहीं बुलाया है।" धृतराष्ट्र ने बोलना आरंभ किया, "आचार्यों ने सूचित किया है कि राजकुमारों का प्रशिक्षण लगभग पूरा हो चुका है। मैं सोचता हूँ कि इसके लिए शस्त्र-परीक्षा की व्यवस्था की जाए।"

"तब यह कौन सी असाधारण बात थी, जिसके लिए आपने इतनी गंभीरता बरती?" दुर्योधन ने बड़े तपाक से पूछा। शेष सभी सन्न रह गए। अब अन्यों के अतिरिक्त कौरव भी मुझे बड़े ध्यान से देखने लगे। मुझे अपनी मन:स्थिति का कुछ भी आभास न रहा। बाद में कुछ लोगों ने बताया कि उस समय तुम्हारे कुंडलों के निकट की कर्णभूमि नितांत आरक्त हो उठी थी।

धृतराष्ट्र की उन्मुक्त हँसी मंत्रणाकक्ष पर बरस पड़ी। वे बोले, "कोई भी बात न साधारण होती है और न असाधारण। परिस्थितियाँ ही उसे साधारण तथा असाधारण बनाती हैं।" इतना कहने के बाद उनकी मुद्रा अचानक बदली, जैसे इस संदर्भ को उठाकर उन्होंने किसी कोने में फेंक दिया हो।

फिर बड़े सामान्य भाव से उन्होंने आचार्यों से पूछा, "इस विषय में आप लोगों की क्या राय है?"

"मैं आपसे सहमत हूँ, श्रीमान!" द्रोण बाले।

"और मैं भी।" यह आवाज कृपाचार्य की थी।

अब मात्र समय और स्थान का निश्चय करना रह गया था। विदुरजी ने पूछा, "क्या वह व्यवस्था नगर में ही होगी?"

"नगर में कदाचित् भव्य व्यवस्था न हो सके।" धृतराष्ट्र ने कहा, "इसके लिए आपको नगर के बाहर ही स्थल की खोज करनी पड़ेगी। मैं समझता हूँ कि हस्तिनापुर के दक्षिण अंचल की ओर कहीं विस्तृत समतल भूमि खोज निकालिए। यदि ऐसा स्थल सरलता से न मिले तो अरण्य काटकर बना लीजिए। इसका ध्यान रखिएगा कि भूमि छोटी न हो। युद्ध-विद्या के प्रदर्शन के लिए राजकुमारों को

अधिकाधिक धरती मिले। साथ ही मैं, आप, पितामह (भीष्म), आचार्यगण आदि सभी उपस्थित रहेंगे। इनके बैठने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। गांधारी, कुंती तथा अन्य स्त्रियाँ भी यह स्पर्धा देखना चाहेंगी। उनके बैठने के लिए भी ऊँचे मंच बनवा दीजिएगा। सामंतों तथा श्रेष्ठियों के लिए अलग प्रबंध होना चाहिए। अन्य पुरवासियों के लिए भी छोटे-छोटे शिविर अवश्य होने चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि कोई और भी अपना शिविर लगाना चाहे तो उसके लिए भी भूमि की व्यवस्था रहनी चाहिए।

"तब तो एक छोटा-मोटा नगर ही बस जाएगा।" विदुरजी हँसते हुए बोले।

"बस जाने दीजिए। मेरे राजकुमारों की परीक्षा के दिन तो बार-बार आएँगे नहीं। अरे, एक बार जो व्यय होगा, होगा। जो आवश्यकता हो, राज्य कोषागार से ले लीजिएगा।"

"आप निश्‍चिंत रहें। आज्ञानुसार सारी व्यवस्था हो जाएगी।" विदुरजी ने कहा और फिर सारी सभा को संबोधित करते हुए बोले, "महामहिम की अनुमति से मैं घोषित कर रहा हूँ कि आपमें से जो भी लोग इस विषय में सुझाव देना चाहें, वे दो दिनों के भीतर मुझे दे दें।"

"मेरा सुझाव है कि हस्तिनापुर के राजकुमारों को ही नहीं, अन्य राजकुमारों को भी इस प्रतियोगिता में आमंत्रित किया जाए।" अर्जुन का विशेष उत्साह उफन पड़ा। शायद उसका अहं विशाल स्तर पर अपनी महत्ता स्थापित करना चाहता था।

धृतराष्ट्र ने बड़ी गंभीरता से उत्तर दिया, "यह आर्यावर्त के राजकुमारों की नहीं, मात्र हस्तिनापुर के राजकुमारों की प्रतियोगिता होगी।"

सभाकक्ष एक बार फिर मूक हो गया।

विदुरजी पुनः उठ खड़े हुए और धृतराष्ट्र की ओर झुकते हुए बोले, "यदि अनुमति हो तो यह मंत्रणा सभा विसर्जित की जाए। आपको मात्र इतना ही निश्‍चित करना रह गया है कि इस नवनिर्मित उपनगर का मुहूर्त किससे कराया जाए!"

"मुहूर्त!...अरे, पितामह के रहते मुहूर्त कौन करेगा!" धृतराष्ट्र बोले।

सभा समाप्त हुई।

□

इस उपनगर के निर्माण में महीनों लग गए, क्योंकि जंगल काटकर समतल भूमि निकाली जा रही थी। यों तो विदुरजी की ही देखरेख में सब होना था, किंतु उन्होंने निर्माण का सारा कार्य अपने सहयोगियों को आचार्यों के निर्देश में दे रखा था। स्वयं निमंत्रण वितरण की व्यवस्था देख रहे थे। हस्तिनापुर के इतिहास में इतने

विराट् स्तर पर कदाचित् ही कभी शस्त्र प्रतियोगिता हुई हो। इसीसे प्रजा मुदित थी। श्रेष्ठी प्रसन्न थे। उनका विचार था कि वे इस अवसर पर एक विशाल हाट लगाएँगे। सहस्रों का विनिमय होगा।

राजकुमारों का भी विशेष अभ्यास आरंभ हो गया था। आचार्य बड़ी लगन से लगे थे; पर मैं अब भी उपेक्षित था। कभी कुछ पूछता भी तो वह इधर-उधर की बातें करके टाल जाते थे। एक अवसर पर मुझे तो कुछ क्रोध आ गया। मैं द्रोण से बड़ी रुक्षता से बोला, "लगता है कि यदि आप नहीं बताएँगे तो मुझे कुछ आएगा ही नहीं।" इतना कहकर मुझे ठीक याद है, मैं बहुत जोर से हँसा था। आचार्यजी वह मेरा व्यंग्यात्मक अट्टहास देखते रह गए थे। पांडव अवाक् थे। कौरव मौन। मैंने पुनः कहा था, "आपका प्रिय शिष्य अर्जुन ही है न?"

"मेरे सभी प्रिय शिष्य हैं।" द्रोण ने कहा।

"एक आचार्य को झूठ नहीं बोलना चाहिए।" मेरी ध्वनि की ऊष्मा बढ़ गई थी, "यदि सत्य है तो आपको स्वीकार करना चाहिए कि मेरा प्रिय शिष्य अर्जुन है।"

"मैं देखता हूँ कि तुम दुर्विनीत होते जा रहे हो। शिष्य को आचार्य के समक्ष विनय का त्याग नहीं करना चाहिए।" आचार्य ने लगभग तटस्थ भाव से कहा।

"केवल विनीत होने के लिए ही मैं शिष्य हूँ या किसी और कार्य के लिए भी!" मैं छूटते ही बोला, "आपका हृदय क्या मुझे कभी शिष्य स्वीकार करता है? आपका मानस कभी मेरे लिए वैसा तरंगायित हुआ है जैसा अर्जुन के लिए होता है?"

"यह तुम्हारा भ्रम है, राधेय! मेरे लिए सभी शिष्य बराबर हैं। यह बात दूसरी है कि अर्जुन औरों से अधिक मेरे प्रति समर्पित है।"

"क्या वह एकलव्य से भी अधिक समर्पित है?" एकलव्य का नाम सुनते ही जैसे उनकी आकृति का रंग बदलने लगा। "इससे बड़ा समर्पण और क्या हो सकता है कि उसने अँगूठा तक काटकर आपको दे दिया।"

"जिसने अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दिया, मेरे लिए वह आत्मीय होगा या जिसने अँगूठा दिया वह?" आचार्यजी की आकृति पर एक बनावटी हँसी उभरी।

"उसने अँगूठा दिया नहीं वरन् आपने ले लिया—उसके समर्पण को ठुकराते हुए। उसके शिष्यत्व का आपने अपमान किया।"

"यदि अपमान किया होता तो गुरुदक्षिणा स्वीकार नहीं करता।"

"कैसी गुरुदक्षिणा? किसके लिए गुरुदक्षिणा?" मेरी वाणी आरोहित होती गई, "जिसे आपने अपना शिष्य ही नहीं बनाया, उससे आपको गुरुदक्षिणा लेने का क्या अधिकार था? यह मात्र एक प्रवंचना थी, धोखा था। उस भीलपुत्र का शस्त्र-सामर्थ्य छीनने की एक छलना थी।"

"इससे तुम्हें क्या मतलब?" पहली बार अर्जुन मेरे और आचार्य के बीच में आया।

तब भला दुर्योधन चुप रहनेवाला कहाँ था? उसने कहा, "दो की बातों के बीच पड़नेवाले तुम कौन हो?"

भीम कुछ बोले, इसके पहले ही युधिष्ठिर ने हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर खींचा। मैंने अर्जुन को उत्तर देते हुए कहा, "क्यों नहीं, इससे हमारा मतलब है और रहेगा। आप क्या समझते हैं? यह मात्र मेरे और आचार्य के बीच का वार्त्तालाप ही नहीं है, वरन् एक शिष्य की शंका है, जिसका समाधान आचार्य को करना ही पड़ेगा। भले ही वह आज न करें, सहस्रों वर्षों बाद करें।" मैं पूरे आवेश में था, "जानते हैं, आचार्य, आपके इस कुकर्म का परिणाम क्या होगा?"

मेरी बात पूरी हो कि मेरे 'कुकर्म' शब्द के प्रयोग पर एक हंगामा सा खड़ा हो गया। भीम गदा घुमाता हुआ आगे आया। उसे मेरी वाचिक उच्छृंखलता किसी प्रकार भी सह्य नहीं थी। युधिष्ठिर और अर्जुन की भी त्योरियाँ चढ़ी हुई थीं। पर दुर्योधन मेरे साथ था। उसके अन्य भाई भी हर परिस्थिति का सामना करने को तैयार थे।

किंतु मेरे विवेक ने स्वयं स्थिति सँभाल ली, "यदि आपको मेरे 'कुकर्म' शब्द पर आपत्ति है तो मैं स्वयं उसे वापस लेता हूँ। फिर भी, मैं पूरी दृढ़ता से कहता हूँ कि हर भावी शिष्य अपने गुरु से एकलव्य का अँगूठा वापस माँगेगा और आपके स्वखलित होने का परिणाम हर आचार्य को भोगना पड़ेगा।"

"जब भोगना पड़ेगा तो भोगा जाएगा। इस समय इस विवाद से क्या लाभ?" इस बीच कृपाचार्य आ गए और विवाद उनके अनुशासन के नीचे निर्दयतापूर्वक दबा दिया गया।

फिर भी मेरी दृष्टि के सामने वह काला युवक लौहवर्णी एकलव्य मध्यमा और तर्जनी के सहारे बाण-विद्या का अभ्यास करता हुआ मुसकराता खड़ा था। बड़ी कृतज्ञता से वह कह रहा था—एक तुम्हीं हो जिसने मेरे विरुद्ध हुए अन्याय के लिए आवाज उठाई। मैं कल्पनालोक में ही उसे सांत्वना देता रहा, 'साधना ऊँच और नीच नहीं देखती, युवक! तपस्या कभी जाति, वर्ण और रक्त को महत्त्व नहीं

देती, एकलव्य। ये सब समाज के गलित कुष्ठ हैं, जो स्वयं गलकर गिर जाएँगे। तुम अपनी साधना में लगे रहो। आज नहीं तो कल, यह नहीं तो भावी पीढ़ी, तुम्हें अवश्य सम्मान देगी और इन आचार्यों पर थूकेगी, निश्चित थूकेगी।' मन-ही-मन बुदबुदाती मेरी भावकुता अब बड़बड़ाने लगी थी।

आचार्यों और उनके अन्य शिष्यों से अलग-थलग खड़े मुझे बड़बड़ाता देखकर दुर्योधन मेरे निकट आया तथा मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए जोर से हँसा और बोला, "कौन थूकेगा? किस पर थूकेगा?"

मैं एकदम सकपका गया। मैंने अनुभव किया कि मैं आवश्यकता से अधिक भावुक होता जा रहा हूँ। अपमानित और दलित मन या तो कुंठित हो जाता है या भावुक। और मेरा मन दोनों ओर विभाजित हो गया था। उस विभाजन रेखा पर खड़ा था मात्र एक व्यक्ति, केवल दुर्योधन। क्या उसके बाहुओं में इतना बल है कि दोनों ओर पकड़कर इस विभाजन को रोक सके?

मैं उसी आवेश में बोल पड़ा, "थूकेगा, सारा समाज थूकेगा, इन आचार्यों पर थूकेगा कि इनकी द्वेष और ईर्ष्या ने उनके भी अँगूठे कटवा लिये हैं, जिन्हें ये शिष्य बनाना नहीं चाहते थे।"

मेरी ध्वनि आवश्यकता से अधिक तेज थी। निश्चित ही वह द्रोणाचार्य के श्रवणों से टकराई। वे एकदम मेरी ओर घूम पड़े और बोले, "मैंने उसे भले ही शिष्य न माना हो, पर उसने तो मुझे गुरु मान ही लिया था।"

"कैसे मान लिया था?" मैंने पूछा।

"क्यों? उसने मेरी प्रतिमा बनाकर अभ्यास नहीं आरंभ किया था!"

"तो आप भी उसकी प्रतिमा बनाकर उसका अँगूठा कटवा लेते।" आचार्य का दमित अमर्ष मेरे तर्क के समक्ष फीका पड़ गया। वह कुछ बुझने से लगे। मैं बोलता गया, "कितना विचित्र आदर्श है शिष्य का, कि उसने गुरु के तिरस्कृत होने पर भी उसकी मूर्ति को अपनी सारी आस्था समर्पित कर दी और कितना महान् आदर्श है गुरु का, कि उसने ऐसे आस्थावान् शिष्य का अँगूठा ही कटवा लिया! हा-हा-हा!" मैं अट्टहास कर उठा।

मेरी व्यंग्य भरी हँसी विषाक्त बाण की भाँति उन्हें चुभती चली गई। इससे आचार्य का अहं मरा या नहीं यह तो नहीं मालूम, किंतु मेरे प्रति उनके मन में रहा-सहा महत्त्व अवश्य मर गया।

पर इसकी मुझे जरा भी चिंता नहीं थी। एकलव्य की उस घटना के बाद आचार्य के प्रति मुझे घृणा सी हो गई थी। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका था कि इस

व्यक्ति से कुछ भी मिलनेवाला नहीं है। अतएव मैं उनपर झुँझलाया ही रहता।

परीक्षा-स्थल की व्यवस्था पूरी हो चली थी। जंगल काटकर एक उपनगर ही बसा दिया गया था। श्रेष्ठियों की दुकानें भी दो दिन पूर्व से ही सज रही थीं।

□

प्रतियोगिता-स्थल अत्यधिक प्रशस्त और विशाल था। उसके चारों ओर दर्शकों के बैठने के लिए भी पर्याप्त स्थान की व्यवस्था की गई थी। प्रतिष्ठा एवं सम्मान के अनुसार लोगों के मंच विभिन्न ऊँचाइयों पर निर्मित किए गए थे। पूर्व की ओर धृतराष्ट्र एवं भीष्म के बैठने की व्यवस्था थी तो पश्चिम की ओर कुंती तथा गांधारी जैसी सम्मानित नारियों की। हस्तिनापुर के पुरवासियों, सामंतों तथा श्रेष्ठियों के भी अलग-अलग शिविर थे। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न राज्यों के अतिथियों के भी बैठने की समुचित व्यवस्था थी।

मैं भी बहुधा उस ओर निकल जाता था; किंतु अकेले नहीं, अपने कौरव मित्रों के साथ।

संध्या हो चुकी थी। तरु-शिखरों पर से ज्योति विहग उड़ गया था। दिन डूबने को था। विदुरजी के साथ आचार्यजी आते दिखाई दिए। लोगों के साथ मैंने भी अभिवादन किया; पर किसीने भी मेरे अभिवादन का उचित उत्तर नहीं दिया। वे राजकुमारों से बातें करते रहे। मुझे स्पष्ट अनुभव हो रहा था कि मेरी उपेक्षा की जा रही है। मैं स्वत: उस समूह से धीरे-धीरे पीछे सरकता गया।

अर्जुन ने कहा, ''पितामह आदि के निकट सेवकों के बैठने के लिए स्थान नहीं है।''

''इसकी क्या आवश्यकता?'' द्रोणाचार्य ने कहा, ''राज्यसभा में क्या पितामह के स्थान के निकट सेवक बैठते हैं?''

''किंतु राज्यसभा की दूसरी मर्यादा है।''

''उसी मर्यादा का यहाँ भी पालन किया जाएगा।'' ये शब्द विदुर के थे, ''क्योंकि हो सकता है कि आर्यावर्त के बाहर से संभ्रांत लोग भी पधारें।''

एक सामान्य शांति के बीच द्रोणाचार्य की तीखी ध्वनि मुझे झकझोर गई, ''तुम्हीं समझो, यदि तुम्हारे जैसे राजकुमारों के बीच कोई सेवक या सेवक का पुत्र बैठे तो तुम्हें कैसा लगेगा?'' इतना कहकर उन्होंने एक कुटिल दृष्टि मुझपर डाली।

मैं जल-भुनकर राख हो गया था, भीतर-ही-भीतर कसमसाया; पर कुछ बोल नहीं पाया।

कुचले गए नाग की तरह मेरा अहं फनफनाता हुआ वहाँ से चल पड़ा। संध्या के मुख पर कालिख पुत गई थी। मैं लपका चला जा रहा था। मेरे वहाँ से हटने की अनुभूति संभवतः किसीको नहीं हुई थी। हो सकता है, द्रोण ने मुझे देखा हो।

अकेला था, एकदम अकेला। अब मैं था, मेरा चोट खाया मन था। चारों ओर अंधकार का काँपता सागर था। मैं डूबता-उतराता चला जा रहा था।

"राधेय, अरे ओ राधेय!" एक चिरपरिचित आवाज मेरे कर्ण-कुहरों से टकराई।

पर मैं रुकनेवाला नहीं था। आवाज तेज होती मेरी ओर बढ़ी आ रही थी। वह मुझे पकड़ ले, इसके पहले ही मेरी गति मंद हो गई। यह मामा शकुनि था। निकट आते ही वह मुसकराते हुए बोला, "लगता है, अप्रसन्न होकर जा रहे हो।"

जी में आया कि कह दूँ कि उन राजकुमारों के बीच मेरा स्थान ही क्या? पर मैं चुप था। निस्संदेह उस अँधेरे में भी मेरी आँखों की ज्वाला का उसे भान हुआ होगा। वह ठहाका मारकर हँस पड़ा। उसने अपने दाहिने हाथ की मुट्ठी जोर से हिलाई और फिर पासा फेंकने की मुद्रा में उसे हिलाते हुए ही खोल दिया। उस समय मैं उसका संकेत कुछ भी समझ नहीं पाया।

मैं आवेश में आगे बढ़ा चला जा रहा था, किंतु वह वैसे ही खड़ा हँसता रहा। मैं बढ़ते हुए भी मुड़-मुड़कर उसे तब तक देख रहा था जब तक अँधेरा उसे निगल नहीं गया।

□

कल प्रतियोगिता होने वाली है। अभी तक किसीने मौखिक रूप से भी मुझे वहाँ आने को नहीं कहा। यद्यपि मैं प्रतिदिन हस्तिनापुर आता हूँ। आचार्यों से भी साक्षात्कार हो जाता है; पर इस विषय पर कोई चर्चा नहीं करता। सब अपने-अपने में मग्न हैं। राजकुमार अभ्यास में लगे हैं। मैं राजपथ के किनारे पड़े पाषाण की भाँति सबकुछ देखता हुआ भी चुप हूँ। सामने से हर दृश्य अपनी छाप छोड़कर निकल जाता है।

मैं चुप था। दुर्योधन ने समीप आकर मेरे निष्क्रिय मौन का कारण पूछा।

एक उदास मुसकराहट अधरों पर चिपकाकर मैंने कहा, "निष्क्रय जीवन जीने के अतिरिक्त मेरे पास और कार्य ही क्या है?"

"क्या? तुम अभ्यास नहीं कर रहे हो?"

"क्या होगा अभ्यास करके?"

"कल प्रतियोगिता में भाग नहीं लोगे?"

"प्रतियोगिता चाकर पुत्रों के लिए तो है नहीं। वह तो राजकुमारों के लिए है।" वितृष्णा से बोझिल आवाज उसे भी भारी पड़ी।

"तो क्या तुम्हें बुलाया नहीं गया?"

उत्तर में मेरे पास एक विपन्न मुसकराहट के अतिरिक्त और क्या था!

वह एकदम लाल हो गया, "यह उस नीच की ही दुष्टता है!" उसका स्पष्ट संकेत विदुर की ओर था। वह बोलता गया, "स्वयं दासी-पुत्र होकर भी पिताजी का अमात्य बन सकता है और सारथि-पुत्र राजकुमारों की प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकता! यह नहीं हो सकता, राधेय! मेरे रहते यह नहीं हो सकता!" वह उत्तेजित हो उठा।

मैंने अनुभव किया कि यह उत्तेजना का अवसर नहीं है। मैंने उसे समझाया, "इस समय उत्तेजित होने से कोई लाभ नहीं है, वरन् हानि ही हो सकती है। लोग समझेंगे कि कौरव प्रतियोगिता से भाग रहे हैं, इसलिए उत्तेजना फैलाकर उसे स्थगित करना चाहते हैं।"

दुर्योधन का उबाल शांत हुआ। चिंतातुर हो बोला, "तब तुम नहीं आओगे?"

"क्या करूँगा आकर?"

"इसका तात्पर्य है कि अर्जुन के मस्तक पर विजय-मुकुट रखने में आचार्य सफल हो जाएँगे।"

मैंने देखा, दुर्योधन के मन में जहाँ अर्जुन के अभ्यास का आतंक है, वहीं मेरे प्रति अटूट भरोसा भी। मुझे पहली बार अनुभव हुआ कि वह मेरे पराक्रम पर आश्रित है। अब क्या था? मेरा अहं फनफनाता हुआ खड़ा हो गया, "विश्वास करो, दुर्योधन, मैं ऐसा नहीं होने दूँगा।"

"तब क्या करोगे?"

"कुछ करूँगा, अवश्य करूँगा।"

दूसरे दिन ही प्रतियोगिता थी। मैं हस्तिनापुर नहीं आया, पर परीक्षा-स्थल से कुछ दूर एक झाड़ी में चिंतित मुद्रा में बैठा रहा। धूप टुकड़े-टुकड़े होकर मुझपर बिखर रही थी। यहीं से मैं परीक्षा-स्थल का कोलाहल सुन रहा था और मेरा संवेदनशील मन परिस्थितियों से अवगत होता चला जा रहा था।

दुर्योधन ने तो कहा था कि तुम मेरे साथ ही चलना और हम लोगों के शिविर का व्यवस्थापक बनकर रहना। फिर भी मैं वहाँ नहीं गया। उत्ताप और ग्लानि का अनुभव करता उस झुरमुट में ही पड़ा रहा।

दिन के प्रथम प्रहर के बाद ही भीड़ बढ़ने लगी थी। कोलाहल बढ़ता जा रहा

था। एक समय तो इतना तीव्र हंगामा हुआ जैसे कोई विचित्र बात हो गई हो। मैं स्वयं को रोक नहीं पाया और दौड़ता हुआ मुख्य पथ की ओर बढ़ा। मुझे इसका भी संकोच था कि कोई देखेगा तो क्या कहेगा। सदा तो राजकुमारों के साथ रहते थे, आज पथ की धूलि फाँक रहे हो। पर किसीको मेरी ओर देखने का अवसर कहाँ था। प्रत्येक परीक्षा-स्थल की ओर भागा चला जा रहा था।

उधर राजकुमार अपने शस्त्र-कौशल दिखा रहे थे। बीच-बीच में होते उच्च कोटि के प्रदर्शन पर दर्शक-समूह चीख पड़ता था। वह ध्वनि मेरे वक्ष को चीरकर भीतर तक प्रवेश कर जाती थी। मेरा असहाय मन नैराश्य और अमर्ष में किटकिटा रहा था।

इस बार की ध्वनि अत्यधिक तीव्र थी। अवश्य ही कोई उत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ होगा। अब मैं स्वयं को रोक नहीं पाया। प्रतियोगिता-स्थल की ओर चल पड़ा। प्रत्येक कोलाहल के बीच से उभरकर दो आकृतियाँ मेरे समक्ष आ जाती थीं। एक थी पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए अर्जुन की और दूसरी थी उसे विस्फारित नेत्रों से देखते हुए दुर्योधन की।

धीरे-धीरे अर्जुन की आकृति उसमें से लुप्त हो गई। अब केवल मुझे घूरता हुआ दुर्योधन ही मेरे सामने खड़ा था। मानो वह मुझसे कहने लगा, 'इन्हीं अवसरों के लिए न मैंने तुम्हें अपना मित्र बनाया था; पर तुम मेरे किसी काम नहीं आए। आखिर कब तक तुम्हारी कर्मठता सोती रहेगी? कब तक उपेक्षा एवं उदासीनता की प्राचीरों से घिरे यहाँ खड़े रहोगे? लोग तुम्हें कृतघ्न नहीं कहेंगे?'

"नहीं, नहीं, मैं कृतघ्न नहीं हूँ। राधेय सबकुछ हो सकता है, पर कृतघ्न नहीं हो सकता।" मैं चीख पड़ा और प्रतियोगिता-स्थल की ओर झपटा। निश्चित है, जिन लोगों ने मुझे इस समय देखा होगा उन्होंने पागल के अतिरिक्त मुझे और कुछ न समझा होगा।

बगल से कुछ व्यक्ति बातें करते चले जा रहे थे। उनमें से एक ने दूसरे से पूछा, "पूर्व की ओर सबसे ऊँचे मंच पर कौन-कौन विराजमान थे?"

"महाराज धृतराष्ट्र और भीष्म पितामह आदि।"

इतना सुनते ही प्रश्नकर्ता हँस पड़ा।

"और पश्चिम के मंच पर वह स्त्रियाँ कौन थीं?"

"गांधारी और कुंती।"

"ये महाराज धृतराष्ट्र और गांधारी किन आँखों से देख रहे होंगे?" इतना पूछते ही वह व्यक्ति पुनः हँसा। उसके साथ ही दूसरे व्यक्ति ने भी अपनी हँसी

मिला दी।

किंतु यह स्थिति अधिक देर तक न रही। प्रकृतिस्थ होते ही दूसरा व्यक्ति बड़ी गंभीरता से बोल पड़ा, ''ऐसा ज्ञात होता है कि कुंती की आँखों से गांधारी और पितामह के नेत्रों से महाराज देख रहे होंगे।''

''पर मुझे तो ऐसा नहीं लगता।''

''क्यों ?''

''यदि कुंती की आँखों से गांधारी और पितामह के नेत्रों से महाराज देखते होते तो हस्तिनापुर में आग न सुलगती। एक दूसरी ही स्थिति होती।''

बात बहुत गंभीर थी और उससे भी अधिक गंभीरता से कही गई थी। मेरे भीतर उस व्यक्ति की ध्वनि बहुत दूर तक चली गई और मैं कुछ सोचने लगा।

मैंने शीघ्र ही सुना कि नकुल और सहदेव के प्रदर्शन समाप्त हो गए हैं। विकर्ण और दु:शासन को जो आता था, वे भी दिखा चुके हैं। युधिष्ठिर ने भी दो-चार हाथ दिखाए और अभी-अभी दुर्योधन की बाण-विद्या का प्रदर्शन भी समाप्त हुआ। अब वह भीमसेन से मल्लयुद्ध करने जा रहा है।

इतना सुनना था कि मेरी व्यग्रता बढ़ी। मैं भीमसेन को भलीभाँति जानता था। उसमें अशेष शारीरिक बल था; पर बुद्धि के नाम पर उसके खोपड़े में शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं था। दुर्योधन से उसकी जलन सर्वविदित थी। मैं घबरा गया। वह कहीं कुछ दुस्साहस न कर बैठे। मैं रंगभूमि के मुख्य द्वार की ओर लपका। समुद्र की उठती-गिरती लहरों की भाँति भीड़ का रेला मुख्य द्वार से टकरा रहा था।

भीड़ को चीरता हुआ तीर-सा मैं भीतर घुसा। कुछ दूर और बढ़ने पर वह मार्ग दो दिशाओं में बँट गया था। एक दर्शक दीर्घा की ओर जाता था तथा दूसरा रंगभूमि की ओर। दर्शक दीर्घा की ओर जाने का मार्ग खुला था, किंतु रंगभूमि में प्रवेश करने का बंद कर दिया गया था।...तो क्या मैं दर्शक दीर्घा की ओर ही बढ़ूँ और अपने मित्र के पराभव का द्रष्टा मात्र बनूँ?...यह नहीं हो सकता, यह कदापि नहीं हो सकता।

मेरे भीतर एक चक्रवात उठ रहा था। मैं बंद द्वार के पास ही उझक-उझककर देख रहा था। दुर्योधन और भीम का मल्लयुद्ध चल रहा था। वे भूखे भेड़िए की भाँति एक-दूसरे पर झपटते थे और चोट खाए वृषभ की भाँति फुफकार उठते थे। कुछ भी हो सकता था, क्योंकि इसके पूर्व मैंने दोनों को इतने आवेश और आक्रोश में कभी नहीं देखा था।

मेरी धड़कन बढ़ती जा रही थी कि अचानक द्रोणाचार्य ने संकेत किया। कई मल्ल एक साथ रंगभूमि में घुसे और दोनों को छुड़ा दिया गया। मल्लयुद्ध समाप्त हो गया। तुमुल करतल ध्वनि हुई। कुछ लोगों के विचार से जोड़ बराबर की थी; किंतु पांडव पक्ष के लोग भीम के कौशल की प्रशंसा कर रहे थे और कौरवों के शिविर में दुर्योधन को बधाइयाँ मिल रही थीं। पर मेरी दृष्टि दुर्योधन की मुखाकृति पर थी। वह तपे स्वर्ण-सा तमतमाया था। अमर्ष की उभरती रेखाओं से स्पष्ट था कि वह भीतर से धधक रहा है। वह जो कुछ चाहता था, कर नहीं पाया है।

इसी बीच घोषणा हुई कि अब अर्जुन अपने कौशल का प्रदर्शन करेगा। एक बार फिर तुमुल कोलाहल हुआ; क्योंकि यह मात्र अर्जुन नहीं था वरन् पांडवों की प्रतिष्ठा का चरम बिंदु था, आचार्य का परम प्रिय शिष्य था। उसके धनुष की पहली टंकार ने ही जैसे कोलाहल का गला दबा दिया। अद्भुत मूकता पूरे वातावरण पर दौड़ गई। सब विस्फारित नेत्रों से उसे देखते रहे। उसने विद्युत् गति से अपने प्रदर्शन आरंभ किए।

अब रुक पाना मेरे लिए असह्य हो रहा था; पर प्रवेश द्वार खुलना संभव नहीं था। एक छलाँग मारते ही मैं ऊपर चढ़ आया और दूसरे ही क्षण भीतर कूदा—धड़ाम! दत्तचित्त होकर प्रदर्शन को देखते हुए द्वारपालों की दृष्टि अब मुझपर पड़ी। उनमें से एक ने मुझे रोकना चाहा; पर दूसरा पहचानता था। उफान थम गया।

उनसे कुछ आगे बढ़कर मैं प्रदर्शन देखने लगा। यह तो कहना ही पड़ेगा कि अच्छी साधना की थी अर्जुन ने। उसने एक बाण मारा और रंगभूमि के दूसरे छोर पर बनाई गई झोंपड़ी जल पड़ी। अग्निबाण के इस उत्कृष्ट प्रदर्शन पर गंभीर करतल ध्वनि हुई। शीघ्र ही उसने वरुणास्त्र चलाया। वृष्टि होने लगी। आग बुझ गई। वायव्यास्त्र चलाया तो आँधी आ गई। कदाचित् ही कोई ऐसा हो, जिसे अर्जुन के प्रदर्शन विस्मयकारी न लगे हों।

मैंने पश्चिम के ऊँचे मंच की ओर देखा, कुंती खिल उठी थी। वह मुसकराती हुई गांधारी से कुछ कह रही थी; पर गांधारी हिम की तरह स्थिर और ठंडी थी। अब स्वाभाविक था कि मेरी दृष्टि कौरव शिविर की ओर जाती। वहाँ भी तुषारपात ही दिखाई दिया। पराजय की हताशा से स्तब्ध कौरव शिविर लगभग निर्जीव था। केवल प्राणवत्ता दुर्योधन के अमर्ष में थी। वह होंठ चबाते हुए दाहिने पैर के अँगूठे से धरती पर अनजानी आकृतियाँ बना रहा था। दुःशासन के मौन मुख की लालिमा बढ़ती जा रही थी।

उधर अर्जुन का प्रदर्शन चल रहा था। उसने धनुष के कुछ बारीक काम

दिखाए। उसने बाण मारकर वृषभ स्कंध पर रखे अंडे में अत्यंत छोटा सा छेद कर दिया; पर अंडा टूटा नहीं। एक बाँस पर लटक रही पुष्पमाला को बाण मारकर ही आचार्य के चरणों पर गिरा दिया। द्रोणाचार्य 'साधु-साधु' कहते हुए मारे खुशी से उछल पड़े और उसी आवेग में उनके मुख से निकल पड़ा, "है कोई ऐसा कौशल दिखानेवाला!"

अर्जुन का विजयोल्लास आचार्य के शब्दों में आश्चर्य बन बरस पड़ा। कोलाहल का समुद्र थमने लगा। पूरब के मंच पर पितामह धृतराष्ट्र से प्रसन्नतापूर्वक कुछ कहने लगे; पर महाराज ऐसे दिखाई दिए मानो उनकी अंधी आँखों के सामने का अँधेरा और अधिक गाढ़ा हो गया हो।

मेरे भीतर एक आवाज उठी, 'तुम अब भी चुप हो, राधेय। यह द्रोणाचार्य ने राजकुमारों को नहीं वरन् यहाँ उपस्थित प्रत्येक पौरुष को ललकारा है।' यह विचार कौंधते ही मैं क्षेप्यास्त्र की भाँति रंगमंच में आ धमका।

"हाँ, मैं ऐसा कौशल दिखा सकता हूँ, आचार्य। मँगाइए धनुष-बाण।" गंभीर अट्टहास के बीच मैं दहाड़ा।

मेरा यह अप्रत्याशित अवतरण अपूर्व था। लोग स्तब्ध रह गए। आश्चर्य तो यह है कि कौरव शिविर भी अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न कर सका।

"तुम्हें यहाँ किसने बुलाया है?" अर्जुन ने पूछा

"आचार्य ने।" मैंने छूटते ही कहा।

"आचार्य ने!" अर्जुन ने विस्मित होकर द्रोणाचार्य की ओर देखा।

आचार्य ने कहा, "मैंने तो नहीं बुलाया है।"

"क्यों, आपने अभी नहीं कहा है कि है कोई ऐसा कौशल दिखानेवाला?"

"हाँ, कहा तो था।"

"तो यही था मेरे लिए आमंत्रण।"

"किंतु मैंने राजकुमारों के लिए यह बात कही थी।" आचार्य ने कहा।

"पर आपने अपनी यह चुनौती हर धनुर्धर को दी है।" मेरे कथन पर आचार्यजी कुछ सकपकाए।

अब उनके हाथ से छूटती हुई कमान को उनके शिष्य ने सँभाला। अर्जुन बोल पड़ा, "तुम रंगभूमि में आ कैसे गए? तुम्हें तो दर्शकों के बीच होना चाहिए।" उसके स्वर में न्यायोचित अहम्मन्यता थी।

"मैं दर्शक तो था नहीं, जो दर्शकों के बीच होता।"

"तो तुम क्या हो?" अर्जुन पुनः बोला।

"मैं तुम्हारी ही तरह धनुर्धर हूँ और तुम्हारे सभी कौशल दिखा सकता हूँ।" मेरा स्वर तीव्र होता गया, "वरन् उससे भी अच्छा प्रदर्शन कर सकता हूँ।"

"किया करो।···पर बिना बुलाए कहीं पहुँचना क्या सभ्यता है?"

"तो क्या मैं असभ्य हूँ?" मैं तमतमाया, "तुम मेरे स्वाभिमान पर चोट कर रहे हो, अर्जुन!"

"स्वाभिमान! हा-हा-हा! सूतपुत्र का भी कोई स्वाभिमान होता है!" अर्जुन के अट्टहास के साथ ही सारे पांडव हँस पड़े।

दर्शकों के बीच में भी विचित्र कोलाहल रेंग गया।

'सूतपुत्र का भी कोई स्वाभिमान होता है! सूतपुत्र का भी···' एक ही ध्वनि लगातार प्रतिध्वनित होकर मेरे मस्तिष्क से टकराने लगी।

मैं चीख पड़ा, "मैं भले ही सूतपुत्र होऊँ, पर मेरी भुजाओं की ओर देखो, मेरे कौशल और करतब की ओर देखो, मेरी धनुर्विद्या का परीक्षण करो। यह जाति की नहीं वरन् शस्त्रविद्या की प्रतियोगिता है। इसमें हर धनुर्धारी को अपना कौशल दिखाने का अधिकार है।" क्रोध में मेरी उत्तेजना अत्यधिक बढ़ गई थी। मैं काँप रहा था। किंतु अर्जुन अब भी हँस रहा था। उसकी हँसी की हर बूँद मेरे जलते हुए तवे पर झनझनाकर भाप बनती रही।

मैं किटकिटाते हुए अर्जुन से बोला, "यदि तुम्हें अपने पर बहुत अधिक अभिमान है तो आ जाओ, यहीं निर्णय हो जाए।"

"हाँ-हाँ, हो जाए।" यह तीव्र ध्वनि दुर्योधन की थी। कौरव शिविर इस परिवर्तित परिस्थिति पर उलझ पड़ा। उनमें कुछ लोग धनुष-बाण लेकर मेरी ओर दौड़े।

अब दर्शक दीर्घा आंदोलित हो उठी। दर्शक दो दलों में विभक्त हो गए थे। एक ने मेरा और दूसरे ने अर्जुन का समर्थन किया। यही स्थिति नारियों की भी थी।

दुर्योधन अब दौड़ा हुआ मुझ तक चला आया था। वह मुझे छाती से लगाकर बोला, "वाह, ऐसे ही वीरोचित साहस की तुमसे आशा थी!"

मैंने धनुष सँभाला। मेरे दृष्टिपटल पर आचार्य परशुराम का ऊर्जस्वित् व्यक्तित्व उभरा। मैंने उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया और ललकारा, "आ जाओ, पांडुकुमार और देखो, प्रत्यंचा में कौन-कौन सी कलाएँ छिपी हैं!"

"अब पता चलेगा, बड़ा डींगें मारता था!" दुर्योधन इतना कहता और उछलता अपने शिविर में चला गया।

पूर्वानुमान से सर्वथा विपरीत इस नवीन स्थिति पर आचार्य और पांडव अवाक्

रह गए। पितामह ने बड़ी गंभीरता से धृतराष्ट्र के कान में कुछ कहा। उनका तनाव ढीला पड़ा। पर दूसरी ओर कुंती विस्फारित नेत्रों से मुझे देखती रही। गांधारी उससे कुछ पूछना चाहती थी, पर वह बोल नहीं पा रही थी। उसे तो काठ मार गया था।

आचार्य को संबोधित करती हुई मेरी संपूर्ण ऊष्मा गरज उठी, ''आचार्य, मैं आपके प्रिय शिष्य अर्जुन की श्रेष्ठता को ललकारता हूँ। यदि उसमें साहस हो तो मेरा सामना करे।''

अब क्या था! पांडव शिविर का कोलाहल फट पड़ा। भीम अपनी फड़कती भुजाओं को ठोंकता हुआ लपका।

''पहले मुझसे लड़ ले, फिर अर्जुन की बराबरी करना।'' भीम दहाड़ा।

''चल हट! तुझसे द्वंद्व युद्ध करना मैं अपना अपमान समझता हूँ।'' श्वान शिशु की भाँति मैंने उसे दुत्कारा।

भीम आगबबूला हो उठा। निश्चित था कि वह मुझपर प्रहार कर बैठता। इसी बीच एक गंभीर आवाज सुनाई पड़ी, ''ठहरो!'' यह कड़क कृपाचार्य की थी।

कृपाचार्य ने मुझे संबोधित करते हुए कहा, ''यह अच्छी बात है, जो तू अर्जुन के साथ प्रतियोगिता करना चाहता है। किंतु अर्जुन तो राजपुत्र है, पांडुकुमार है, क्षत्रिय है। तुम कौन हो? तुम्हारी जाति क्या है?''

''अर्जुन का युद्ध मुझसे होगा या मेरी जाति से?'' मैंने कहा।

''युद्ध और प्रेम सदा समान स्थितिवाले से ही होता है, वत्स! हम जानना चाहते हैं कि तुम्हारी स्थिति क्या है? तुम्हारा कुल क्या है? तुम किसके पुत्र हो?''

मैं किंकर्तव्यविमूढ़ता की मन:स्थिति में आ गया। मेरी मुख-भंगिमा मलिन पड़ने लगी। दर्शक दीर्घा मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में चुप थी। मानो यह अयाचित स्थिति उनपर तुहिन पट्टिका की भाँति जम गई हो।

मैंने अपना सारा साहस बटोरकर अपने पूर्व तर्क से मिलती-जुलती ही बात कही कि मैंने अर्जुन की जाति को नहीं वरन् उसके शस्त्र-कौशल को चुनौती दी है।

''यह ठीक है। किंतु यदि मैं तुम्हारी जाति जानना ही चाहता हूँ तो तुम उसे बताते क्यों नहीं हो? तुम्हें अपने माता-पिता का परिचय देने का साहस क्यों नहीं हो रहा है?'' इतना कहते हुए कृपाचार्य हँस पड़े। उनकी हँसी विषाक्त धूम की भाँति संपूर्ण वातावरण पर फैल गई।

मुझे लगा, जैसे प्रत्येक मुझपर खिलखिला रहा है। मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। हर व्यक्ति हँस रहा था, किंतु कौरव शिविर चुप था, एकदम चुप, जैसे

किसी प्रच्छन्न शक्ति ने उसका गला दबा दिया हो।

इसी स्थिति में मेरी नाचती हुई आँखें पश्चिम के मंच की ओर गईं। मैंने देखा, कुंती अपना सिर नीचा कर दोनों हाथों से दबा रही है; जैसे उसे चक्कर आ गया हो। गांधारी बराबर उससे कुछ पूछ रही थी; पर वह कुछ बोल नहीं पा रही थी।

अब मैं क्या करूँ? बड़ी विचित्र स्थिति में कृपाचार्य ने धर दबाया था। मेरे पैर के नीचे की धरती खिसक रही थी। निरभ्र आकाश में अचानक मेघ आ गए थे। उन्हींमें अस्ताचलगामी सूर्य अपना मुख छिपा बैठा था।

उस विषम स्थिति में भी मैंने पुनः अपना साहस बटोरा और बड़े विश्वास से बोला, ''यदि आप मेरा परिचय जानना ही चाहते हैं तो सुनिए, मेरी जाति सूत है। मैं महाराज के सारथि अधिरथ का पुत्र हूँ।''

''अच्छा, तो तुम अधिरथ के पुत्र हो और राजकुमारों की शस्त्र-प्रतियोगिता में भाग लेने चले हो! वह भी पांडुकुमार अर्जुन से। हा-हा-हा!'' कृपाचार्य के इस व्यंग्यात्मक अट्टहास में हर वस्तु मुझे काँपती हुई लगी।

पता नहीं किधर से आई और विष में बुझे बाण की एक ध्वनि मेरे कानों से और टकराई, ''पहले दर्पण में अपना मुख तो देख!''

मैं एकदम बौखला उठा; पर विवश था। शांत ज्वालामुखी की भाँति मैं भीतर-ही-भीतर धधक रहा था। मैं क्या करूँ? अचानक एक बार बाणवर्षा करके सभी अपमानित करनेवालों को धराशायी कर दूँ? या धनुष-बाण फेंककर इस रंगशाला से भाग चलूँ? फिर भी मैं खड़ा था। चकित मन की धुरी पर अडिग था।

इसी बीच मैंने देखा, दुर्योधन एक स्वर्ण पात्र में कुंकुम लिये दौड़ा चला आ रहा है। उसके पीछे एक वृद्ध व्यक्ति है, जो आकृति और वेश से ब्राह्मण जान पड़ता है। उसके दाहिने हाथ में जलपात्र है।

निकट आते ही दुर्योधन ने कृपाचार्य से कुछ ऐंठते हुए कहा, ''यह अधिरथ का पुत्र है, बस यही इसकी अयोग्यता है न, जिससे यह अर्जुन से प्रतियोगिता नहीं कर सकता। मैं इसे राजा बनाए देता हूँ।''

कृपाचार्य के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही उस ब्राह्मण ने मंत्रपाठ आरंभ कर दिया। कौरव पक्ष के कुछ लोग और दौड़कर आ गए। मुझपर अभिषेक का जल छिड़का जाने लगा। इसके बाद ही दुर्योधन ने मेरे मस्तक पर कुंकुम का तिलक लगाया और बोला, ''मैं तुम्हें संपूर्ण अंग देश का राज्य प्रदान करता हूँ। आज से तुम अंगराज हो गए।''

नाटक के इस अप्रत्याशित पट परिवर्तन पर फिर करतल ध्वनि हुई। आचार्यगण

तो कुछ-कुछ बुझने लगे थे, पर भीम उछलकर सामने आया। वह कुछ पूछना चाहता था कि अत्यंत आश्चर्यजनक ढंग से दुर्योधन एक दूसरा कार्य कर बैठा। उसने बाण से अपना दाहिना अँगूठा चीरा और द्रोणाचार्य की ओर देखकर मुसकराते हुए बोला, "एकलव्य की भाँति मैं इसे आपको समर्पित करने नहीं जा रहा हूँ।"

द्रोण कटकर रह गए। उनका आक्रोश तो मुखरित नहीं हुआ, पर आकृति पर अरुणिमा उभर आई। उन्होंने स्वयं पर बड़ा नियंत्रण किया और पीछे हट गए।

मेरे मस्तक के कुंकुम के तिलक पर ही अपने कटे अँगूठे से रक्ततिलक करते हुए दुर्योधन बोला, "अंगराज, तुम्हारी धमनियों में चाहे जो भी रक्त प्रवाहित हो, पर तुम्हारे मस्तक पर एक क्षत्रिय राजकुमार रक्ततिलक करता है।" तुमुल करतल ध्वनि के बीच पांडव हतप्रभ थे।

"किंतु महाराज के रहते किसी सामान्य व्यक्ति को राज्य प्रदान करने का क्या राजकुमार को अधिकार है?" अत्यंत सामान्य ढंग से कृपाचार्य ने एक वैधानिक प्रश्न उठाया। उनकी आवाज इतनी दबी-दबी थी कि बहुत से लोग उसे सुन भी नहीं पाए।

पर भीम कृपाचार्य का तर्क दोहराते हुए दहाड़ा, "हाँ-हाँ, जब तक महाराज जीवित हैं, एक अंगुल भी भूमि दुर्योधन किसीको नहीं दे सकता।"

तर्क इतना सशक्त था कि दुर्योधन इसका प्रतिकार कर नहीं पाया। वह कुड़बुड़ाता रह गया। अब सबकी दृष्टि धृतराष्ट्र के मंच की ओर लगी। मैंने अनुभव किया कि नियति की उत्ताल तरंगाघातों के मध्य मेरे भविष्य की सबल तरणी भी डगमगा रही है।

इसी बीच धृतराष्ट्र की घोषणा हुई, "मेरे राजकुमार के कृत्य को मेरा ही कृत्य समझने में किसीको क्या आपत्ति है?"

'साधु-साधु' के महाघोष में पूरा वातावरण डूब गया।

यह 'साधु-साधु' भी अद्‌भुत ध्वनि है, जो हर्ष, विषाद तथा प्रसन्नता और घृणा को एक साथ ही व्यक्त करती है। मैं आज तक नहीं समझ पाया कि महाराज के इस कथन पर लोगों की प्रसन्नता और घृणा में क्या अनुपात था। पर इतना निश्चित था कि मैं गद्‌गद हो गया था। मेरे अहं को इतनी बड़ी संतुष्टि इसके पहले कभी नहीं मिली थी। मैं दुर्योधन के उपकार के भार से दबा जा रहा था। जी में आया कि मैं उसका चरणस्पर्श कर लूँ। मैं झुका भी।

किंतु उसने मुझे झट से आलिंगनपाश में समेट लिया और बोला, "अरे, वाह रे अंगराज!"

मेरे मुख से स्वतः निकल पड़ा, "प्रभु! कोई ऐसा समय आए जब इस उपकार का बदला चुका पाऊँ!"

"कैसी बातें करते हो, अंगराज! किसका उपकार? किसके प्रति उपकार? शौर्यवान् को यथोचित सम्मान देना तो हम क्षत्रियों का कर्तव्य है। कर्तव्यपालन परोपकार नहीं होता। वह स्वयं स्वीकृत दायित्व है, धर्म है।"

मैंने दुर्योधन को इतना विनम्र कभी नहीं देखा था।

मेरे चकित नेत्र संपूर्ण परिवेश पर घूमते रहे। मैंने देखा, पूर्व की ओर के मंच पर मेरा बूढ़ा पिता रेंगता हुआ चढ़ा और अपना मस्तक धृतराष्ट्र के चरणों पर धर चुका था। सोचता हूँ, मनुष्य कितना आत्मकेंद्रित है। उसकी यह आत्मकेंद्रिता स्वार्थ की परिधि में किस प्रकार सिमट जाती है! वहीं पितामह थे, पर मेरा पिता उनसे उपकृत होना नहीं चाहता था।

स्थिति सामान्य होते ही मैंने कृपाचार्य से अर्जुन के साथ प्रतियोगिता करने की अनुमति चाही; पर मुझे वह मिल न सकी। राजा होने से क्या हुआ? अंततः तो था मैं सूतपुत्र ही। किसी रंक को राजा बनाया जा सकता है, पर सूत को क्षत्रिय नहीं।

विचार आया कि मैं एक बार और अनुमति के लिए आग्रह करूँ; पर मेरी अहंता मुझे भीतर-ही-भीतर कुरेदती रही और कहती रही, 'इन अनुशासन की दीवारों को तोड़ो और अर्जुन पर झपट पड़ो; क्योंकि ये प्राचीरें तुम्हारे शौर्य को बंदी बनाने के लिए बनाई गई हैं। इन्हींकी आड़ में इन आचार्यों की अहम्मन्यता जी रही है।" तो क्या मैं सचमुच वही करूँ, जो मेरा अंतर बोल रहा है?

मैं अपनी प्रत्यंचा चढ़ाने लगा। स्थिति कुछ बिगड़े, इसके पहले ही भीम उछलता हुआ रंगभूमि में आ गया और ऐंठते हुए बोला, "अरे, क्या खड़ा है यहाँ? चल, अपना काम कर!"

"तुमसे मतलब?" मैंने क्रोध से काँपते हुए कहा।

"अरे, मुझसे मतलब भले ही न हो, पर उन अश्वों से तो तेरा मतलब है ही, जिन्हें तू और तेरा बाप हाँकता है। बेचारे कब से तुझसे बिछुड़े हैं! जरा जाकर उन्हें दाना-घास तो कर। तब चलना अर्जुन के साथ प्रतियोगिता करने!"

इस प्रहार से मैं फुफकार उठा, "उन्हीं अश्वों से तो पाला पड़ा है।"

"अश्वों से नहीं, सिंहों से कहो! चाबुक से सिंह नहीं हाँके जाते। तू केवल अश्व हाँक, वह भी मात्र रथ के, टिक-टिक-टिक!" भीम सदा की भाँति विदूषकों-सा नाचते हुए बोला।

आप मेरी मन:स्थिति का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। मेरे अमर्ष का अजगर उस भीम जैसे कुत्ते को एकदम निगल लेना चाहता था कि आचार्य द्रोण ने संध्या का सहारा लेते हुए प्रतियोगिता समाप्त करने की घोषणा की।

आज का सूर्य कितनी वेदना से डूबा होगा, मैं कह नहीं सकता।

मशालें जल उठी थीं। उनके काँपते प्रकाश में प्रतियोगिता का अप्रत्याशित समापन किसीके लिए भी सुखद नहीं था। पांडव और कौरव दोनों मलिन थे। दर्शकों की मिश्रित प्रतिक्रिया थी। कोई मेरी प्रशंसा कर रहा था तो कोई अर्जुन की। कोई यह कहता हुआ सुना गया, ''देखा, दुर्योधन ने कैसी राजनीति खेली!''

□

एक विचित्र घटना घटी।

मान्य अतिथि चले गए थे। आचार्यगण भी अपना सा मुख लेकर जा चुके थे। महाराज और पितामह को अपने रथ पर बैठा पिताजी अभी-अभी गए थे। पर भीड़ पूरी तरह से रंगस्थल के बाहर जा नहीं पाई थी। विदुरजी अब भी व्यवस्था में लगे थे कि अचानक एक समाचार उड़ा कि कुंती मंच पर ही संज्ञाशून्य हो गई है। पांडुकुमार उस ओर दौड़े। दर्शकों में से भी कुछ लोगों ने मंच को घेर लिया। मैं कौरवों के साथ कुछ दूर खड़ा यह सब देख रहा था।

विदुरजी ने शीघ्र ही कुछ दासियों को बुलाया। उनके विचार से ऊष्मा कपाल पर चढ़ गई थी। कुंती के मुख पर चंदनमिश्रित शीतल जल छिड़का जाने लगा। विजन से तेज हवा की गई।

यद्यपि कौरव मंच की ओर नहीं गए थे। 'शस्त्र प्रतियोगिता समाप्त हुई, अब अभिनय प्रतियोगिता आरंभ हो गई है।' ऐसा कहकर एक विद्रूप मुसकराहट बिखेरता दुर्योधन शिविर में चला गया। किंतु मैं कुछ नहीं बोला, वरन् मैं थोड़ा मंच की ओर बढ़ गया और एक रथ की आड़ से तमाशा देखने लगा।

कुछ ही देर में कुंती की चेतना लौटी। वह बहुत दुःखी दिखाई दे रही थी। उसने आँखें फाड़-फाड़कर पांडवों को देखा। फिर वह मंच से उझक-उझककर रंगभूमि की ओर देखने लगी, जैसे वह किसीको खोज रही हो।

''कैसा अनुभव कर रही हो, माँ?'' युधिष्ठिर ने पूछा।

''ठीक ही है।'' आँचल से मुँह पोंछते हुए कुंती बोली।

''भीतर से कैसा मालूम हो रहा है?''

''भीतर से!...'' इसके बाद वह कुछ बोल नहीं पाई। विस्मयकारी चुप्पी से वह बिलकुल घिरी मूर्तिवत् बैठी थी।

"तू क्यों मूर्च्छित हो गई, माँ?" इस बार अर्जुन ने उसका मस्तक सहलाते हुए पूछा।

फिर भी वह चुप थी।

"क्या तुमने समझ रखा था कि वह सूतपुत्र अर्जुन को पराजित कर देगा?" यह प्रश्न भीमसेन का था।

वह कुछ नहीं बोली। केवल नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

"दुर्योधन ने उसे अंग देश का राजा बना दिया, क्या इसीलिए तू घबराई?"

"नहीं।" उसका संक्षिप्त सा उत्तर विस्मय के सागर पर कागज की नाव की भाँति तैर गया।

किंतु भीम की जिज्ञासा ज्यों-की-त्यों बनी रही, "तब क्या तुमने सोच लिया कि दुर्योधन तथा उसकी मैत्री हम लोगों के लिए घातक सिद्ध होगी?"

"नहीं, नहीं। बिलकुल नहीं।" वह कुछ झटके से बोली।

"तब तू क्यों घबराई?"

इस बार उसने कुछ नहीं कहा।

"तू ही समझ, वह सूतपुत्र हम क्षत्रिय राजकुमारों का भला क्या अनिष्ट कर सकता है?" अर्जुन के इस कथन पर उसकी प्रतिक्रिया विलक्षण हुई।

"सूतपुत्र, नहीं! नहीं!" वह चीख पड़ी और एकदम घबरा गई। फिर जैसे उसने अपने पर नियंत्रण किया, "हाँ, हाँ, वह सूतपुत्र··नीच।" इसके बाद वह चुप हो गई। उसकी भंगिमा से ऐसा लग रहा था जैसे घने विचारों की कई तहों के नीचे छिपा कोई भयानक चित्र वह देख रही हो।

इस दृश्य ने मुझे अच्छी तरह बाँध लिया था। तभी किसीने पीछे से मेरा कंधा हिलाया और बोल पड़ा, "क्या शस्त्र-परीक्षा में उतरने के बाद अब अभिनय-परीक्षा भी जीतने की सोच रहे हो?"

मैंने पीछे मुड़कर देखा, दुर्योधन हँसता हुआ खड़ा था। उसके विचार से यह सब नाटक है। अब हमें यहाँ से चलना चाहिए। मैं उसीके रथ पर बैठकर चल पड़ा। मेरा घरघराता रथ राजपथ पर चला जा रहा था। अचानक पीछे से सहज उल्लास में डूबी चिरपरिचित ध्वनि सुनाई पड़ी, "अंगराज की जय हो!"

मैंने पीछे की ओर सिर घुमाया। माला थी। वह कोकिला सी चहकती बढ़ी चली आ रही थी। मैंने रथ रोकने की चेष्टा भी की। पर दुर्योधन बोला, "अब तुम राजा हो गए हो। हर व्यक्ति अब तुम्हारा जय-जयकार करेगा। किस-किसके लिए रथ रोकते रहोगे?"

रथ बढ़ता चला जा रहा था। उसकी मंद पड़ती आवाज अब भी मेरा पीछा कर रही थी, ''ओ, अंग देश के राजा, तेरी जय हो!''

मेरा साहस नहीं हुआ कि पीछे मुड़कर देखूँ। फिर भी वह मेरी आँखों के सामने ही थी और अपनी स्वाभाविक इठलाहट में कहती जा रही थी, 'रथ बढ़ाए चलो''बढ़ाए चलो, क्योंकि अब तुम मनुष्य नहीं, राजा हो गए हो।'

□

आठ

समय की गति के साथ परिस्थितियाँ बदलती गईं।

अपना जो चित्र मैं देख रहा हूँ, उसपर मुझे स्वयं आश्चर्य है। मेरी आंतरिक हीनता पर एक राजा आरोपित हो गया है—और वह है अंग देश का राजा। उसका मुकुट मेरे मस्तक पर है। उसकी आलंकारिक वेशभूषा मेरे तन पर है। उसकी आलोकमयी गरिमा की बढ़ती हुई लालिमा मेरी आकृति के चतुर्दिक् बनते प्रभामंडल पर है और उसके गौरवमय सिंहासन पर मैं स्वयं विराजमान हूँ। पर इन सबके भीतर प्रहार पर प्रहार सहता मेरा 'मैं' बहुधा मुझसे पूछता है, 'क्या सचमुच तुम राजा हो? नृपति हो?'

और यदि मैं स्वीकारात्मक उत्तर देता हूँ तो वह हँसने लगता है। बड़ी बीभत्स हँसी हँसता है और बोल पड़ता है, 'अरे, वाह रे राजा! न हर्रे लगी और न फिटकरी, तुम राजा बन गए!'

यह बात केवल 'मैं' तक सीमित नहीं थी। एक दिन अपनी स्वाभाविक मुद्रा में माला मेरे राजभवन में आ गई और बिना रोक-टोक के मुझ तक पहुँचकर बोली, "पृथ्वीनाथ को प्रणाम करने चली आई हूँ।"

मेरे अंगराज होने के बाद यह उसका पहला आगमन था।

"केवल प्रणाम करने चली आई हो?" मैं मुसकराया। निश्चित रूप से मेरी मुसकराहट मादकता से भरी थी।

वह नितांत शांतभाव से बोली, "अब प्रणाम तक ही मेरी पहुँच रह गई है न, महाराज!"

"क्यों?"

"क्योंकि आपके और मेरे बीच एक नृपति आ गया है, जो मुझे एक पारदर्शक दीवार की भाँति लग रहा है, जिसके उस पार बैठे 'तुम'...'आप' दिखाई देते हो।"

''पर मुझे तो ऐसी कोई दीवार दिखाई नहीं देती।''

''यही तो रहस्य है। आपको उसका न दिखाई पड़ना दीवार का अभाव नहीं है, नृपति, वरन् आपका दृष्टिभ्रम है।''

''यह मेरा दृष्टिभ्रम है! इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि मैं उसे गिराना भी चाहूँ तो भी गिरा नहीं सकता।''

''गिराने की कोई आवश्यकता नहीं है, महाराज। वह स्वयं गिर जाएगी, क्योंकि बिना शक्ति के प्राप्त किया हुआ राज्य और बिना गुरु के अनुग्रह के ज्ञान अधिक दिनों तक नहीं टिकते।'' इतना कहकर वह खिलखिलाहट बिखेरने और मेरी मूकता उसे बटोरने लगी।

वहाँ उपस्थित दो-चार राजकीय कर्मचारी बड़ी रहस्यमय दृष्टि से उसे देखते रहे।

मेरा विवेक जब स्थिर हुआ तब मैंने पूछा, ''मित्र से अनुग्रह या दान में मिला राज्य क्या अपना नहीं हो सकता?''

''दान! हा-हा-हा! अरे वाह रे नृपति! रह गए राधेय के राधेय ही! कहीं दान भी सूतपुत्र को मिला करता है। उसपर तो मात्र ब्राह्मण का अधिकार है।''

वह अपनी मुसकराहट से सूई चुभो गई। मेरा 'राजा' इस चुभन को सहने के लिए तैयार नहीं था। वह चीख पड़ा, ''आखिर तुम कहना क्या चाह रही हो?''

''यही कि तुम राजा हो नहीं वरन् बनाए गए हो।'' वह मुसकराती रही। मैं चुप था। मेरी चिंतना 'होने' और 'बनने' में अंतर ढूँढ़ रही थी। 'होना' एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और 'बनना' एक आरोपण। इसी बीच माला अपनी स्वाभाविक मुसकराहट पीती हुई धीरे से बोली, ''बना हुआ राजा एक अभिनेता होता है। अपनी नाटकीय भूषा उतार देने के बाद फिर रंक-का-रंक।''

मेरा राजा उबल पड़ा, ''क्या मैं वास्तविक नृपति नहीं, मात्र एक अभिनेता हूँ?''

''और क्या हो?''

मेरी ओजस्विता और भभकी, ''मेरा वैभव, मेरा ऐश्वर्य, यह सब देखती हो?''

''हाँ, देखती हूँ और बड़े विश्वास से कहती हूँ कि यह सब नकली है।''

''तो मैं तुम्हारी दृष्टि में एक नकली राजा हूँ?''

''मेरी दृष्टि में नहीं, अपनी दृष्टि में भी तुम एक नकली राजा हो। जरा बुद्धि पर पड़े महत्त्वाकांक्षा के आवरण को हटाओ और स्वयं से पूछो, 'क्या तुमने उच्च

वर्ण में जन्म लिया है ? क्या तुम राजा के पुत्र हो ?' "

माला की आरोहित ध्वनि पर एक कड़कता स्वर पीछे से चढ़ बैठा, "राजा का पुत्र नहीं, पर राजा का मित्र तो है।" यह आवाज दुर्योधन की थी, जो अचानक आ पहुँचा था। उसके साथ मामा शकुनि और उसका मंत्री कर्णिक भी था।

उसके इस अप्रत्याशित आगमन पर मैं एकदम हड़बड़ा गया। उठकर उसकी अगवानी के लिए चल पड़ा। माला भी संकुचित होती हुई बगल से हट गई। दुर्योधन धड़ल्ले से मेरे सिंहासन की ओर बढ़ा और उसपर आ विराजा। मैं और शकुनि सिंहासन के नीचे के मंचक पर बैठ गए।

"कौन है यह युवती ?" दुर्योधन ने गुरु गंभीर स्वर में पूछा।

मैं सकपकाया। क्या कहूँ ?

"यों ही, मेरे गाँव की एक लड़की है।" मैं बोला।

"बस इतना ही मेरा परिचय है ?" उसकी उन्मुक्त हँसी में मेरा राजा उड़ गया। मैं उसे देखता रह गया। विचित्र लग रही थी वह।

"बड़ी प्रगल्भ मालूम पड़ती है।" दुर्योधन ने कहा।

"प्रगल्भ, हा-हा-हा!" माला और वेग से खिलखिला उठी। वह हँसती हुई दोहरी होती जा रही थी।

"लगता है, कुछ विक्षिप्त है।" शकुनि बोला।

"नहीं, नहीं, मैं विक्षिप्त नहीं हूँ, बिलकुल नहीं हूँ।" माला बोलती गई, "मुझे केवल हँसी आ रही है उस व्यक्ति पर, जो अभी कुछ समय पूर्व राजा का अभिनय कर रहा था, सिंहासन पर बैठा था। अब स्वयं उसपर से उतरकर अमात्य के आसन पर आ गया है। अब देखना है कि वह कितने समय तक अमात्य की भूमिका निभा पाता है!"

मैं बोलना चाहकर भी कुछ बोल नहीं पाया। किंतु दुर्योधन ने पूछा, "यह कहना क्या चाहती है, मैं तो कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ ?"

शब्दों से कहीं अधिक दुर्योधन की मुद्रा ने मुझपर दबाव डाला। अब मुझे कहना पड़ा, "यह कह रही है कि तुम असली राजा नहीं हो।"

"इसे यह कहने का क्या अधिकार है ?" दुर्योधन की त्योरियाँ चढ़ने लगीं।

पर माला पूर्ववत् उन्मुक्त थी, "क्यों, मुझे अधिकार नहीं है ? एक असली प्रजा को अपने राजा का नकली मुखौटा हटा सकने का अधिकार नहीं है ?"

दुर्योधन तिलमिलाया, "बड़ी वाचाल होती जा रही हो! जानती हो, इसका परिणाम क्या होगा ?"

''क्यों ?'' मैंने पूछा।

''प्रजा में वह अधिक लोकप्रिय हैं। लोग उन्हें धर्मराज कहते हैं।''

''तो कहा करें। इससे क्या होता है ?''

''क्यों नहीं होता ?'' इस बार कर्णिक हम दोनों के बीच बोल पड़ा, ''लोग कहते हैं कि इस समय हस्तिनापुर में अधर्म का राज्य है। धर्मराज्य तब होगा जब युधिष्ठिर गद्दी पर बैठेंगे।''

''पर लोगों के कहने पर तो युधिष्ठिर गद्दी पर बैठ नहीं सकते। जब तक उनका अधिकार न हो।'' मैंने कहा।

अब दुर्योधन ने विस्तार से जो बातें बताईं, उनका ज्ञान मुझे नहीं था। उसने जो कुछ कहा उसका सारांश था कि मेरे पिता जन्मांध हैं। पांडु से बड़े होने पर भी वे राज्याभिषेक के अधिकारी न हो सके। फलतः पांडु को ही सत्ता मिली। किंतु उन्होंने अधिक दिनों तक शासन नहीं किया। उनकी अकाल मृत्यु हुई। तब शासन की देखभाल मेरे पिताजी को सौंप दी गई।

''तो वे मात्र शासन की देखभाल के लिए हैं ?'' मैं चकित हो बोल पड़ा, ''क्या वे राजा नहीं हैं ?''

''वैधानिक स्थिति तो यही है।'' दुर्योधन के मस्तक पर चिंता की रेखाएँ उभर आईं।

एक विचित्र चुप्पी ने हमें कुछ क्षणों के लिए घेर लिया। मुझे लगा, जैसे माला अब भी मेरे मस्तिष्क में खिलखिला रही है, 'तुम्हीं अभिनेता नहीं हो, राधेय! इस धरती पर और लोग भी हैं जो राजा न होकर भी राजा का अभिनय करते हैं।'

''अभी महाराज तो हैं ही। उनके रहते कोई प्रश्न नहीं उठता। फिर युधिष्ठिर भी उनके रहते गद्दी पर बैठना कदाचित् नहीं चाहेंगे।'' मैंने कहा।

शकुनि हँस पड़ा, ''सत्ता और कोई न चाहे! कितने भोले हो, राधेय!''

''मैं यह बात किसी और के लिए नहीं, केवल युधिष्ठिर के संबंध में कह रहा हूँ; क्योंकि वह व्यक्ति लोभ और महत्त्वाकांक्षा से बहुत दूर है।''

''महत्त्वाकांक्षा एक सुप्त ज्वालामुखी है, राधेय। वह कब भभक पड़ेगी, इसे कोई नहीं कह सकता। और जब सारी प्रजा उन्हें स्वयं चाहने लगी हो तब तो उनका भभक पड़ना और भी स्वाभाविक है।'' शकुनि ने कहा।

मैं कुछ सोच ही रहा था कि दुर्योधन बोल पड़ा, ''यदि प्रजा यह समझ जाएगी कि युधिष्ठिर राज्याभिषेक के योग्य हो गए तो उन्हें सत्ता सौंपनी ही होगी।''

"आखिर सौंपनी तो हमें होगी न, हम नहीं सौंपेंगे।" मैंने कहा।

"हमारे नहीं करने से कुछ नहीं होगा। जनमत का दबाव बड़े-बड़े चट्टानी व्यक्तियों को भी बहा ले जाता है। उसके समक्ष हमारा अस्तित्व ही क्या है!" इस बार कर्णिक बोला।

कर्णिक, मामा का मात्र सचिव, हम लोगों के व्यक्तित्व को चुनौती दे, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। मेरी वाणी में उग्रता आ गई, "हमारा अस्तित्व क्यों नहीं है?"

"अरे भाई, अस्तित्व है या नहीं, इस विवाद में पड़ने से क्या लाभ? हमें तो ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे काँटा सदा-सदा के लिए निकल जाए।" तनाव ढीला करते हुए मामाजी ने बड़े शांतभाव से कहा।

मामा की इस बात से मुझे लगा कि उनके पास कोई योजना है। मैंने दुर्योधन की ओर देखा, वह गंभीर रूप से शांत था। फिर मैं मामाजी से ही कह बैठा, "आप ही कोई उपाय निकालिए।"

"मैंने तो निकाल लिया है।" एक रहस्यमयी मुसकराहट उन्होंने बिखेरी और कक्ष के चारों ओर देखा। द्वार पर खड़े परिचारक को जल लाने के बहाने हटाया और मेरे समीप आकर बहुत धीरे से बोला, "जानते हो, आजकल दीवारों में भी कान उग आए हैं।"

"तब हम लोग ऐसे स्थान पर चलें जहाँ ये दीवारें न हों।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"कहाँ?" उसने पूछा।

"उद्यान में चलकर भी बातें की जा सकती हैं।" मैंने कहा।

"यदि हवा ले उड़ी तब?"

सुनकर हम सबके सब हँस पड़े।

हँसी थमते ही दुर्योधन ने कहा कि हमें कक्ष के द्वार बंद करा देने चाहिए। मुझे स्पष्ट हो गया कि योजना दुर्योधन को भी मालूम है, या हो सकता है, दोनों ने मिलकर ही बनाई हो।

जल लेकर ज्यों ही परिचारक आया, मैंने उसे बाहर जाकर द्वार बंद कर देने को कहा। अब हम चार के अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं था। फिर भी मामा मौन था। मेरी जिज्ञातुर मुद्रा उसे बोलने के लिए बराबर दबाव डाल रही थी। उसने एक बार फिर अपनी दृष्टि कक्ष के चारों ओर दौड़ाई और कर्णिक को द्वार पर भेजा।

कर्णिक द्वार पर गया। जब बंद द्वार के रंध्र से देख लिया कि बाहर कोई नहीं

''अच्छी तरह जानती हूँ, राजन! कभी-कभी सत्य की कटुता कारागार का भी मुख देखने को बाध्य करती है।''

''तो पकड़ लो इस वाचाली को और डाल दो बंदीगृह में।'' दुर्योधन की ध्वनि मघा के मेघों की भाँति तड़प उठी।

सैनिकों ने माला को पकड़ लिया। फिर भी वह जरा भी भयातुर न हुई, वरन् उसकी हँसी की प्रगल्भता और बढ़ गई। उसने मुझे संबोधित करते हुए कहा, ''मैंने कहा था न कि तुम असली राजा नहीं हो!''

''तब कौन असली राजा है?'' मैं झुँझलाया।

''जिसे देखते ही तुम सिंहासन छोड़कर उठ गए। जिसके आदेश से मैं बंदी बनाई जा रही हूँ।''

कितनी गंभीरता और शक्ति थी माला के इस तर्क में। आज जब मैं तटस्थ होकर सोचता हूँ तो उसकी बात ठीक लगती है। अपने गुरुजन के अतिरिक्त किसी और के आने पर राजा को अपना सिंहासन नहीं छोड़ना चाहिए। यह बात दूसरी है कि वह उसके सम्मान में उठकर खड़ा हो जाए, अधिक आत्मीयता व्यक्त करने के लिए उसे अपने बगल में बैठा ले।

परंपरा और राजनीति दोनों मुझे सिंहासन छोड़ने की अनुमति नहीं देते थे, तब मैंने ऐसा क्यों किया? कहीं मेरी हीन वृत्ति ने तो मुझसे यह भूल नहीं करा दी? क्या माला के अनुसार मेरा राधेय ही मात्र अपना था और राजा दूसरे का दिया हुआ, ऊपर से ओढ़ा हुआ? यदि ऐसा न होता तो मेरे राजभवन में आकर दुर्योधन अपने आदेश चलाता? उसके कहने मात्र से माला बंदी बना ली जाती?

किंतु अद्‍भुत थी माला । वह बंदी होने के बाद भी हँस रही थी और मेरा 'राजा' लगभग निरुपाय हो गया था। मैंने दुर्योधन से अपने और माला के संबंधों की संक्षिप्त चर्चा की। वह हँस पड़ा, ''मुँहलगी यदि दुर्विनीत हो जाए तो आश्चर्य क्या?'' फिर उसने बड़े सहजभाव से अपना आदेश वापस लेते हुए कहा, ''इसे छोड़ दो। जो राधेय के हृदय में बंदी हो, मैं उसे बंदी बनाना नहीं चाहता।'' इतना कहते ही वह जोर से हँस पड़ा। किंतु इसके साथ ही माला की खिलखिलाहट दूनी हो गई, जो मेरी समझ के दायरे से ही टकराती रही।

''इस बार तुम अमात्य के आसन से भी च्युत हुए।'' माला निर्द्वंद्व बोल रही थी, ''एक साधारण प्रजा की भूमिका निभाते हुए तुमने मुझे छुड़ाने का कौरवराज से आग्रह किया। यही तुम्हारी वास्तविकता है। अनुकंपा से बना हुआ राजा एक अभिनेता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।'' इस बार उसकी हँसी से बाह्य का

ही नहीं, मेरे भीतर का भी वातावरण काँप उठा।

मैं जिस प्रदेश का राजा बनाया गया था उसी प्रदेश में मेरा पैतृक ग्राम भी पड़ता था, इसीलिए न तो मैं अपने ग्रामीण परिवेश से मुक्त हो पाया और न अपने इष्ट-मित्रों को ही छोड़ पाया। वही माघी, वही लकुच, वही माला, वही मद्दी—सब अब भी मेरे चारों ओर थे; पर उनकी दूरी मुझसे बढ़ गई थी। यह दूरी सबसे अधिक माला को खटकती थी। और मेरी नई स्थिति से सबसे अधिक घबराता था यज्ञदत्त ब्राह्मण का परिवार। जहाँ वह पहले मेरा कटु आलोचक था, वहाँ वह मेरी कृपा का भिखारी हो गया था। 'भिखारी'—इस शब्द की अर्थवत्ता 'ब्राह्मण' के संदर्भ में कुछ दूसरी हो जाती है। भिक्षाटन पर जीनेवाले ब्राह्मण को हमारे पूर्व मनीषियों ने समाज को अमृतदान का दायित्व सौंपा था; किंतु आज का ब्राह्मण सबकुछ माँगने और पाने के बाद समाज के चरमराते ढाँचे पर केवल विष बिखेरता था--लोभ का विष, घृणा का विष, विद्वेष का विष। क्योंकि मेरे दृष्टिपथ में द्रोण का स्खलित आचार्यत्व था और था यज्ञदत्त का स्वार्थ से सना व्यक्तित्व, जो किसी समय आदित्य मंदिर पर संपन्न हुए यज्ञ में मुझे प्रधान 'होता' भी स्वीकार करने को तैयार नहीं था, वही यज्ञदत्त अब मुझसे आदित्य मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए कई बार निवेदन कर चुका था और कहा करता था कि 'आपकी सारी उपलब्धियाँ भगवान् भास्कर की ही कृपा का फल हैं। अब उसका पुनर्निर्माण तथा सबके उपकारार्थ एक 'इष्टापूर्त' यज्ञ आपके ही कर-कमलों से संपन्न होना चाहिए।'

सत्ता नियति के कपाल में लिखी एक अद्भुत विडंबना है। वह व्यक्ति को इतना महान् बना देती है कि वह अपने नीचे की धरती की पहचान भी धीरे-धीरे छोड़ने लगता है। इसमें संदेह नहीं कि मेरे संबंध में भी ऐसा ही आरंभ हो जाता, यदि बीच-बीच में आकर माला मुझे न झकझोरती। पर कभी-कभी काल और परिस्थिति का विचार किए बिना जब वह अपना वक्तव्य आरंभ कर देती तो मुझे खल जाता था। उस दिन भी माला का व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लगा।

दुर्योधन और शकुनि को जब मैं अंतःकक्ष में ले आया तब बातें भी माला के प्रवचन की ही परिधि से आरंभ हुईं। दुर्योधन ने कहा, ''यों तो माला तुम्हें अभिनेता कह रही थी, पर लगता है कि मैं अभिनेता हूँ।'' उसकी ध्वनि आवश्यकता से अधिक गंभीर थी। मैं समझ नहीं पाया कि वह कहना क्या चाहता है।

मेरी प्रश्नवाचक भंगिमा के उत्तर में वह बोल पड़ा, ''लगता है कि हस्तिनापुर के सिंहासन पर अब युधिष्ठिर ही बैठेंगे।''

"वह तो स्वयं राजपुत्र है।" मैंने कहा, "हाँ, उसके राज्य की रक्षा कर सकता हूँ।"

"इसके लिए भी तुम्हें अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"

"बहुत संभव है, वह अवसर शीघ्र ही आ जाए।" इससे अधिक मैंने उससे कुछ और कहना ठीक नहीं समझा। संध्या की कालिमा बढ़ती चली जा रही थी और मुझे लौटना था। बातों को समेटते हुए मैं उससे बोला, "आओ, बैठ जाओ। जहाँ से तुम्हारे ग्राम की पगडंडी मिलेगी, वहाँ छोड़ दूँगा।"

"लोगों को अच्छा नहीं लगेगा कि राजा की बगल में एक ग्राम्य बाला बैठे।"

"लोगों को भले ही अच्छा न लगे, पर यह बताओ, तुम्हें अच्छा लगेगा या नहीं।" मैंने मुसकराते हुए पूछा।

"मुझे भी अच्छा नहीं लगेगा। कौन जाने, यह रथ घरघराते हुए मुझे भी तुम्हारे पिंजरे में ले जाकर बंद कर दे।" वह पुनः हँस पड़ी।

उसकी खिलखिलाहट को वहीं छोड़कर मैं रथ पर चल पड़ा। मुझे शीघ्र लौटना था। मामा और दुर्योधन आज फिर आने वाले थे। निश्चय हुआ था कि उनकी रात मेरे ही राजभवन में बीतेगी और योजना को अंतिम रूप दिया जाएगा।

योजना—बहुत ईमानदारी से कहूँ तो इस षड्यंत्र का कोई निश्चित रूप मेरे मस्तिष्क में नहीं था; फिर भी मुझे उसकी गंभीरता का कुछ-कुछ आभास हो चला था, क्योंकि मामा और दुर्योधन दोनों बहुत शंकित थे। वे हस्तिनापुर में इस संबंध में बातें करना भी उचित नहीं समझते थे। उनके अनुसार गोपनीयता जहाँ जरा भी भंग हुई कि स्वप्न टूटा। इसीलिए मेरी सावधानी व्यग्रता में भी बनी हुई थी।

ज्यों ही मेरा रथ राजभवन के परिसर में आया, मुझे सूचना मिली कि वे लोग आ गए हैं! तुरंत रथ छोड़कर मैं अतिथिगृह की ओर भागा और मिलते ही विनीत भाव से बोला, "विलंब के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।"

"अच्छा चलो, क्षमा दे दी गई।" शकुनि ने बड़े स्नेह भाव से कहा। दुर्योधन, कर्णिक आदि सभी हँस पड़े।

"लगता है, रथ से उतरकर दौड़े चले आ रहे हो। अभी तो तुम्हारी पूजा भी बाकी होगी।" दुर्योधन ने कहा, "उससे निवृत्त हो जाओ तो फिर विचार किया जाए।"

"मेरी पूजा हो चुकी है।" मैंने बताया, "जहाँ भी रहता हूँ, भगवान् भास्कर की आराधना कर लिया करता हूँ।"

"क्यों, अस्त होते सूर्य की तो पूजा नहीं होती!" मामा बोला।

"शास्त्र वचन तो है नहीं। वैभव के उत्कर्ष के संदर्भ में लोकोक्ति अवश्य है। किंतु चाहे उदित हो रहा हो या अस्त, यदि वह सूर्य है तो उसकी पूजा होगी।" मैंने विश्वासपूर्वक कहा। बात कुछ गंभीर और मार्ग से हटकर जाने लगी।

दुर्योधन ने उसे सँभाला, "हम लोग मात्र तुम्हारे प्रकृतिस्थ होने की प्रतीक्षा में हैं।"

मैंने उन्हें वहाँ नहीं छोड़ा। अतिथिभवन से अपने प्रासाद में ले आया। हलकी माध्वी लेने के बाद भोजन की व्यवस्था की गई। बहुधा भोजन पर ही गंभीर बातें आरंभ हुआ करती थीं; किंतु इस समय ऐसा कुछ नहीं हुआ। मेरी व्यग्रता बढ़ती गई, इसलिए नहीं कि योजना क्या है, वरन् इसलिए कि इस योजना में मुझे क्या भूमिका निभानी होगी!

अँधेरा बढ़ता गया। प्रासाद के मुख्य द्वार पर रात्रि के प्रथम प्रहर का घंटा बज उठा। अंत में मंत्रणाकक्ष बंद कर मतलब की बात आरंभ हुई। मामा ने बताया, "हमारी योजना है कि इस बार मेले के अवसर पर पांडवों को ही वारणावत भेजा जाए और उन्हें एक नवनिर्मित लघु प्रासाद में ठहराया जाए। खूब आवभगत और सम्मान किया जाए और अवसर देखकर एक रात, जब सभी प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हों, तो उसमें आग लगा दी जाए।" मैरेय के घूँट गले के नीचे उतारते हुए शकुनि एक साँस में कह गया।

मुझे हँसी आ गई, "जब आग ही लगानी है तब पांडवों को वारणावत भेजने की क्या आवश्यकता? अरे, यह काम तो किसी रात हस्तिनापुर में भी किया जा सकता है।"

"किंतु हस्तिनापुर में वे जल ही मरेंगे, इसका विश्वास क्या?" मामा ने कहा।

"यही संभावना तो वारणावत में भी बनी रहेगी।"

"यह शकुनि कच्ची गोटी खेलनेवाला नहीं है, राधेय।" बड़े आत्मविश्वास से पूरा चषक खाली करते हुए मामा ने कहा, "पांडव ही नहीं, वारणावत में यदि उनके पूर्वज भी साथ रहें तो भी भस्म होने से वे बच नहीं सकते।"

"नहीं, नहीं। मैं केवल पांडवों को ही समाप्त करना चाहता हूँ, अपने पूर्वजों को नहीं।" दुर्योधन व्यंग्य की मुद्रा में बोला। सबके सब हँस पड़े। यह उन्मुक्त हँसी मैरेय के चषकों में बहुत देर तक तैरती रही।

मामा कुछ झेंप गया, "अरे भाई, मैंने तो आवेश में यह बात कह दी। भला

है, तब उसने नेत्रों से संकेत किया। अब शकुनि ने रहस्य उद्‌घाटन आरंभ किया। उसने बताया कि वारणावत में एक मेले का आयोजन किया जा रहा है।

मुझे हँसी आ गई, "यह कौन सी रहस्य की बात थी, जिसके लिए इतनी सावधानी बरती गई?"

"तुमने पूरी बात सुनी नहीं और बीच ही में बोल पड़े।" मामा और गंभीर हुआ, "हम लोग चाहते हैं कि इसी मेले में पांडवों को भेजा जाए और वहीं उन्हें समाप्त कर दिया जाए।"

यह सुनते ही मेरी शिराओं में रक्त की गति तेज हो गई। मैं युद्ध करके उन्हें परास्त करने के पक्ष में था, पर धोखा देने के नहीं। मेरे जी में आया कि मैं स्पष्ट कर दूँ कि मैं शस्त्र पर विश्वास करता हूँ, अपने बाहुबल पर विश्वास करता हूँ; पर षड्‌यंत्र में नहीं। फिर भी मैं चुप रह गया। माला की वह खिलखिलाहट पुनः मुझसे पूछ बैठी, 'तुम राजा हो न! तब अपने मन की बात निर्भीक होकर क्यों नहीं कहते?' अचानक दुर्योधन के प्रति मेरी कृतज्ञता ने माला की खिलखिलाहट का गला दबा दिया।

"धोखा देकर प्राण लेना धर्मसम्मत नहीं है।" मैं दबी आवाज में बोल ही पड़ा।

"धर्म की बात धर्मराज तक ही रहने दो।" मामा ने छूटते ही कहा, "उन्होंने ही धर्म का ठेका ले रखा है। राजनीति में धर्म की बात सोचना अग्नि की मंजूषा में हिम बंद करना है।"

मन में आया कि कह दूँ, 'हिम कभी अग्नि की मंजूषा में बंद नहीं होगा, वह वाष्प बनकर उसे तोड़ता हुआ निकल जाएगा। पर धर्म से अलग होते ही राजनीति टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाएगी।' फिर भी मैं चुप था। मेरे मुख पर दुर्योधन के उपकार की पट्‌टी बँधी थी और आँखों के सामने तैर रही थी गंगा की तरंगों पर महत्त्वाकांक्षा की निष्ठुरता से बँधी भीम की विषाक्त मरणासन्न काया।

"क्या सोचने लगे?" मामा की ध्वनि ने मुझे झकझोरा।

"कुछ नहीं, कुछ नहीं।" मैं एकदम हड़बड़ा उठा, "सोचता हूँ, यह सब कैसे होगा!"

"सबकुछ हो जाएगा। केवल तुम्हें अपनी मित्रता निभानी होगी। मारो हाथ।" इतना कहते हुए दुर्योधन ने अपना हाथ बढ़ाया—और बड़े सहजभाव से मेरा हाथ उसके हाथ में चला गया। उपकार और द्वेष की मिली-जुली मिट्‌टी से बनी हमारी मित्रता एक बार फिर नवीन हो उठी।

❑

"माला, तू ठीक कहती है कि मैं राजा नहीं हूँ।"

"तो क्या हो?"

"केवल राधेय, वही पुराना राधेय।"

"तब तुम बहुत अच्छे हो।" मुसकराती माला मेरे निकट चली आई थी।

यह बात उस सुखद संध्या की है, जब मैं आखेट से लौट रहा था। अकेला था। आगे सारथि था और पीछे अनुकर्ष (रथ का एक भाग) से बँधा एक मृत मृग।

माला भी अकेली थी। उसे देखते ही मैं रथ से उतर पड़ा। पूछा, "कहाँ जा रही हो, माला?"

"यह भी कोई पूछने की बात है! अरे, संध्या होते ही पक्षी भी अपने घोंसले की ओर भागता है, फिर मैं तो मनुष्य हूँ।"

"पर मनुष्य तो कभी-कभी दूसरों के घोंसले में भी चला जाता है।" मैंने कहा।

"तब मुझे पक्षी ही समझिए।" वह हँसते हुए बोली।

"तो मैं तुझे अवश्य अपने पिंजरे में बंद करूँगा।"

"चलो-चलो, जो स्वयं पिंजरे में बंदी हो, वह दूसरों को क्या बंद करेगा!" माला इठलाई।

"मेरे चारों ओर तो कोई पिंजरा नहीं है।" मैंने अपने दोनों हाथ हवा में हिलाकर उसे दिखाए।

वह अपनी प्रकृति के अनुसार हँस पड़ी, "यह एक ऐसा पिंजरा है, जिसे तुम नहीं देख सकते, पर वह तुम्हें देखता है। जिसे तुम कभी नहीं हटा सकते, पर वह तुम्हें हर स्थान से हटाता-बढ़ाता रहता है।"

मुझे समझते देर नहीं लगी कि माला मेरी स्थिति पर व्यंग्य कर रही है। मैंने उससे बड़े सामान्य भाव से कहा, "तुम देखना, एक दिन आएगा जब मैं इस पिंजरे को तोड़कर ही रहूँगा।"

"अच्छा, तो तुमने मान लिया न कि पिंजरे में बंद हो!" वह खुलकर हँसी, "अब बताओ, उसे तोड़ोगे कैसे?"

"दुर्योधन के उपकार का बदला चुकाकर।" मैंने कहा।

"उपकार के लिए उपकार किया जा सकता है, पर उपकार का बदला कभी चुकाया नहीं जा सकता।" उसकी हँसी जमने लगी थी, "उसने तुम्हें राजा बनाया है, क्या तुम उसे राजा बना सकते हो?"

है।'' इतना कहते हुए दुर्योधन ने एक रहस्य भरी दृष्टि अपने मामा पर डाली।

शकुनि मुसकराया, ''तुम इन चालों को समझ नहीं सकते, राधेय! ये राजनीतिक चालें हैं।'' उसने बताया, ''यदि पुरोचन अपने कार्य में सफल होता है तो काम हमारा बनेगा और यदि असफल होता है तो हम अपयश उसके सिर मढ़ देंगे और कहेंगे कि यह नीचता पुरोचन की ही है।''

महत्त्वाकांक्षा हमारी नैतिकता को इस सीमा तक निगल सकती है, इसका विश्वास मुझे नहीं था। सोचता हूँ, सत्ता का स्वप्न ही मानवीय गुणों का नाश कर देता है, तब भला सत्ता की गोद में बैठकर मानवता कैसे जीवित रह सकती है? अदृश्य में तैरती माला की खिलखिलाहट मेरी मूकता को गुदगुदाती रही।

''क्या सोचने लगे?'' मामा ने मेरे मौन को झकझोरा।

मैंने एक गहरी साँस ली, ''सोचता हूँ, कहीं मेरे प्रति भी ऐसा व्यवहार न किया जाए।'' मैंने कहा, ''पांडवों के भेजने में यदि मैं असफल हो जाऊँ तो अपयश ही हाथ लगेगा। सफल होने पर लाभ आपका होगा।''

''हमारा-तुम्हारा लाभ क्या बँटा है, राधेय! यदि मैं ऐसा सोचता तो तुम्हें कभी अंग देश का राजा न बनाता। मैंने तो सोचा था कि हम एक सौ एक भाई हैं, अब एक सौ दो हो जाएँगे। मुझे क्या पता था कि तुम अब भी 'मैं' और 'पर' की सीमा में ही सोचते हो!'' दुर्योधन जैसे भभक पड़ा। लगा, मुझसे उसे ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी। अपने भरे गले से वह कहता गया, ''क्या हस्तिनापुर में यह सब सोचने और विचारने के लिए हमारे पास स्थान नहीं था? फिर भी हम तुम्हारे पास क्यों आए? अपना समझते थे, तभी न—और तुम हमें पराया समझते हो।''

दुर्योधन की आकृति पर उभरे तनाव को ढीला करने के लिए मैंने एक बनावटी हँसी अपने अधरों पर चिपका ली, क्योंकि भेड़ों का झुंड और मैरेय में डूबे व्यक्ति के विचार जिधर बढ़ जाते हैं उधर से लौटना कठिन हो जाता है।

मैंने वातावरण को हलका करते हुए कहा, ''मित्र, तुम भी बुरा मान गए। मैंने तो व्यंग्य में बातें कही थीं।''

''तुम नहीं जानते, राधेय, कि मैंने तुमपर कितना भरोसा किया है!''

मैंने स्पष्ट देखा कि दुर्योधन के नेत्रों के कोर भीग गए थे। सचमुच मेरी बात उसे लग गई थी। मामा भी अस्वाभाविक रूप से गंभीर हो गया था। मैं तुरंत बोल पड़ा, ''आप सभी मुझे क्षमा कर दीजिए। मुझसे भूल हो गई। फिर एकदम मुद्रा बदलकर मैंने पूछा, ''महाराज को तो आपने राजी कर लिया है न?''

''वह राजी तो नहीं हो रहे थे, पर कर्णिक ने उन्हें बहुत उलटा-सीधा

समझाया, तब कहीं जाकर राजी हुए।'' मामा ने कहा। दुर्योधन अब भी गंभीर था।

''अब हमें क्या करना चाहिए?'' मैंने बात को आगे ढकेला।

''ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए कि पांडव स्वयं वारणावत जाने का प्रस्ताव करें।'' कर्णिक बोला।

''इसके लिए तो प्रचार होना चाहिए कि मेला विराट् और अद्भुत होगा।'' मैंने कहा।

''यह कार्य भी हम लोग पूरा कर देंगे; पर मेले के प्रति पांडवों के मन में आकर्षण कैसे पैदा किया जाए, मुख्य प्रश्न तो यह है।'' कर्णिक ने समस्या को उभारा।

''इसके लिए यदि जरा भी हम लोगों ने रुचि दिखाई तो पांडव शंकित हो जाएँगे।'' इस बार मामा बोला, ''इस कार्य में तुम्हें और तुम्हारे प्रदेश के लोगों को ही रुचि लेनी चाहिए, जिससे उन्हें जरा भी संदेह न हो।''

''अवश्य प्रयत्न करूँगा। कोई-न-कोई उपाय निकालूँगा।'' फिर मैंने दुर्योधन का चषक भरते हुए कहा कि ''क्या बात है जो तुम एकदम गुमसुम हो गए? अरे, दो-चार घूँट और गले से नीचे उतारो, सारी समस्या हल हो जाएगी।''

''पर तुम तो बिलकुल नहीं पी रहे हो।'' कुछ प्रकृतिस्थ होते हुए दुर्योधन बोला।

''मैंने कभी नहीं पी है। और जो कार्य अब तक नहीं किया है, उसे अब आरंभ करूँ, यह कुछ अच्छा नहीं लगता।''

''क्या अब तक तुम कभी राज्य-सिंहासन पर बैठे थे जो अब बैठना आरंभ कर दिया है?'' चषक अधर से लगाते हुए उसने ऐसा प्रश्न प्रस्तुत किया जिसका उत्तर मेरे पास हँस पड़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

वह भी हँसने लगा। बोला, ''लगता है, तुम्हें पिलानेवाला कोई नहीं है। तुम्हारी वह कहाँ गई?''

''कौन?''

''अरे वही।'' स्पष्टतया उसका संकेत माला की ओर था।

मामाजी से कुछ संकोच करते हुए मैंने कुछ ही शब्दों में उसकी स्थिति बताई।

''तुम उसे अपने पास रख ही क्यों नहीं लेते? वह मत्स्य कन्या अद्भुत है, मामाजी। आपने तो देखा ही होगा?'' दुर्योधन ने मुसकराते हुए मामाजी से पूछा।

''देखा तो अवश्य है, पर देखने की दृष्टि से नहीं देखा है।'' अधरों पर तैरती

मरे को कोई मार सकता है! लगता है, दुर्योधन पर मैरेय का असर होने लगा है, जो वह कुछ-का-कुछ समझ बैठता है।''

''मुझपर तो उतना नहीं है जितना आपपर है। यही बताने के लिए मैंने आप को टोका था।'' दुर्योधन ने कहा और फिर बातों की उलझती डोर की मुख्य परिधि में खींचते हुए वह बोला, ''मामाजी की योजना है कि वारणावत में पांडवों के ठहरने के लिए जो प्रासाद बनाया जाए, वह बहुत बड़ा न हो और वह मोम, सन, चरबी एवं लाख से बनाया जाए; जिसमें आग लगते ही वह भभक पड़े।''

इन वस्तुओं से भी प्रासाद बन सकता है, मैंने इसकी कल्पना तक नहीं की थी। मैंने चकित हो पूछा, ''आखिर इसे बनाएगा कौन? मय के अतिरिक्त आर्यावर्त में कोई ऐसा शिल्पी दिखाई नहीं देता।''

''नहीं, और लोग भी हैं। मामा ने एक कलाकार को खोज निकाला है।'' दुर्योधन ने बताया।

''किंतु मुझे विश्वास नहीं है।'' मैंने कहा, ''और मय से इस विषय में आप लोग बात तक मत कीजिएगा।''

''मैं कोई बच्चा हूँ क्या, जो मय से सलाह करने जाऊँगा। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि वह विदुर के प्रभाव में है। जहाँ उसे इस योजना का आभास हुआ तहाँ किए-धरे पर पानी फिरा।''

मैंने सुना तो था, पर विश्वास नहीं था कि शकुनि मैरेय जल की तरह ग्रहण करता है। वह गटागट कई चषक कंठ के नीचे उतार चुका था, फिर भी चेतना पूर्ववत् थी। जब उसने इस बार स्वयं मैरेय पात्र चषक में उड़ेला तो मैं देखता रह गया।

''क्या देख रहे हो?'' उसने पूछा।

''देख रहा हूँ कि आप चषक पर चषक पीते जा रहे हैं, पर आपकी चेतना पर उसका कोई प्रभाव नहीं है।''

वह हँस पड़ा, ''मैरेय मेरी चेतना को क्या पी सकेगा, वरन् मेरी चेतना मैरेय पीती है।''

मुझे कुछ आभास हो रहा था कि जब बात बहकती थी तो दुर्योधन और कर्णिक दोनों कुछ ऊब का अनुभव करते थे। इस बार कर्णिक ने सँभाला, ''वास्तविकता तो यह है कि महाराज की चेतना मैरेयपान के बाद ही अपने पंख फैलाती है। सारी योजना इन्हीं चषकों में डूबकर बनाई गई है।''

'तभी इसमें दुर्गंध भरी अपवित्रता है।' मन की यह बात मन में ही उठी और

बैठ गई। मैं कुछ बोल नहीं पाया।

कर्णिक ने ही बताया, ''निश्चित रूप से प्रासाद बन जाएगा और उसके बनाने में किसी विशेष शिल्पीय कौशल की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। संपूर्ण प्रासाद पहले लकड़ी से बनाया जाएगा। दो लकड़ियों के बीच के रंध्रों में चरबी और लाख भरे जाएँगे। इन काष्ठ प्राचीरों पर लाख का एक मोटा आवरण चढ़ाया जाएगा। इन्हीं आवरणों पर प्राकृतिक दृश्यों और पशु-पक्षियों का चित्रांकन होगा। पांडव तो इस प्रासाद की कलात्मकता देखकर ही चमत्कृत हो जाएँगे।''

''चमत्कार की बात तो है ही। इतिहास में कदाचित् ही किसीका अंत्येष्टि स्थल इतना कलात्मक रहा हो।'' मैंने कहा और सबके सब हँस पड़े। ''पर सबसे बड़ी बात है, इसे सफलतापूर्वक बना डालने की।''

''वह तो है ही। पर इससे भी बड़ी बात एक और है।'' दुर्योधन मेरे कथन पर छूटते ही बोल पड़ा।

''वह क्या है?'' मैंने पूछा।

''पांडवों को वारणावत भेजने और उन्हें प्रासाद में निवास करने के लिए राजी कर लेने की।''

''मुझे तो पहली बात अधिक कठिन मालूम पड़ती है।'' मैंने कहा।

''और मुझे दूसरी।'' शकुनि बोल पड़ा।

''यदि आपको पहली बात सरल लगती है तो उसका दायित्व आप ही अपने ऊपर लें।'' मैंने कहा।

''अरे राधेय, तुम्हारे कहने के पहले ही मैं उसका दायित्व ले चुका हूँ। इतना ही नहीं, उसकी व्यवस्था भी कर चुका हूँ।'' कितना विश्वास था मामा की उन आँखों में, जो बड़े अभिमान से मुझे देख रही थीं।

''आखिर कहाँ से खोज निकाला ऐसे शिल्पी को, मामा?'' मैंने पूछा।

''मैं यह नहीं बताऊँगा, जब तक तुम अपना दायित्व नहीं स्वीकार करते।''

''तब मेरा भी दायित्व निश्चित कर दीजिए।'' मैंने कहा।

''तुम्हें पांडवों को वारणावत भेजने के लिए परिस्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी।''

''मुझसे जो भी हो सकेगा, करूँगा।''

मेरा आश्वासन पा लेने के बाद ही मामा ने बताया, ''प्रासाद निर्माण का कार्य पुरोचन को सौंप दिया गया है।''

मैंने पुनः शंका की, ''पुरोचन कोई शिल्पी तो है नहीं।''

''वह शिल्पी भले ही न हो, पर वह कार्य सहर्ष उसने अपने हाथ में लिया

अचल आस्था को ऋतुओं का परिवर्तन भी डिगा नहीं पाता।

नित्य नियमित समय पर मेरी आराधना आरंभ होती। मेरे अवचेतन में यह बात सदा बनी रहती थी कि मेरी अस्मिता कभी इसी धारा में बहकर आई थी और अंत में इसी धारा में बहा दी जाएगी। धारा सा मेरा अस्तित्व धरा कब तक सँजोए रहेगी, पता नहीं।

एक प्रहर दिन चढ़ने के बाद ही मैं जल से निकलता। बहुत से लोग तट पर खड़े रहते, मुझे आता देखकर जय-जयकार करते। यह कठिन साधना समाप्त कर लौटते समय मेरी तमतमाती आकृति लोगों को ऐसी लगती मानो मैं इच्छा भर सूर्य की तेजस्विता पीकर आ रहा हूँ।

उस दिन रविवार था। मेरी साधना का क्रम लंबा चला था। तट पर प्रजाजनों की भीड़ भी अधिक थी। जल से निकलते ही एक गगनभेदी जय-जयकार हुआ और उसीके बीच से एक विलक्षण मुसकराहट मेरी ओर बढ़ी।

''आप मुझे पहचानते हैं ?'' उसने पूछा।

मुझे लगा कि चेहरा कुछ जाना-पहचाना है। मैं अपनी स्मृति को कुरेदता रहा, फिर भी पहचान नहीं पाया। मैंने अपनी असमर्थता व्यक्त की।

वह हँस पड़ा, ''अब क्यों पहचानिएगा, राजा जो ठहरे! पर इसमें आपका क्या दोष ? सत्ता हर आँख पर परदा डाल देती है।''

कितना विचित्र था कि मेरी साधारण-से-साधारण भूल का दोष मेरे राजा के सिर मढ़ दिया जाता था; किंतु मैं कर क्या सकता था ? मैंने बड़ी विनम्रता से कहा, ''मैंने आपको देखा तो अवश्य है; पर याद नहीं आ रहा है कि कहाँ देखा है!''

वह जोर से हँस पड़ा, ''मैं न याद आऊँ तो कोई बात नहीं, पर आपको अपनी प्रतिज्ञाएँ तो याद हैं ?''

''कैसी प्रतिज्ञाएँ ?''

''अरे, तुम उन्हें भी भूल गए!'' वह एकदम चकित हो उठा। एक क्षण रुककर गंभीर ध्वनि में बोला, ''अच्छा तो सुनो, मैं गांगी ग्राम का ब्राह्मण मांत्रिक हूँ। मैंने आपको बताया था न कि आप एक-न-एक दिन अवश्य राजा होंगे। तब आपने प्रतिज्ञा की थी कि यदि मैं राजा हो जाऊँगा तो किसी भी ब्राह्मण को कभी खाली हाथ नहीं लौटाऊँगा।''

इतना सुनते ही मुझे सब स्मरण हो आया। मेरी श्रद्धा ने अनायास मुझे उसके चरणों पर झुका दिया। मन के दर्पण पर हस्तिनापुर के राजज्योतिषी सुवर्चा की मुसकराहट भी उभर आई। वह बोलता सुनाई पड़ा कि मैंने भी तुम्हारी हस्तरेखा

देखकर बताया था कि तुम्हारी सूर्य रेखा ऐसी है जैसी बड़े-बड़े प्रतापी राजाओं की होती है।

अपनी भूल के लिए मैंने उस ब्राह्मण मांत्रिक से क्षमा माँगी और बड़े आदरभाव से प्रासाद में चलने का उससे निवेदन किया। भीड़ स्तब्ध हो यह सब देखती रही।

उस ब्राह्मण की अहम्मन्यता ने मेरा आग्रह स्वीकार नहीं किया और बोला, "मैं आपका आतिथ्य स्वीकार करने नहीं आया था। मैं तो केवल यह देखना चाहता था कि राजा होने के बाद भी आपको अपनी प्रतिज्ञाएँ याद रहती हैं या नहीं।"

"किंतु महाराज, मैं यहाँ आपका क्या स्वागत कर सकता हूँ? आपको क्या दे सकता हूँ?"

"ब्राह्मण किसीसे कुछ लेना नहीं चाहता, राजन्। वह स्वयं ज्ञान का अमृत देता है और समाज का विष पीता है। वह समाज के बौद्धिक जगत् का अधिष्ठाता है। आश्रम ही उसका प्रासाद है। किसी अन्य प्रासाद प्रवेश की वह आकांक्षा नहीं करता।" उस ब्राह्मण की ध्वनि में तप की ऊर्जा थी। मैंने अनुभव किया कि आर्यावर्त का ब्राह्मण ऐसे लोगों की तपस्या पर जीवित है, द्रोण जैसे क्रीत और स्खलित ब्राह्मणों पर नहीं।

मैं सचमुच उसके समक्ष श्रद्धानत था। मुझ जैसे व्यक्ति के मुख से शब्द सहम-सहमकर निकल रहे थे, "फिर मैं यहाँ कौन सी वस्तु दे सकता हूँ, महाराज? मेरे पास क्या है?"

"क्यों? तुम वचन दे सकते हो।" वह हँस पड़ा, "वचन का मूल्य किसी वस्तु से कम होता है क्या?"

"उसे तो मैं पहले ही दे चुका हूँ।"

"तब?" वह कुछ सोचने लगा। उसके हाथ मेरे कुंडलों की ओर बढ़े, "ये कितने आकर्षक हैं! इन कुंडलों के कारण ही हर व्यक्ति की दृष्टि तुम्हारे कर्णों पर लगी रहती है।"

"तब आप इन्हें ही ले लीजिए।" इतना कहते ही मेरे दोनों हाथ बड़े झटके से अपने कानों पर गए।

"नहीं-नहीं, ऐसा मत करो!" वह चीख पड़ा, "तुम्हारे कुंडलों में दैवी चमत्कार की आभा है। इसे तुम किसीको मत देना।"

"पर मैं तो आपको दे चुका हूँ। अब ये मेरे नहीं हैं।"

"कुंडल निकल जाने पर फिर क्या रह जाएगा?" उसने आश्चर्य से चकित

नितांत कुटिल मुसकराहट के बीच मामा कहता गया, ''अच्छा हुआ, जो मैंने दृष्टि भरकर उसे नहीं देखा, नहीं तो उस मत्स्यगंधा के लिए मेरे पुत्र को भी भीष्म प्रतिज्ञा करनी पड़ती।'' इस बार की हँसी इतनी प्रगल्भ थी कि मुझे लगा कि कक्ष के वातावरण में माला की खिलखिलाती आत्मा कहीं से चली आई है।

यह स्थिति अधिक देर तक रह न सकी। अचानक शकुनि की मुद्रा बदली, जैसे वह कोई वस्तु पा गया हो, ''तुम्हारी माला इस कार्य में सहायक हो सकती है।'' उसने पूछा, ''उसकी माँ मत्स्य लेकर हस्तिनापुर जाती है न?''

''हाँ, कभी-कभी माँ जाती है और कभी-कभी पिता।'' मैंने कहा।

''क्या वह नहीं जा सकती?''

''कहने पर क्यों नहीं जा सकती? पर जब से पांडवों के सेनाधिपति के पुत्र ने उसे हरने की चेष्टा की, तब से उसकी माँ उसे अकेली नहीं छोड़ती।''

''अकेली न जा सके तो कोई बात नहीं, माँ के साथ ही सही। उसे मत्स्य लेकर पांडवों के अंतःपुर में जाना चाहिए और किसी बहाने वारणावत में लगनेवाले मेले की भव्यता की चर्चा करनी चाहिए।''

''यह कार्य तो केवल उसकी माँ कर सकती है।'' मैंने कहा।

''तू रह गया मूढ़-का-मूढ़ ही!'' अनुभव भरी एक दृष्टि उसने मुझपर डाली और बोला, ''कभी-कभी जो कार्य नारी नहीं कर सकती, वह उसका सौंदर्य कर देता है।'' फिर उसने लबालब भरे चषक की ओर देखा, मानो उससे निकलती कोई मूर्ति उसे दीख पड़ रही हो। वह बोलने लगा, ''उषा की अरुणिमा को नवनीत में मिलाकर बनाई गई वह पुतली सचमुच कितनी सरल लगती है! उसके अधरों में मधु है। उसके हास्य में निर्झर का कल-कल है। उसकी आँखों में नील चषक से छलकती मदिरा है, जो बहुतों के विवेक को बहा ले जा सकती है। वह हमारे बड़े काम की है।''

''मामाजी, यदि उसे आपने अपने काम का बना लिया तब तो यह ब्रह्मचारी मारा गया।'' दुर्योधन ने मेरी ओर संकेत करते हुए मामा पर व्यंग्य किया। यह पहला अवसर था, जब दुर्योधन ने मेरे सामने मामा की चुटकी ली।

किंतु मामा भी निरुत्तर होनेवाले नहीं थे, ''चाहे ब्रह्मचारी मरे या ब्रह्मचर्य। दो में से एक को तो मरना ही है।'' उनके इस कथन के साथ हँसी की एक ऐसी धारा बही जिसमें हम बड़ी देर तक डूबते-उतराते रहे।

अंत में निर्णय यही लिया गया कि उद्देश्य के अनुसार सफल भूमिका के लिए मैं माला को राजी करूँ। उसीके माध्यम से पांडव परिवार में वारणावत के

मेले के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया जाए। यदि उसके जाने की कोई तिथि पहले से ज्ञात हो तो हस्तिनापुर में प्रच्छन्न रूप से उसकी सुरक्षा के लिए उसपर आँख भी रखी जाए। ऐसी स्थिति में वह बिना माँ के भी जा सकती है। दूसरी ओर मामा भरी सभा में धृतराष्ट्र से बलपूर्वक आग्रह करें कि उक्त मेले की देखरेख के लिए कौरवों को भेजा जाए, उनके आवास की समुचित व्यवस्था भी की जाए। ज्यों ही भीम मामा के मुख से कौरवों के भेजने का प्रस्ताव सुनेगा त्यों ही उसकी मूर्खता पूरी तेजस्विता के साथ इस प्रस्ताव का विरोध करेगी और कहेगी कि कौरव नहीं, मेले की देखरेख के लिए हम पांडव जाएँगे। फिर भी मामा कौरवों के लिए हठ करता रहेगा, जिससे पांडवों को किसी प्रकार का संदेह न होने पाए।

इस निर्णय के बाद दुर्योधन ने मेरी ओर देखकर कहा था, "समझे मामाजी की राजनीति? समुद्र-मंथन के समय शेषनाग की फूत्कार स्वयं न सहनी पड़े, इसके लिए देवताओं ने उसके मुख की ओर ही खड़े होने की इच्छा व्यक्त की। उनकी इस चाल में राक्षस आ गए।"

मामा अपनी प्रशंसा पर मैरेय का पात्र आवेश में पटककर हँसने लगा। मेरे मन में आया कि कहूँ, 'उस समय देवताओं की चाल में राक्षस आ गए थे, इस समय राक्षसों की चाल में देवता आ जाएँगे।' पर मैं कुछ बोल न सका।

मैं अनुभव कर रहा था कि मुझमें दो व्यक्ति जी रहे हैं। एक कृतज्ञता के दलदल में फँसा हुआ उपकार के बोझ से दबा-दबा और दूसरा गंगा की धारा में चट्टान की तरह अडिग, भगवान् भास्कर के समक्ष प्रणत, निर्भय, निर्द्वंद्व और निष्कलुष। इन दोनों व्यक्तियों में संतुलन स्थापित करने की मैं असफल चेष्टा करता रहा।

अपने अतिथियों के शयन की समुचित व्यवस्था कर निशीथ के गहन अंधकार में जब मैं अपने शयनकक्ष की ओर बढ़ा चला जा रहा था तब मुझे ऐसा लग रहा था कि मैं दो ओर से खींचा जा रहा हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं कि कभी मैं बीच से टूट जाऊँ।

□

उषा की लालिमा जब अंधकार निगलने का उपक्रम आरंभ करती, उसके पूर्व ही मैं गंगातट पर चला आता था। एक नादान शिशु-सा अपने माँ के आँचल में छिप जाने की लालसा मुझमें जोर मारती और मैं 'जय माँ गंगे' कहता हुआ धारा में कूद पड़ता। कुछ समय तक किल्लोल करता, फिर धारा में खड़ा हो जाता और ध्यानावस्थित हो सूर्य की आराधना में लगभग एक प्रहर बिता देता। मेरी इस

हो पूछा।

"मात्र कर्ण रह जाएगा।" मेरी आवाज पहले से कुछ तेज हुई।

"तो समझ लो, मैंने यह कुंडल ले लिया। अब तुम मात्र कर्ण हो। प्रजा तुम्हें इसी नाम से संबोधित करेगी। इतिहास तुम्हें इसी नाम से स्मरण करेगा। किंतु ब्राह्मण को दिया हुआ यह कुंडल तुम अपने कर्णों में ही रहने दो।" अद्‌भुत थी उसकी वाणी की ओजस्विता, मानो अदृश्य पर लिखा मेरा भविष्य वह पढ़ रहा हो।

उसके इतना कहते ही भीड़ जैसे चिल्ला उठी, "महाराज कर्ण की जय हो!" यह जयकार एक बार नहीं, वरन् अनेक बार गूँजी। विलक्षण प्रभाव मेरे मन पर पड़ा। घोर रव से आक्रांत वातावरण को बेधती मेरी दृष्टि आकाश की ओर उठी। सूर्य मुझपर मुसकरा रहा था।

मैं आज तक नहीं समझ पाया कि वह कैसा चमत्कार था।

□

मैं अब भी समझता हूँ कि मेरे जीवन में चमत्कारों ने अद्‌भुत भूमिका निभाई है। इन्हें मैं मात्र चमत्कार कहूँ या नियति की भंगिमाएँ? ऐसी हर भंगिमा मेरे जीवन पर एक अमिट छाप छोड़ जाती थी। उसीका परिणाम था कि मैं सबकी जिह्वा पर मात्र कर्ण रह गया। मेरे शरीर में तो और भी अंग हैं, कदाचित् मेरे कानों से भी बलिष्ठ और प्रभावशाली भी। फिर मेरी अस्मिता कानों से ही क्यों जुड़ी? अवश्य ही इसमें मेरे कुंडलों का कोई चमत्कार था।

कर्ण होने के बाद भी मैं माला के लिए राधेय ही था। उसकी आत्मीयता इच्छा न होते हुए भी बहुत सी बातें स्वीकार कर लेती थी; फिर भी वह मुझे कर्ण स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। यह उसकी आत्मीयता ही थी कि वह हमारे षड्‌यंत्र में भी सम्मिलित हो गई। उसने अपना दायित्व जिस कुशलता से निभाया, वह सराहनीय था। उसने बताया कि जीवन में पहली बार मैं हस्तिनापुर के प्रासाद में गई थी। प्रथम तो मैं वैभव देखकर चकरा गई।

"तुझे किसीने रोका नहीं?" मैंने पूछा।

"मुख्य द्वार पर किसीने रोका अवश्य था, पर उसी समय कहीं से आवाज आई कि जाने दो, मत्स्य लेकर आई है।" वह हँसते हुए बोलती रही, "जब नाटक का हर पात्र अपनी भूमिका में सन्नद्ध था तब भला मुझे कैसे बाधा होती!"

वह अपनी बिहँसती मुद्रा में पांडवों से हुई वार्त्ता का उल्लेख करने लगी। उसने बताया कि "योजनानुसार मैं बेहिचक सीधे पांडुपुत्रों तक पहुँच गई। मुझे

देखते ही अर्जुन बिगड़ पड़ा, 'यहाँ कैसे चली आई?'

" 'मत्स्य लेकर आई हूँ।' भीतर से डरते हुए भी मैंने बड़े सामान्य भाव से कहा।

" 'मत्स्य लेकर आई है तो यहाँ तक कैसे चली आई?' भीम तड़पा।

"मैं मुसकराती रही, मुसकराती गई। मेरी बनावटी मुसकराहट के मधु में मक्खियाँ चिपकने लगीं। 'बड़ी ढीठ मालूम होती है।' भीम बोला और स्वयं टोकरी खोलकर देखने लगा। कितना विचित्र लग रहा था वह! उसकी दृष्टि कभी मेरी आकृति की ओर और कभी मेरी टोकरी में पड़ी मछलियों की ओर जाती रही। उसीके बगल में अर्जुन भी था। उसका व्यक्तित्व जितना सुंदर और आकर्षक था उतनी ही उसकी आँखों में मेरे प्रति ललक थी। मैंने सुन रखा था कि नारी ही अर्जुन की सबसे बड़ी दुर्बलता है।"

"यह अर्जुन की ही नहीं वरन् हर प्रगल्भ पौरुष की दुर्बलता है।" माला की बातों के बीच में ही मैं बोल पड़ा। वह हँस पड़ी।

"हाँ, तो तुमने फिर क्या किया?" मैंने बात आगे बढ़ाई।

"मैंने अपनी मुसकराहट में थोड़ा विष और घोला और पूछा, 'क्या देख रहे हैं, महाराज?'

" 'देख रहा हूँ कि तेरी आकृति में जड़ी मछलियाँ कितनी चंचल हैं!' भीम ने मेरी आँखों की ओर संकेत कर कहा।

" 'मैं ये मछलियाँ नहीं, टोकरी की मछलियाँ बेचने आई हूँ।'

" 'टोकरी की मछलियाँ तो प्रासाद के द्वार से ही बेची जा सकती थीं, तुम्हें यहाँ तक आने की आवश्यकता क्या थी?'

"अब मैं कुछ बोल नहीं पाई। केवल मुसकराती रही।"

माला की इस बात से मैं भी सोचता रह गया कि जो कार्य नारी की बुद्धि नहीं कर पाती, उसे उसकी मुसकराहट या आँसू कर देते हैं।

माला ने ही बताया कि "ऐसी स्थिति अधिक देर तक नहीं रही। इसी बीच गुरु गंभीर वाणी सुनाई पड़ी, 'क्या बात है?' अर्जुन और भीम दोनों पीछे हट गए। अब मैंने बड़े साहस से मछलियाँ युधिष्ठिर को दिखाईं और कहा, 'महाराज, इतनी अच्छी मछलियाँ बहुत कम पकड़ में आती हैं।'

" 'तो तू मछलियों की नहीं वरन् पकड़नेवाले या वाली की प्रशंसा स्वयं कर रही है।' युधिष्ठिर ने कहा और हँसते हुए बोले, 'यह भोजन का मामला है। इसमें भीमसेन का ही निर्णय अंतिम होगा।' इतना कहकर वे अपने कक्ष में चले गए।

'' 'मेरी राय से तो सभी ले लेनी चाहिए।' भीम मछलियों पर हाथ लगाते हुए बोला। फिर मुझे जरा ध्यान से देखकर कहा, 'और देख, ऐसी मछलियाँ यदि रहें तो दूसरे-तीसरे दिन चली आया कर।'

'' 'किंतु महाराज, अब इधर हस्तिनापुर आना नहीं होगा।'

'' 'क्यों? क्या बात है?'

'' 'वारणावत के मेले में जाऊँगी।' मेरी मुद्रा पर अभिनय का और पानी चढ़ा, 'सुना है, बड़ा विशाल मेला होगा। बहुत दूर-दूर से वणिक आ रहे हैं।'

'' 'मछली तो सड़नेवाली वस्तु है रे! इसे लेकर मेले में क्या जाएगी!'

'' 'मछली नहीं, मैरेय लेकर जाऊँगी।' मैंने बहुत इठलाते हुए कहा।

'' 'तो क्या, तू मैरेय भी बेचती है?' मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया। भीम बोला, 'तभी तेरी हर मुद्रा में मादकता है। क्या तू मैरेय भी हस्तिनापुर ले आती है?'

''मैंने बताया, 'मैरेय लेकर तो मैं कभी-कभी ही आती हूँ। मेरा सारा मैरेय मामाजी खरीद लेते हैं।'

'' 'कौन मामाजी?' भीम के साथ अर्जुन के भी कान जैसे खड़े हो गए।

''मैंने कहा, 'शकुनि मामा।' भीम ने रहस्यमय दृष्टि अर्जुन की ओर घुमाई। उसकी मुखाकृति से ऐसा लगा जैसे वह अंधकार में कुछ देख रहा हो। 'वारणावत के मेले के संबंध में तुझे कहाँ से पता चला?' अर्जुन ने पूछा।

'' 'मुझे मामाजी ने ही बताया था और कहा था कि तू अपनी सारी माध्वी लेकर वहीं चली आना।'

'' 'तब तुमने क्या कहा?' भीम की जिज्ञासा ने एक जोर और मारा।

'' 'स्वीकृति न देती तो और क्या करती!' मैंने विचित्र मुद्रा बनाई, 'मुझे पता चला है कि कौरव भी मेले की देखरेख के लिए वहाँ जाने वाले हैं।'

''इतना सुनते ही अर्जुन पुन: कक्ष में गया और थोड़ी देर के बाद युधिष्ठिर को साथ लेकर लौटा। युधिष्ठिर की दृष्टि इस बार पहले से तीक्ष्ण लगी, जैसे वे मुझमें कुछ खोजने की चेष्टा कर रहे हों। मेरी आँखें नीची हो गईं। उन्होंने गंभीर स्वर में पूछा, 'तुझे कैसे पता चला कि कौरव ही मेले की देखरेख के लिए जाने वाले हैं?'

'' 'मेरे पिताजी ने बताया था। वह परसों ही वारणावत से लौटे हैं। उन्होंने कहा था कि कौरवों के निवास के लिए एक भव्य प्रासाद का निर्माण किया जा रहा है।' मैंने एक स्वर में यह सब कह डाला। पल भर में उनकी मुद्रा बदली। वे भीम

को संबोधित करते हुए बोले, 'ले लो इसकी मछलियाँ और निष्क देकर इसे विदा करो।' इतना कहकर वे अपने कक्ष की ओर दो-चार पग ही बढ़े होंगे कि अचानक पुन: लौटे, जैसे कुछ भूल गए हों। बोले, 'देख, यहाँ तक आने का अब कभी साहस मत करना।' इतना कहकर वे जाने लगे। पर मैं चुप होने वाली कहाँ थी, 'आप अप्रसन्न हो गए क्या, महाराज?'

" 'मैंने कहा न कि अधिक बोलने का प्रयत्न न कर। मैं ऐसे लोगों का मुँह देखना भी पसंद नहीं करता, जो इधर-उधर की लगाते हों।'

" 'मैंने अपने मन से तो कुछ कहा नहीं।' भरे गले से मैं बोली, 'इन्हीं लोगों ने पूछा तो मैंने बताया।' और लगी सिसकने।"

माला से यह सारी कथा सुनने के बाद मैं हँस पड़ा और बोला, "तेरी भूमिका से तेरा उपसंहार कहीं अधिक शक्तिशाली था, माला। जो तू कहकर नहीं कर पाई, वह काम तेरी सिसकन ने कर दिया।"

"कर दिया या नहीं किया, यह तो नहीं जानती; पर मैं अपनी सिसकन वहाँ छोड़ अवश्य आई हूँ।" माला बोली।

"नारी की सिसकन कभी व्यर्थ जाए, यह असंभव है।" मैं अपने आसन से उठा और उसकी पीठ थपथपाते हुए बोला, "इस सफलता पर तुझे बधाई दूँ या तेरी पीठ ठोकूँ, या तुझसे पूछूँ?"

"क्या?"

"यही कि तू सचमुच लकुच की ही कन्या है या किसी नट की? क्योंकि अभिनय में ऐसी सफलता नट कन्या के अतिरिक्त किसी और को नहीं मिल सकती।" वातावरण में गूँजती हमारी हँसी दूसरों के लिए रहस्य बनी रही।

□

षड्यंत्र के चरम शिखर पर विराजमान यह वह सभा है, जिसमें यह निश्चय किया जाएगा कि वारणावत के मेले की देखरेख के लिए किसे भेजा जाए। यद्यपि इसमें मेरे उपस्थित रहने का कोई औचित्य नहीं था। यह मामला विशुद्ध रूप से हस्तिनापुर का था और इसपर हस्तिनापुर की ही परिषद् को निर्णय लेना था; फिर भी मैं बुलाया गया था।

दुर्योधन का कहना था, "पिताजी अस्थिर मन:स्थिति के हैं। बड़ा आगा-पीछा सोचते हैं। अभी कल ही वे कह रहे थे कि तुम लोगों की योजना सफल न हो सकी तो क्या होगा? हम लोग कहीं मुँह दिखाने योग्य नहीं रह जाएँगे। दूसरी ओर यह भी सोचते हैं, यदि युधिष्ठिर सिंहासनारूढ़ हुए तो हमारे बच्चों का क्या

होगा? वह तो किसी प्रकार जी जाएँगे, पर उनके बच्चों को तो माँगे भीख भी नहीं मिलेगी।

"जब पिताजी की मति स्वयं डाँवाँडोल है तो हम लोग क्या कर सकते हैं?"

"डूबती नाव को बुद्धि और विवेक के पतवार से किनारे लगा सकते हैं।" दुर्योधन ने कहा, "तुम्हारा रहना नितांत आवश्यक है। कैसा पड़े, कैसा न पड़े।"

"हर्ष-विषाद, दुःख-सुख, हर परिस्थिति में यदि साथ नहीं दिया तो मित्रता कैसी?" अनिच्छा होते हुए भी कर्तव्यबोध ने षड्यंत्र की इस अग्नि में मुझे पहले से ही झोंक रखा था।

अपराह्न संपन्न होनेवाली इस सभा के लिए मैं मध्याह्न के कुछ पूर्व ही हस्तिनापुर पहुँच गया था। ज्यों ही मुख्य द्वार पर मैं रथ से उतरा, एक बिहँसती आवाज मुझसे टकराई, "सभा में भाषण ही होंगे या अभिनय भी?"

माला अब मेरे बहुत निकट आ गई थी। उसे सबकुछ मालूम था। वह मत्स्य लेकर अपनी माँ के साथ तमाशा देखने आई थी। उसने अपनी स्वाभाविक मुद्रा में धीरे से कहा, "यदि अभिनय हो तो मैं भी चलूँ। शायद मुझे भी कोई भूमिका निभानी पड़े। यदि भाषण ही होना है, तब तो आप ही काफी हैं।"

इस समय उसकी ध्वनि भी अस्पृश्य सी लग रही थी। मैं उससे दूर भागना चाहता था।

"तुम एकदम यहाँ से हट जाओ। कोई देखेगा तो क्या कहेगा?"

वह इठलाई, "आखिर डर गए न! बड़े साहसी बनते थे!" दाहिने हाथ से विचित्र मुद्रा बनाते हुए वह बोली, "सिंह के तन में चूहे का हृदय!" और भाग गई।

उसकी भंगिमा भले ही मोहक रही हो, पर उसका इस समय मिलना, वह भी प्रासाद के द्वार पर, खतरनाक था। मैं अपने सचिव के साथ चुपचाप उद्यान की ओर बढ़ा।

"नारी की मित्रता बिच्छू का पालना है, पता नहीं कब डंक मार दे।" मैं हँसते हुए सचिव से बोला।

"पर महाराज, इस समय तो उसने डंक नहीं मारा वरन् शकुन बनाया।"

"तुम्हारा तात्पर्य?"

"मतलब यह कि किसी कार्य में यदि मत्स्य-कन्या मिल जाए तो समझना चाहिए कि शकुन अच्छा है। काम अवश्य होगा। और वह भी प्रासाद के द्वार पर

ही मिल गई।'' मैंने अनुभव किया कि मेरा सचिव मुझसे कहीं अधिक आशान्वित है।

भोजन के बाद ही मेरी जो बातें दुर्योधन से हुईं, उनमें दो शंकाएँ उभरकर सामने आईं। पहली यह कि यदि पितामह ने कुछ कहा तो पिताजी टाल नहीं सकेंगे। दूसरी यह कि आचार्य द्रोण के कथन का कभी-कभी बड़ा असर पड़ता है। किंतु मैं दुर्योधन से सहमत नहीं था। मेरे विचारों से पितामह की बात तो मानी जा सकती है, पर द्रोण तो राजकीय चाकर हैं। चाकर महाराज को प्रभावित करे? यह उलटी गंगा हस्तिनापुर में ही बह सकती है।

दुर्योधन हँस पड़ा, ''चाकर नहीं, वरन् उसका तर्क तो प्रभावित कर सकता है।'' वह मुसकराया। बोला, ''किंतु तुम्हें आचार्य की चिंता विशेष नहीं करनी है। मैंने अश्वत्थ को समझा दिया है। वह अपने पिता पर नियंत्रण रखेगा। अब मात्र पितामह के संबंध में सोचना है।'' इतना कहकर वह मेरा मुँह देखने लगा, जैसे कोई समाधान मैं तत्काल उसे सुझाऊँ।

''तब कोई ऐसा उपाय निकाला जाए कि वे आने ही न पाए।''

''यह नहीं हो सकता। पिताजी ने उन्हें स्वयं बुलाया है।'' कुटिल मुसकराहट के साथ वह कहता गया, ''बस एक ही बात हो सकती है कि हम लोगों को वारणावत भेजे जाने का तुम दृढ़ता से समर्थन करो। यह जगद्विदित है कि तुम्हारे प्रति पितामह की धारणा अच्छी नहीं है। वह बुद्धिमानी से तुम्हें काटने की कोशिश करेंगे। दूसरी ओर भीम भी तुम्हारा जमकर विरोध करेगा। यह परिस्थिति हमारी योजना के अनुकूल पड़ेगी।''

कितनी युक्तियाँ सोची गईं! कितनी तैयारियाँ की गईं! झूठ के लिए इतनी जुताई और गोड़ाई की आवश्यकता! सत्य का बीज तो पत्थर पर भी जम जाता है।

यों तो यह हस्तिनापुर के मात्र पारिषदों की सभा थी, फिर भी सभाकक्ष अच्छी तरह भर गया था। इस अभिनय का पात्र न होने पर भी अनेक कर्मचारी दर्शक की भूमिका में थे। मैं पीछे ही बैठने जा रहा था कि दुर्योधन ने मुझे अपने बगल में ही बैठा लिया। नियमानुसार महामात्य विदुर ने विस्तार से वारणावत के मेले की चर्चा की; पर साथ ही यह भी कहा कि ''यह मेला इसी वर्ष इतने विस्तार से क्यों लगाया जा रहा है? इसका उचित कारण तो महाराज ही बता सकते हैं।''

इतना सुनना था कि महाराज के मस्तक पर पसीने की बूँदें चुभचुभा आईं। पाप का उद्वेग पुण्य से कहीं अधिक होता है। यही उद्वेग इस समय धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व पर उभर आया था। दुर्योधन ने धीरे से मेरे कान में कहा, ''देखा, उस

दासीपुत्र ने नीचता आरंभ कर दी!''

मैंने उसका हाथ दबाकर बैठे रहने का संकेत किया, क्योंकि मैं अनुभव कर रहा था कि महाराज की इस मन:स्थिति का आभास हम कुछ लोगों को छोड़कर और किसीको जरा भी नहीं है।

विदुर बोलते गए और अंत में वह प्रतीक्षित क्षण आया, जब उनके मुख से निकला, ''अब आपको निश्चय करना है कि कौरव और पांडवों में से मेले की देखभाल के लिए किसे भेजा जाए!''

''मेरा प्रस्ताव है कि इसके लिए कौरवों को भेजा जाए।'' शकुनि ने उद्घोष कर मेरी ओर देखा।

मैंने खड़े होकर बड़ी दृढ़ता से कहा, ''मैं मामा के प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ, क्योंकि इतने विशाल मेले की देखभाल के लिए जिस प्रशासनिक सूझबूझ की आवश्यकता है, वह कौरवों के अतिरिक्त और किसीको नहीं है।''

''आप प्रस्ताव का समर्थन भले ही कीजिए, पर आपको यह कहने का क्या अधिकार है कि प्रशासनिक सूझबूझ केवल कौरवों में ही है!'' भीम दहाड़ा।

''क्योंकि मैं ऐसा अनुभव करता हूँ।'' मेरी वाणी की दृढ़ता पूर्ववत् बनी रही, ''और अपनी आत्मा की आवाज को दबाना मैं अपराध समझता हूँ।''

''तो मेरी भी आत्मा कहती है कि प्रशासनिक योग्यता जितनी हमारे पास है उतनी और किसीके पास नहीं है।'' भीम का आक्रोश क्रमश: बढ़ने लगा।

''आपकी आत्मा कहती है तो कहा करे।'' मैंने प्रत्युत्तर दिया।

''अरे भाई, इस मामूली सी बात पर आप लोग इतना बड़ा विवाद क्यों खड़ा कर रहे हैं?'' द्रोण ने दोनों पक्षों को शांत करते हुए कहा।

तत्क्षण उनका पुत्र अश्वत्थामा उठा खड़ा हुआ, ''आपको इस आपस के झगड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है?''

जड़ी सुँघाने से फनफनाता नाग जैसे शांत हो जाता है वैसे ही आचार्य अपने को सिकोड़कर बैठ गए। पर विवाद बैठनेवाला नहीं था। मैं बराबर अपने प्रस्ताव पर दबाव डाल रहा था। अंत में पितामह को उत्तेजित करने में सफल भी हो गया।

उन्हें बोलना ही पड़ा, ''आप इस विवाद में इतनी रुचि क्यों ले रहे हैं? यह मेरे घर का मामला है। हम लोग निबट लेंगे।''

''यह मेरा मित्र है। यदि यह रुचि न लेगा तो कौन लेगा?'' दुर्योधन बोला।

''चुपचाप बैठे रहो। बड़े बने हो मित्रवाले!'' बूढ़े की वाणी में अमर्ष की छाया उतर आई।

मेरे मन ने कहा कि अब काम पूरा हुआ।

इसी समय अंधे धृतराष्ट्र के मन की आँखें खुलीं। उन्होंने बड़ी सूझबूझ का परिचय दिया। अत्यंत शांतभाव से बोले, ''आप लोग विवाद मत कीजिए और इसका निर्णय पितामह पर छोड़िए।''

सभा शांत हो गई। सबकी दृष्टि पितामह की ओर लगी—देखें, वे क्या कहते हैं?

बहुत सोचने-समझने के बाद पितामह बोले, ''महाराज ने मुझे बड़ी कठिनाई में डाल दिया है। कौरव और पांडव किसीमें भी मेरी दृष्टि से प्रशासन की योग्यता की कमी नहीं है।''

वे अपनी बात पूरी करते कि विदुरजी बीच ही में बोल बैठे, ''तब महाराज, आप दोनों को ही वारणावत की देखभाल के लिए भेज दीजिए।''

दुर्योधन ने फिर मेरे कान में धीरे से कहा, ''देखा, यह नीच सब गुड़ गोबर करने पर लगा है!''

किंतु विदुर की बात पर पितामह हँस पड़े और बोले, ''आपकी सलाह मान लेने का तात्पर्य है, इस सभा का विवाद ज्यों-का-त्यों वारणावत भेज देना। अरे, जब दोनों यहीं लड़ रहे हैं तब वहाँ जाकर तो और लड़ेंगे।'' एक हलकी सी मुसकराहट वृद्धों के चेहरों पर रेंग गई; पर वह धृतराष्ट्र से अछूती ही रही। वह नितांत गंभीर मुद्रा में बैठे रहे।

भीष्म ने पुन: बोलना आरंभ किया, ''महाराज धृतराष्ट्र सिंहासन पर बैठे हैं। यदि यह सभा उनके रहते हुए भी कौरवों के पक्ष में निर्णय लेती है तो सारा आर्यावर्त यही कहेगा कि आज यदि पांडु जीवित होते तो कदाचित् यह निर्णय न होता। इसलिए अपनी सारी प्रशासनिक योग्यता का विश्वास और अनुभव करते हुए, लोकमत का ध्यान रखकर कौरवों को स्वयं यह अवसर पांडवों को दे देना चाहिए।''

''आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।'' शकुनि ने खड़े होकर कहा और उठकर चल पड़ा। पीछे-पीछे दुर्योधन, मैं एवं अन्य कौरव भी हो लिये।

शकुनि की ध्वनि में अभिनयजन्य क्रोध था, जिससे लोग स्पष्ट समझ सकें कि स्वीकार न होने पर भी कौरवों ने पितामह की आज्ञा तो मान ली, पर साथ ही उनके इस निर्णय के विरोध में बहिर्गमन भी किया।

अन्य पारिषदों ने 'साधु-साधु' कहकर पितामह के निर्णय का स्वागत किया।

हम लोग बाहर निकलकर उद्यान से होते हुए मंत्रणाकक्ष की ओर बढ़ चले;

किंतु मेरे कंधे पर हाथ रखकर मामा पुष्करिणी की ओर घुमा ले आया और मुसकराते हुए बोला, "देखा, इसे कहते हैं राजनीति! अब साँप भी मारा जाएगा और लाठी भी नहीं टूटेगी।"

संध्या सोने जा रही थी। पुष्करिणी के कमल भी संकुचित हो चले थे—भगवान् भास्कर के वियोग में या मामा की पाप भरी मुसकराहट से?

□

नौ

लाख का महल राख हो गया। अग्नि की विकराल लपटें उसे निगल गईं। पांडवों के शवों पर हमारी महत्त्वाकांक्षा तांडव कर उठी। हम मगन थे। पाप की अदृश्य प्राचीरों के बीच बंदी होकर भी हम मुक्त थे। हमारे सामने अब कोई बाधा नहीं थी। हस्तिनापुर के राजप्रासाद का कौरव कक्ष बाहर से आँसुओं और भीतर से मदिरा के चषकों में डूबता रहा।

वारणावत का राजभवन जल गया। कितना अच्छा नाम रखा गया था उस लाक्षागृह का—'शिवम्'। अब वह 'शवम्' हो गया। माँ कुंती के साथ ही उसके पुत्रों का भस्मीभूत शव प्रेत की तरह हमारे मानस में उभरकर हमसे पूछने लगा, 'क्या अपराध किया था हमने, जो तुमने हमें जला डाला? केवल उस राज्य के लिए, केवल उस सत्ता के लिए, जो न हमारे साथ गई है और न तुम्हारे साथ जाएगी?' साहस की अडिग शिला पर बैठी हमारी निर्ममता भी उस समय काँप उठी थी।

इस अग्निकांड का समाचार दावाग्नि की भाँति पूरे आर्यावर्त में फैल गया। लोग हाहाकार कर उठे। प्रजा में गंभीर प्रतिक्रिया हुई। लोगों ने एक स्वर से कहा कि इसमें कौरवों का षड्यंत्र है; किंतु कौरवों ने शोक-प्रदर्शन में किसी प्रकार की कमी नहीं की। प्रसन्नता के मुख पर पट्टी बाँध दी गई। घड़ियाली आँखों में आँसू बहते रहे।

धृतराष्ट्र यद्यपि दुःखी थे। उन्होंने मंत्रणाकक्ष में गुप्त रूप से कौरवों को बुलाकर समझाया, ''कुछ भी हो, पांडव तुम्हारे भाई थे। उनकी शिराओं में वही रक्त था जो तुम्हारी शिराओं में है। कम-से-कम तेरह दिनों तक तुम्हें पवित्रता से शोक मनाना चाहिए। मैरेय छोड़ देना चाहिए। धरती पर सोना चाहिए। उनकी संतप्त आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।''

किंतु उनके इस उपदेश को किसने कितना सुना? किसने कितना माना? मैं क्या कहूँ? दुर्योधन को यदि कोई चिंता थी तो जनता की दृष्टि में कौरवों की निरंतर गिरती प्रतिष्ठा की। उसने कई बार मुझसे इस संबंध में सलाह की; पर मैंने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा। षड्यंत्र के केंद्रबिंदु शकुनि पर ही सबकुछ छोड़ते हुए मैंने कहा, ''इस संबंध में मामाजी की ही राय अंतिम समझनी चाहिए। वह जो कुछ कहें, वही हमें करना चाहिए।''

मामा ने दो कार्यक्रम बनाए। पहला, वारणावत से राजकीय सम्मान के साथ पांडवों की भस्मी लाई जाए और अंत्येष्टि तक एक ऐसा वातावरण बनाया जाए कि राजप्रासाद आठ-आठ आँसू रोता दिखाई पड़े। दूसरा यह कि गुप्तचरों द्वारा विभिन्न माध्यमों से पूरे राज्य में यह प्रचारित करवा दिया जाए कि वारणावत कौरव ही जाना चाहते थे। स्वयं मामा ने ही इसके लिए प्रस्ताव किया था। किंतु पांडवों ने अपने लिए हठ किया, तब अंतिम निर्णय पितामह पर छोड़ दिया गया। उन्होंने ही पांडवों को वारणावत की देखभाल का कार्य सौंपा। इसमें कौरवों का कोई षड्यंत्र नहीं लगता। यदि षड्यंत्र होगा भी तो पितामह ही उसे जानते होंगे।

प्रचार की प्रक्रिया से मैं पूर्ण सहमत नहीं था। मेरा मत था, जो कहा जा रहा है वह तो ठीक है, पर इसमें पितामह का नाम व्यर्थ में नहीं घसीटना चाहिए।

''कर्ण, तुम नितांत भोले हो। राजनीति तुम्हारे जैसे सरल मन की वस्तु नहीं।'' तब शकुनि ने कहा था, ''हमारा पहला काम है कि हम जनता को अपने पक्ष में लें। और कभी इस षड्यंत्र का रहस्योद्घाटन भी हो तो इसके लिए अभी से तैयारी किए बैठे रहें।''

''यह तो ठीक है।'' मैंने कहा, ''पर यह कहाँ का न्याय है कि जिसे इस षड्यंत्र की जानकारी तक न हो, हम पाप उसीके सिर मढ़ें?''

वह जोर से हँसा, ''व्यावहारिक राजनीति न्याय और अन्याय नहीं देखती, कर्ण, वह केवल अपना स्वार्थ देखती है।''

योजनानुसार कार्य आरंभ हो गया।

राजकीय सम्मान के साथ भस्सी लाई गई। प्रासाद में दर्शनार्थ रखी गई। जनसमुद्र उमड़ पड़ा। सबकी आँखें डबडबा आई थीं। शोक अल्पता में मुखर होता है और प्रगाढ़ता में गूँगा। सिसकन के महासागर के किनारे हम सब गूँगे खड़े थे; किंतु विषाद की यह संक्रामकता हमें भी अछूता छोड़ न सकी। हमारी भी आँखें भर आईं और पश्चात्ताप की एक लहर हमारे मनों को छूती निकल गई कि हम लोगों ने यह क्या कर डाला।

अपराह्न में शवयात्रा आरंभ हुई। अपार जनसमुदाय था। हम सब पैदल चल रहे थे; राजा भी, प्रजा भी। शवयात्रा की समानता में भी राजा राजा या प्रजा प्रजा थी। पर शव होने पर न कोई राजा रहता है और न कोई प्रजा। केवल रह जाता है, हाड़-मांस का पिंड, अस्थिपंजर। यही वास्तविकता है, बाकी सब स्वप्न है, माया है।

मेरे पीछे से ही एक आवाज उभरी, "इतना विशाल जनसमूह, इतने नर-नारी, वृद्ध-युवा कभी किसी शोभायात्रा में नहीं देखे गए।"

"यही तो हस्तिनापुर का दुर्भाग्य है कि दिखाई पड़े भी तो शवयात्रा में।" यह दूसरी ध्वनि थी।

"भगवान् को यदि यही स्वीकार है तो क्या कहा जाए!" यह तीसरी आवाज थी।

"पर चाहे जो हो, सत्य को कभी काल चबा नहीं सकता। वास्तविकता अवश्य ही एक-न-एक दिन सामने आएगी।" वह दु:ख और क्रोध से मिली-जुली आवाज अंतिम थी, जिसके बाद मैं कुछ सुन नहीं सका। मेरा मस्तिष्क चकराने लगा। केवल इतना ही निष्कर्ष निकाल पाया कि मामा के प्रचार का प्रभाव नगण्य है।

मुझे ऐसा लगा जैसे भीड़ की लाखों आँखें मुझे देख रही हैं, लाखों मुखों से निकली ध्वनियाँ मुझे छेदती चली जा रही हैं। सारी भीड़ क्रमश: उस मंत्रणा परिषद् में बदलती जान पड़ी, जो मेरे यहाँ बैठी थी और मैं उसके अंधकार में खोता चला गया।

गंगातट पर पहुँचने के बाद ही मुझे ज्ञात हुआ कि मैं धरती पर हूँ। अंत्येष्टि की क्रिया संपन्न की जाने लगी। धीरे-धीरे सूर्य डूबने को आया। नियमत: मुझे उपासना करनी चाहिए थी, पर मैं कर नहीं पाया। मैंने विनत हो भगवान् भास्कर की ओर देखा। वे बादलों की ओट में आ गए थे, मानो स्वयं को मुझसे छिपा लिया हो।

ठीक इसी समय पितामह ने स्वर्ण कलशों में भरी पांडवों की भस्मियाँ भागीरथी को समर्पित कीं। लोग शांत खड़े थे; जैसे भीड़ को जबान न हो। केवल सिसकियाँ वायुमंडल में तैर रही थीं।

अचानक पितामह की आवाज सुनाई पड़ी, "कदाचित् मैं यही सब देखने के लिए जीवित हूँ।" उनका गला भर आया। कुछ क्षणों तक वह कुछ बोल नहीं पाए। फिर स्वयं को सँभाला और कहा, "मेरे प्यारे पुत्रो! यहीं तक हममें से हर कोई तुम्हारा साथ दे सकता है। इससे आगे तुम्हारे साथ कोई नहीं जाएगा, केवल

जाएगा तुम्हारा कर्म, तुम्हारा धर्म।'' इतना कहते-कहते वे फूट-फूटकर रोने लगे। भीड़ के आँसुओं का भी बाँध टूट गया। इतनी भयानक चीख, ऐसा सामूहिक रुदन मैंने कभी नहीं देखा था।

इसके बाद ही तिलांजलि देने का क्रम आरंभ हुआ। सबने बारी-बारी से तिलांजलि दी; पर जब विदुर का नाम आया तब वे अनुपस्थित थे।

उनका नाम बार-बार पुकारा गया; किंतु वे हों, तब तो।

मामा हम लोगों की ओर घबराया हुआ आया, ''तुम लोगों ने विदुरजी को देखा है ?''

''अभी कुछ समय पहले तक तो वे यहीं दिखाई दे रहे थे।'' दुर्योधन ने कहा।

''तब कहाँ चले गए ?'' मामा की घबराहट स्पष्ट थी।

''हो सकता है, उन्होंने सोचा हो कि दासीपुत्र होने के कारण मुझे तिलांजलि नहीं देनी चाहिए।'' मैंने कहा, ''पर आप इतनी साधारण सी बात पर इतने व्यग्र क्यों हैं ?''

उन्होंने अपनी व्यग्रता पर एक मुसकराहट चिपका ली और धीरे से बोले, ''यह साधारण बात नहीं है।'' इतना कहकर विदुरजी को खोजते हुए वे दूसरी ओर चले गए।

यह विचित्र रहस्य था और तब तक रहस्य बना रहा जब तक हम लौटकर फिर प्रासाद में पहुँच नहीं गए। मामा मुझे और दुर्योधन को अपने कक्ष में ले गया और बड़ी घबराहट में बोला, ''कहीं ऐसा तो नहीं कि पांडव मरे ही न हों!''

''अरे, ऐसा कैसे हो सकता है ? उनके जलते हुए शव मिले हैं।'' मैंने कहा।

''यदि मारे गए होते तो विदुर अवश्य तिलांजलि देते।'' मामा बोले।

इतना भयंकर षड्यंत्र और वह भी असफल! ऐसा तो नहीं कि अपयश ही हाथ लगे ? मेरे मन में एक आवाज उठी, 'मारनेवाले से बचानेवाले के हाथ विशाल होते हैं।' फिर क्षण भर बाद बँधी हुई संज्ञाशून्य भीम की विषाक्त काया गंगा में तैरती मेरी आँखों के सामने आ गई।

''जब पांडव वारणावत जा रहे थे तब विदुर उन्हें पहुँचाने गया था।'' दुर्योधन ने कुछ सोचते हुए कहा।

''मुझे भी गुप्तचरों से सूचना मिली थी कि उन्होंने सांकेतिक भाषा में पांडवों से कुछ कहा था।'' शकुनि बोला, ''लगता है, उसे कहीं से षड्यंत्र की गंध लग गई।''

"ज्योतिषाचार्य ने भी कुछ ऐसी ही बात कही थी।" दुर्योधन ने बताया।

"क्या कहा था सुवर्चा ने?" शकुनि की व्यग्रता और बढ़ी।

"उसने कहा था कि मुझे विश्वास नहीं होता कि पांडव भस्म हो गए।"

"हो सकता है, विदुर की भूमिका का उसे ज्ञान हो। वह विदुर के यहाँ आता-जाता रहता है। उससे एकांत में पूछना चाहिए।" मामा उठकर व्यग्रता में टहलने लगा।

"पर यह बात उसने गणना करके विशुद्ध ज्योतिष के आधार पर कही थी।" दुर्योधन ने बताया, "वह ब्राह्मण कह रहा था कि पांडवों के ग्रह इतने तीव्र हैं कि वे जल नहीं सकते वरन् जला सकते हैं।"

"जला तो दिया पुरोचन को।" मैंने कहा और मन में सोचने लगा कि सुवर्चा की बात अब तक तो झूठी नहीं हुई।

यद्यपि पांडवों के बच निकलने की कोई संभावना नहीं थी, फिर भी विदुर द्वारा तिलांजलि न देने से मामा शंकालु हो गया था। मैंने उसे समझाया, "आप लोग व्यर्थ में अपना मस्तिष्क क्यों खराब करते हैं? जो भी स्थिति आएगी, देखा जाएगा।"

किंतु मामा इससे शांत न हुआ। उसकी आकृति पर अनेक आड़ी-तिरछी रेखाएँ बनती और मिटती रहीं। मैंने उठकर वातायन के बाहर देखा, रात गाढ़ी हो चली थी। अमावस्या का विराट् राक्षस जैसा आकाश अँधेरा उगल रहा था।

□

अब पांडव नहीं थे। मृत्यु के चौखटे में मढ़ा हुआ मात्र उनका चित्र था, जो हस्तिनापुर के हर नागरिक के हृदय में टँगा था। 'कहीं यह चित्र चौखटे से निकलकर चलने-फिरने लगता, हँसने-बोलने लगता।' कितनी पवित्र और विलक्षण आकांक्षा थी लोगों की, जो शायद पूरी होने वाली नहीं थी।

कालचक्र घूमता गया और इन चित्रों पर धूल जमती चली गई। पांडव गाथा का ग्रंथ केवल पन्ने फड़फड़ाता रह गया।

कुछ ही दिनों बाद एक ऐसी घटना घटी, जिसने मेरे मन को बुरी तरह झकझोर दिया। मेरी मानवीयता पर गहरा आघात लगा और प्रतिशोध की ऐसी प्रतिज्ञा मैंने की, जिसने मेरे जीवन को एक नए विष में डुबो दिया।

बात यह थी कि द्रुपद ने अपनी पुत्री के लिए स्वयंवर का आयोजन किया। सामान्य निमंत्रण आर्यावर्त के सभी धनुर्धरों में बाँटा गया।

"स्वयंवर होगा या धनुर्विद्या की प्रतियोगिता?" एक दिन मैंने यह चर्चा

हस्तिनापुर की राजपरिषद् में ही छेड़ दी।

"लगता है, द्रुपद ने धनुर्विद्या ही श्रेष्ठ वर का मापदंड रखा है।" दुःशासन ने कहा।

"जानते हो, ऐसा क्यों है?" गंभीर मुसकराहट के बीच पितामह ने हम लोगों से पूछा और फिर स्वयं ही उत्तर भी देने लगे, "यह तो तुम लोग जानते ही हो कि द्रुपद से अपमानित होने के बाद द्रोण ने उससे अपना बदला लिया। अर्जुन से उसे बंदी बनवाया। उसका अपमान भी किया और आधा राज्य ले लिया। अब द्रुपद अपनी कन्या के लिए ऐसा वर खोज रहा है जो…"

उनकी बात पूरी हो, इसके पहले ही विदुर के मुख से निकल पड़ा, "जो अर्जुन से बदला ले सके।"

विदुर के मुख से यह सुनते ही शकुनि के कान खड़े हो गए।

"पर अब अर्जुन है कहाँ?" उसने आश्चर्य से पूछा।

"अर्जुन न हो, पर द्रोण तो है।" उत्तर दिया पितामह ने।

शकुनि विदुर के मुख से सुनना चाहता था कि अब अर्जुन का अस्तित्व नहीं है। किंतु विदुर शांत थे। भीतर-ही-भीतर उसकी शंका को सुलगने के लिए एक समिधा और मिली। वह गंभीर हो अपनी चिंतन धुरी को पकड़े रहा। पर बात आगे बढ़ती गई। विदुर ने कहा, "कितनी विचित्र है यह प्रतिहिंसा! द्रोण ने द्रुपद से बदला लिया। अब द्रुपद द्रोण से बदला लेगा। फिर…"

"फिर द्रोण द्रुपद से बदला लें।" इतना कहकर पितामह हँस पड़े और अपनी प्रकृति के अनुसार आप्त वचन बोले, "मनुष्य का अंत हो जाता है, विदुर, पर प्रतिशोध का कभी अंत नहीं होता। अग्नि बुझने के बाद भी धुआँ छोड़ती रहती है।"

"तो वह अपनी कन्या को भी प्रतिहिंसा की अग्नि में झोंकना चाहते हैं!" इस बार धृतराष्ट्र ने कहा।

"अरे, जब वह उसीसे निकली है तो झोंकने का प्रश्न ही कहाँ उठता है!" पितामह के इस कथन का स्वाद वे ही ले सके जो द्रौपदी की उत्पत्ति के बारे में जानते थे।

"पर है वह अनिंद्य सुंदरी।" यह आवाज किधर से आई और कौन बोला, मैं कह नहीं सकता; किंतु इस ध्वनि ने चर्चा को नया मोड़ दिया। बात द्रौपदी के गुणों पर केंद्रित हो गई।

किंतु इसी बीच मेरे मन में एक दूसरी ही बात उठी। मैं बेहिचक खड़ा होकर

बोला, "अच्छा, मान लीजिए, इस धनु:परीक्षा में यदि अश्वत्थ ही उत्तीर्ण हो जाए तो कहाँ रह जाएगी द्रुपद की प्रतिहिंसा?"

"वह बिना मारे मर जाएगा।" धृतराष्ट्र बोले और मेरी प्रशंसा करते हुए कहा, "तुम्हारे कपाल में भी अद्‌भुत मस्तिष्क है, कर्ण। विश्वास नहीं होता कि तुम सूतपुत्र हो। तुम्हें किसी क्षत्रिय की संतान होना चाहिए।"

मन में आया कि कहते तो सभी ऐसा ही हैं, पर मानने को कोई तैयार नहीं है। यह पहला अवसर था, जब पितामह ने भी मेरी बुद्धि की प्रशंसा की; पर साथ ही यह भी कहा कि "कहीं यही बुद्धि सत्कर्मों में लगती तो स्वर्ण में सुगंध आ जाती।"

विचित्र था वह बूढ़ा, जिसे जीवन भर विश्वास ही नहीं हुआ कि मैं सत्कर्म भी कर सकता हूँ। मेरे प्रति उसके मन में पूर्वग्रह था। वह कभी मेरा नहीं रहा। फिर भी इस समय उसने मेरी ही बात के संदर्भ में कहा, "द्रुपद को चाहिए कि वह कर्ण की संभावना को स्वरूप दे दे और बिना किसी प्रतियोगिता के अपनी कन्या अश्वत्थामा को ब्याह दे।"

"पुत्री को झोंककर प्रतिहिंसा की ज्वाला बुझा दे।" शकुनि की ध्वनि में वक्रता थी, "उसने अपना राज्य भी दिया और आप चाहते हैं कि वह अपनी कन्या भी दे। यह कैसे हो सकता है?"

"यही तो मैं कह रहा हूँ कि यह नहीं हो सकता, क्योंकि द्रुपद के मन में तुमसे अधिक विशालता नहीं है।" पितामह का यह कटाक्ष शकुनि को तिलमिला देनेवाला था। वह स्वयं भी उठा और मेरा हाथ पकड़कर मुझे भी परिषद् के बाहर निकाल ले आया।

"यह पितामह अपने को क्या समझता है?" वह बड़बड़ाया, "पांडवों को किनारे लगा देनेवाले शकुनि के सामने उसका अस्तित्व ही क्या है!"

मैंने मामा के अहं को सहलाया। वह धीरे-धीरे शांत हुआ।

मेरी इच्छा स्वयंवर में जाने की नहीं थी। इस निर्णय के मूल में मेरी हीन वृत्ति नहीं वरन् मेरा यथार्थ था। मैं कृतक पुत्र हूँ, सूत हूँ। क्या मेरा विवाह क्षत्रिय कन्या से हो सकता है? प्रतिलोम विवाह होते अवश्य हैं, पर समाज में उनकी प्रतिष्ठा नहीं है। मैंने इस विषय पर खुलकर दुर्योधन से बातें कीं। उसका तर्क था कि प्रतिलोम विवाह पहले तो शास्त्र द्वारा निषिद्ध नहीं है। फिर किसी स्वयंवर में रणकौशल, धनुर्विद्या या वीरत्व की परीक्षा करके यदि कोई कन्यादान करना चाहे तो जाति या वर्ण का प्रश्न ही कहाँ उठता है!

तर्क तो मन में बैठता था; किंतु पता नहीं क्यों, जाने की इच्छा नहीं हो रही थी। कौरव मुझे ले जाना चाहते थे; फिर दुर्योधन का विशेष आग्रह था। वह इतना मेरे निकट आ गया था कि कहीं भी वह बिना मुझे लिये जाना नहीं चाहता था। उसने तनाव को बहुत कुछ ढीला करते हुए हँसकर कहा, "यह सब कुछ नहीं। अब मैं समझ गया कि तुम क्यों नहीं जाना चाहते!" अब उसने मामा की ओर संकेत करके कहा, "जानते हैं आप, कि वास्तविकता क्या है? अरे, माला के रहते यह किसी और के स्वयंवर में जाना नहीं चाहते।"

हम सब हँस पड़े। उद्यान के हँसते पुष्पों ने भी हमारा साथ दिया।

इसी समय ज्योतिषाचार्य सुवर्चा आता दिखाई दिया। क्यों न मैं अपनी समस्या सुवर्चा की भविष्यवाणी को सौंप दूँ?

"केवल एक शर्त पर कि यदि उन्होंने न जाने के लिए कहा तब भी तुम्हें चलना पड़ेगा।" दुर्योधन बोला।

बिना उसका उत्तर दिए मैं आगे बढ़ा। ज्योतिषाचार्य का चरणस्पर्श किया और सारी बातें गंभीरता से बताकर पूछा कि मुझे स्वयंवर में जाना चाहिए या नहीं?

सुवर्चा कुछ समय तक गूढ़ मुद्रा में खोया रहा। फिर अँगुलियों पर उसने कुछ गणना की। कुछ पलों तक मेरी आकृति को बड़े ध्यान से देखता रहा। पुनः अत्यंत गंभीर हो बोला, "तुम्हें स्वयंवर में जाने या न जाने के संबंध में नहीं कह सकता।" इतना कहकर वह दक्षिण तर्जनी अपनी नाक के पास ले गया : शायद देखा कि नासिका कौन सी चल रही है। फिर बोला, "जिस लग्न में तुमने प्रश्न किया है उसमें ग्रहों की स्थिति बड़ी विचित्र है। उनकी गणना के अनुसार एक नारी तुम्हारे जीवन में आग लगा देने वाली है।" इसके बाद वह एक क्षण भी नहीं रुका, सीधे प्रासाद की ओर बढ़ गया।

इतना सुनना था कि दुर्योधन उछल पड़ा, "बस-बस, अब पांचाली तुम्हें ही मिलेगी। जो स्वयं आग से निकली हो, यदि तुम्हारे जीवन में आग लेकर आए तो आश्चर्य क्या! ज्योतिषाचार्य की बात बहुधा झूठी नहीं होती। तुम्हारी सफलता निश्चित है।"

"और तुम अग्नि से मत घबराना।" शकुनि बोला, "जिसने बड़ों-बड़ों को अग्नि को समर्पित किया, वह मामा तो अभी जीवित है ही। जो भी परिस्थिति आएगी, सामना किया जाएगा।"

मैं नहीं समझ पाया कि ज्योतिषाचार्य की भविष्यवाणी का इसके अतिरिक्त भी कोई अर्थ हो सकता है।

□

पांचाल में मुझे कई दिन लग सकते थे। मैंने अपने अमात्य और सचिव को शासन के आवश्यक निर्देश दिए। सेनाधिपति को अपने साथ चलने को कहा। फिर मैंने सोचा कि क्या आवश्यकता है उसे अपने साथ ले चलने की? कोई लड़ाई लड़ने तो जा नहीं रहा हूँ। कौरव दल तो साथ चलेगा ही। अतएव मैंने सेनाधिपति को बुलाया और अपना आदेश वापस लेते हुए बोला, ''मैं समझता हूँ कि आपका राज्य में रहना आवश्यक है। इसलिए नहीं कि किसी आक्रमण की संभावना है—जब सभी राज्य प्रमुख पांचाल जा रहे हैं तब आक्रमण कौन करेगा—वरन् इसलिए कि आपके यहाँ रहने से मैं निश्चिंत रहूँगा।''

''मेरी इच्छा थी कि मैं पट्टमहिषी को राजसम्मान के साथ ले आता।'' एक सलज्ज मुसकराहट के बीच वह दबा-दबा सा बोला।

''कोई आवश्यक नहीं कि धनुर्विद्या की उस विलक्षण परीक्षा में मैं ही उत्कृष्ट प्रमाणित होऊँ।''

''किंतु महाराज, इस समय आर्यावर्त में आप जैसा धनुर्धर है कौन? फिर ज्योतिषाचार्य की भविष्यवाणी तो झूठी नहीं हो सकती।'' सेनाधिपति बोला।

''क्या आपको सुवर्चा की भविष्यवाणी का पता है?''

सेनाधिपति कुछ कहे, इसके पहले ही चिरपरिचित वही नारी स्वर सुनाई पड़ा, ''उन्हें ही नहीं, मुझे भी पता है। मैं भी आपको अग्रिम बधाई देने चली आई हूँ।'' कुछ क्षणों तक उसकी ध्वनि मुसकराहट से खेलती रही। फिर स्पष्ट हुई, ''आज तो मात्र बधाई देने आई हूँ, किंतु जब पट्टमहिषी पधारेंगी तब मत्स्य लेकर उपस्थित हो जाऊँगी शकुन बनाने के लिए।...क्यों, देंगे पुरस्कार?'' उसकी आँखों की मादकता ने मन के कई कोरों को एक साथ स्पर्श किया; जैसे वह ढूँढ़ रही हो कि अब यहाँ मेरे रह पाने की संभावना है या नहीं।

''किस हवा में बात कर रही हो, माला? ज्योतिषाचार्य के अनुसार मेरे जीवन में कोई नारी नहीं, वरन् आग आने वाली है।'' मैंने कहा।

''तब मैं मत्स्य नहीं, जल लेकर आ जाऊँगी।'' उसकी मुसकराहट अब भी हमें गुदगुदाती रही।

मुझे हस्तिनापुर जाना था। वहीं से कौरवों के साथ पांचाल चलने का निश्चय हुआ था। जब मैंने राजभवन का परिसर छोड़ा, मध्याह्न का सूर्य मुझे आशीर्वाद दे रहा था। मैं चला जा रहा था। मन माला की मुसकराहट सँजोए था; पर साथ ही वह ऐसे सपनों में भी खोया था, जिसमें एक सुंदरी अपनी वरमाला मुझे पहना रही थी।

ठीक याद तो नहीं आ रहा है। संभवत: दूसरे या तीसरे दिन हम हस्तिनापुर से चल पड़े थे। कितना अद्भुत था! हमारे साथ कौरवों के सैकड़ों रथ चल रहे थे। आगे-आगे दुर्योधन का, मामा का तथा मेरा रथ था और इससे पीछे शेष लोग। सब मेरी ही सफलता की कामना कर रहे थे। मुझे भी ऐसा आभास होने लगा था कि वह हमारा स्वयंवर के लिए प्रयास नहीं है, वरन् मेरी ही वरयात्रा है।

जिधर से यह समूह निकलता, देखनेवालों की भीड़ लग जाती थी; जैसे किसी देश पर आक्रमण होने जा रहा हो। भय एवं आतंक की परतों के नीचे दबी यह भीड़ कभी-कभी हमारा जय-जयकार भी कर देती थी।

संध्या निकट थी। रथों की चाल से उड़ती धूल से ढका हुआ सूर्य ठंडा पड़ने लगा था। हम अपनी भावनाओं और सपनों में उलझे जा रहे थे कि दूर, उत्तर से आती पगडंडी पर धनुष-बाण लिये आदिवासियों की एक लंबी कतार दिखाई दी। दुर्योधन ने रथ रोकने का संकेत पीछे की ओर किया। फिर भी रोकते-रोकते रथ आदिवासियों के निकट तक पहुँच गया था।

दुर्योधन रथ से कूद पड़ा। उसीके साथ-साथ मैं भी कूदा। उसने उन आदिवासियों के मुखिया से पूछा, ''अच्छे हो?''

उसकी स्वच्छंद मुसकराहट ने अपनी कुशलता बताई।

फिर दुर्योधन ने मुझसे पूछा, ''तुम नहीं पहचानते क्या?''

मेरी दृष्टि की सजगता ने उसके व्यक्तित्व को पहचानने की चेष्टा की। अमानिशा से भी काले उस युवक की बड़ी-बड़ी आँखों में विचित्र तेजस्विता थी। अपनी परंपरागत वेशभूषा में उसकी खिलखिलाहट हरी-भरी पहाड़ी से झरते किसी निर्झर की याद दिलाती थी।

मेरी मुद्रा ने पहचान न पाने की अपनी असमर्थता व्यक्त की। वह जोर से हँस पड़ा और अपने दाहिने हाथ का अँगूठा दिखाया, मानो वही उसका सबसे बड़ा परिचय हो। सबकुछ स्पष्ट हो गया। सामने बिहँसता एकलव्य था और मस्तिष्क में उभरी अपने आचार्यत्व को धिक्कारती हुई पश्चात्ताप से लिपटी द्रोण की श्लथ मुद्रा।

''सुना तो बहुत था तुम्हारे संबंध में। कल्पनाएँ भी की थीं। कभी तुम्हारी ओर से आचार्य से विवाद भी कर बैठा था। पर तुमसे मिल रहा हूँ आज पहली बार।'' मैंने कहा।

इसके बाद दुर्योधन ने उसे मेरा परिचय दिया। बड़ी विनम्रता से झुककर उसने प्रणाम किया।

"अपने गणों के साथ किधर चल पड़े, भीलराज?" दुर्योधन ने पूछा।

"पांचाल जा रहा हूँ।" उसकी हँसी बड़ी निश्छल थी। वह बड़ा सरल मालूम हो रहा था। आचार्य की उस निर्ममता को क्या कहूँ, जिसने इतने निष्कपट शिष्य से अँगूठा कटवा लिया।

"चलो, तुम्हारे जैसे धनुर्विद् का चमत्कार देखने का भी अवसर मिलेगा।" मैंने कहा।

"उन राजकुमारों की स्पर्धा में हम आदिवासियों का क्या स्थान है?" उसने सहजभाव से कहा, "मैं तो चमत्कार दिखाने नहीं वरन् देखने जा रहा हूँ।"

"हम लोग भी उधर ही चल रहे हैं। यदि चाहो तो तुममें से एक-एक हमारे रथों में बैठ जाओ।"

दुर्योधन के इस कथन पर वह सकपकाया। उसकी दृष्टि से साफ लगा कि वह रथ पर बैठना नहीं चाहता। पर वह अपनी अनिच्छा कैसे व्यक्त करे?

"मैंने किसी अन्य भाव से नहीं वरन् यह समझकर तुमसे कहा कि तुम हमारे गुरुभाई हो।" दुर्योधन बोला।

सुनते ही वह जोर से हँस पड़ा। बोला, "अभी तो आप लोगों ने हमारा अँगूठा ही कटवाया है, क्या रथ पर बैठाकर पैर भी कटवा लेना चाहते हैं?" उसके अट्टहास में एक सुप्त ज्वालामुखी था। "आपकी इतनी कृपा बहुत है। हमें अपने पैरों पर ही रहने दीजिए।" इतना कहकर वह प्रणाम करता हुआ आगे बढ़ा। आत्मसम्मान की गोद में पला उसका विनय नादान शिशु-सा सहज था।

आश्चर्य था कि अपनी अहम्मन्यता के लिए जगत् प्रसिद्ध दुर्योधन इस आदिवासी के समक्ष ऐसा विनम्र क्यों था? कुछ दूर आगे चलने के बाद जब हम लोग एक जलाशय के निकट रुके तब मैंने आखिर यह चर्चा छेड़ दी। मामा मेरी सरलता पर हँस पड़ा।

दुर्योधन ने बताया, "इसका अँगूठा आचार्य ने नहीं वरन् अर्जुन की ईर्ष्या ने कटवाया है। इसलिए पांडवों से इसकी स्थायी शत्रुता स्वाभाविक है।" इतना कहकर दुर्योधन मेरी ओर देखने लगा। उसने अनुभव किया कि मैं अब भी समझ नहीं पा रहा हूँ। उसने पुनः स्पष्ट किया कि "राजनीति का एक आरंभिक सिद्धांत है कि शत्रु का शत्रु अपना मित्र। इसी आधार पर मैं उसे मित्र बनाने की चेष्टा कर रहा था।"

"जब शत्रु ही नहीं रह गया तब शत्रु का शत्रु मित्र कहाँ रह गया!" मैंने कहा।

"हम सबके लिए तो पांडव अवश्य जल मरे हैं; किंतु मामा का कहना है कि हमें किसी भी परिस्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए।" दुर्योधन के कथन में एक राजनीतिक के शंकालु मन की झलक थी।

□

पांचाल नगरी नववधू-सी सजी-सँवरी थी। नगर के पश्चिमी पार्श्व में विशाल मंडप बनाया गया था। चारों दिशाओं में इस मंडप के चार मुख्य द्वार थे। इसके अतिरिक्त भी द्रुपद के राजकर्मचारियों के आने-जाने के लिए कुछ विशेष द्वार भी बनाए गए थे। मुख्य द्वारों की विशालता इसीसे आँकी जा सकती है कि एक साथ तीन रथ बड़ी सरलता से इनमें प्रवेश कर सकते थे। ऊँचाई लगभग डेढ़ हाथी के बराबर थी। ये मुख्य द्वार पताकाओं, तोरणों और पुष्पों से सुशोभित थे। मंडप का भीतरी भाग भी अनेक रंगों की पताकाओं से सजाया गया था।

आर्यावर्त तथा इसके बाहर के भी अनेक नृपति पधारे थे। मैं इनमें से बहुतों को नहीं पहचानता था। दुर्योधन ने ही कई से मेरा परिचय कराया। कंक, शंक और भगदत्त का मैंने इसके पूर्व नाम तक नहीं सुना था। शिशुपाल और जरासंध का नाम तो सुना था, पर उन्हें पहली बार देख रहा था। असुर, नाग, नट, वैतालिक, मल्ल और ब्राह्मणों का भी बहुत बड़ा समुदाय वहाँ उपस्थित हो चुका था। यह बात मैं स्वयंवर के पूर्व संध्या की कह रहा हूँ, क्योंकि हम लोग एक दिन पहले ही वहाँ पहुँच गए थे।

राजभवन का अतिथिगृह सम्मानित अतिथियों से लगभग भर चुका था। हममें से कुछ लोगों के ठहरने की व्यवस्था वहाँ हो सकती थी; किंतु हमारी इच्छा साथ ही ठहरने की थी। अतएव सभामंडप के निकट ही एक प्रशस्त उद्यान में लगे राजकीय शिविरों में हमें ठहराया गया और हमारी सुख-सुविधा की पूरी व्यवस्था की गई।

सूर्यास्त के पहले ही मैं निकट के जलाशय पर स्नानार्थ गंया और जल में ही खड़े होकर आदित्य की आराधना आरंभ कर दी। मेरे नेत्र मुँदे थे। मैं ध्यानावस्थित था। मेरा जप चल रहा था। निकट के परिवेश से सर्वथा मुक्त मेरा मन अपने आराध्य की अर्चना में लगा था।

कितना समय बीता, मुझे पता नहीं; किंतु जब मेरा जाप समाप्त हुआ, मैंने आँखें खोलीं तो अँधेरा हो चला था। जलाशय के तट पर एक नितांत आकर्षक व्यक्तित्व मुसकराता दिखाई पड़ा। मोर मुकुट लगाए वह व्यक्ति मेरे जीवन में पहली बार प्रवेश कर रहा था; पर ऐसा लगा जैसे वह मेरे अंतर को छू रहा है।

उसकी नील कमल जैसी देह पर पीताभ उत्तरीय संध्यानिल से चलता हुआ मेरी दृष्टि को बाँध बैठा था।

"क्या देख रहे हैं? घबराइए नहीं, मैं कोई ब्राह्मण नहीं हूँ जो कुछ माँग बैठूँगा।" इतना कहकर वह खिलखिला उठे। बड़ी मायावी थी उनकी यह हँसी। इसके बाद उन्होंने पूछा, "यहाँ आपको किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है?"

मैंने कहा, "नहीं।" और वे मुसकराते हुए चले गए। मैं उन्हें बिलकुल पहचान नहीं पाया। पर लगता है कि वे मुझे पहचानते थे, नहीं तो यह कैसे मालूम कि मैं उपासना के बाद हर ब्राह्मण को उसका अभीष्ट देता हूँ।

मैं अपने शिविर में आया। मेरे मन में बैठी यह छवि भी मेरे साथ ही थी। उसकी मुसकराहट इतनी आत्मीयता से मुझसे लिपटी जैसे वह पिछले अनेक वर्षों से जानता हो। मैंने उसकी चर्चा दुर्योधन से की।

आकार-प्रकार बताते ही वह समझ गया। बोला, "अरे, वह द्वारकाधीश श्रीकृष्ण हैं। आश्चर्य है कि तुम उन्हें पहचान न सके।"

"मैंने उनके संबंध में सुना तो बहुत था, पर दर्शन आज पहली बार कर रहा था।" मैंने बताया, "कुशल-क्षेम पूछते समय ऐसा लग रहा था जैसे वह मुझे जन्म के पूर्व से जानते हों।"

"यदि तुम्हें जन्म के पूर्व से कोई जानता, तब तो तुम्हारा कल्याण ही हो जाता, कर्ण।" दुर्योधन ने व्यंग्य किया, "यद्यपि है वह बड़ा ही मायावी व्यक्ति। आर्यावर्त में अपने ढंग का अकेला।"

दुर्योधन ने बातों के ही क्रम में बताया कि "यहाँ कृष्ण अतिथि नहीं वरन् आतिथेय हैं। बहुत संभव है, इसी समय वे शिविर में भी हमारा कुशल पूछने आएँ।"

शीघ्र ही उसने दुःशासन और मामा आदि से भी इस संबंध में चर्चा की। मैंने अनुभव किया कि सबके मनों पर श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का विलक्षण आतंक है। उनके आने पर कैसे और क्या कहा जाए? पांडवों के संदर्भ में हमारी शब्दावली और मुद्रा क्या हो, इसके लिए हम मानसिक रूप से तैयार होने लगे।

विपत्ति और बड़ा आदमी कभी अकेले नहीं आते। आश्चर्य था कि वह हम लोगों के शिविर में अकेले ही चले आए और बड़े ही सामान्य ढंग से हमी लोगों के बीच आसीन हो गए।

"आप लोगों को कोई कष्ट तो नहीं है?" विनम्रता और आत्मीयता से भरा था उनका स्वर।

"यहाँ तो आपकी कृपा से कोई कष्ट नहीं है; पर पिछले दिनों से हम जिस विपत्ति में फँसे हैं, वह सब तो आपने सुना ही होगा।" मामा के इस कथन के साथ ही एक शोक भरी आत्मीयता हम लोगों ने ऊपर से ओढ़ ली।

उन्होंने हमारी गंभीरता से भी अधिक गंभीर होकर कहा, "मैंने सब सुना है।"

इसके बाद ही विषाद भरे स्वर में दुर्योधन बोला, "पहले हम पांडव और कौरव थे। अब मात्र कौरव रह गए। हमारी दाहिनी भुजा जलकर भस्म हो गई।"

"कितना अच्छा होता कि आज पांडव होते! क्या अर्जुन से बड़ा कोई धनुर्विद् है? निश्चित था कि आज द्रौपदी हमारे परिवार में आती।" यह शोकाकुल ध्वनि मामा की थी।

दुःशासन ने तो ऐसा नाटक किया कि कुछ मत पूछिए। वह फूट-फूटकर रोने ही लगा। किंतु श्रीकृष्ण चुपचाप बैठे रहे। वे उस चट्टान की तरह शांत थे जिसका स्पर्श भी ये बनावटी शोक की लहरें कर नहीं पाईं। मैं तो केवल उनका मुख ही देखता रहा।

अंत में वे इतना ही बोले, "आप चाहे दुःखी हों या सुखी, यह सब तो आपके अपने लिए है। नियति इसकी जरा भी चिंता नहीं करती—और वह जो भी करती है, अच्छा ही करती है।"

"इसका मतलब है कि पांडवों का जल मरना भी नियति का अच्छा काम है?" मैंने कहा।

शिविर में जलते मंद प्रकाश में उनकी मंद मुसकराहट स्पष्ट दिखाई पड़ी। उन्होंने एक रहस्यमय दृष्टि मुझपर डाली और पूर्ववत् गंभीर ध्वनि में बोले, "हो सकता है, इसके पीछे भी कोई अच्छाई ही हो।"

"किंतु हमारे लिए तो इसमें कोई अच्छाई नहीं दिखाई देती, माधव।" दुर्योधन ने कहा।

"बहुत सी वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं, केवल अनुभव की जा सकती हैं।" उनकी तीक्ष्ण दृष्टि जैसे हमें बेधकर हमारे हृदय तक पहुँच चुकी थी।

मैंने मामा को देखा, वह तो जैसे सन्न रह गया था।

श्रीकृष्ण ने पुनः कहा, "मनुष्य कभी नहीं मरता। मरती तो है उसकी शरीरयष्टि। आप क्या समझते हैं कि पांडव मर गए? यह तो आपकी भूल है।" इतना कहते ही वे एकदम खड़े हो गए और आतिथेय जैसी विनम्रता से बोले, "कोई कष्ट होगा तो निस्संकोच बताइएगा।" अभिवादन के बाद वे चलते बने।

हम एक-दूसरे का मुख देखते रह गए।

आशंका से भरी यह रात्रि मैरेय में डूबकर भी आनंदित न हो सकी।

दूसरे दिन प्रात: से ही स्वयंवर की तैयारियाँ आरंभ हो गई थीं।

अगरु, चंदन और कस्तूरी से मंडप सुवासित किया जाने लगा। स्पर्धा में भाग लेनेवाले तो आज कम आ रहे थे, पर दर्शकों की भीड़ उमड़ी पड़ रही थी। उन्हें बैठाने की व्यवस्था में राजकर्मचारी पहले से ही लग गए थे।

स्वयंवर से कुछ पूर्व ही हम लोग अपनी राजसी भूषा में मंडप में पधारे। हमारे बैठने के स्थान पहले से ही निश्चित थे। मेरे लिए कठिनाई यह थी कि सौ कौरवों के पीछे मेरे बैठने के लिए स्थान दिया गया था। पहली पंक्ति में जरासंध, शिशुपाल, भगदत्त, शल्य, शकुनि आदि के साथ ही दुर्योधन का भी स्थान था।

मैं चुपचाप पीछे आकर अपने स्थान पर बैठ गया। पर दुर्योधन बैठा नहीं था। वह चारों ओर देख रहा था। ऐसी युक्ति निकालने के पक्ष में था कि मैं उसके बगल में बैठ सकूँ। किंतु उसे कोई उपाय नहीं सूझा। वह अपने निकट के किस महापुरुष को उठाए? शल्य, शिशुपाल, जरासंध में से किसको? वस्तुत: वह किसीसे कुछ बोला नहीं, वरन् पीछे मेरे ही बगल में आकर बैठ गया।

थोड़ी देर बाद बीच की रिक्त पीठ पर एक राजकर्मचारी की दृष्टि पड़ी।

"यह खाली क्यों है?" उसने संभवत: शल्य से पूछा।

उन्होंने पीछे हमारी ओर संकेत किया। अब वह हमारी ओर लपका और निकट आकर दुर्योधन से अपने स्थान पर चलने का आग्रह करने लगा।

"कोई बात नहीं है। मुझे यहीं बैठा रहने दीजिए।" दुर्योधन ने कहा।

"सम्मान और प्रतिष्ठा के अनुसार आपको आगे बैठना चाहिए।" उसने पुन: विनय की।

"किंतु मैं मित्रता के अनुसार बैठना चाहता हूँ।" दुर्योधन ने बड़े सहजभाव से कहा।

वह चुपचाप चला गया। थोड़ी देर में वह अपने उच्च अधिकारियों से विचार-विमर्श करके लौटा और दुर्योधन के पार्श्व में बिलकुल सटकर एक पीठ और स्थापित की। हम दोनों वहीं बैठाए गए।

दुर्योधन के इस व्यवहार से पूरी सभा की दृष्टि मेरी ओर खिंच गई। मैं अपनी धरती से कुछ ऊपर उठ गया था।

निश्चित समय पर स्वयंवर का कार्यक्रम शुरू हुआ। मंडप के हवन स्थल पर ब्राह्मणों ने अग्निहोत्र आरंभ किया। उसी यज्ञकुंड की जगत के नीचे मात्र दक्षिणा

के लोभ में पधारे द्विजों के आसीनार्थ भी स्थान था। उनमें जिन्हें यज्ञ के मंत्र याद थे, वे तो बोल रहे थे, शेष के मुख केवल स्वर में स्वर मिला रहे थे।

अब महाराज द्रुपद सिंहासनारूढ़ हो चुके थे। अग्निहोत्र भी समाप्त होने को आया। इसी समय घोषणा की गई कि द्रौपदी अपने भाई के साथ पधार रही है। तुरही, ढोल, मृदंग, नगाड़े आदि अनेक वाद्ययंत्र एक साथ बज उठे। इसी बीच पूर्व के मुख्य द्वार से एक सजा-सँवरा हाथी सभामंडप में प्रविष्ट हुआ। उसी पर द्रौपदी अपने भाई के साथ थी।

हाथी ने पूरे मंडप की परिक्रमा की और उसपर बैठे उन दोनों ने सबको सामूहिक रूप से नमस्कार किया। धीरे-धीरे वाद्यों की ध्वनि मंद हो गई। फिर ब्राह्मणों ने वैदिक ढंग से स्वस्तिवाचन आरंभ किया।

हाथी से उतरकर महाराज द्रुपद की बगल में ही एक अन्य पीठ पर भाई-बहन दोनों बैठे। स्वस्तिवाचन के बाद ही धृष्टद्युम्न खड़ा हुआ और स्वागत करते हुए बोला, ''आचार्यगण, सम्मान्य नरेशवृंद एवं विशाल दर्शक समूह! महाराज की ओर से हम आप सबका अभिनंदन करते हैं। दूरस्थ प्रदेशों से पधारकर आप सबने हमें कृतार्थ किया है। हम और हमारी राजभक्त प्रजा आप सबके प्रति आभार व्यक्त करती है। जैसा आप जानते हैं, हमारी बहन कृष्णा विवाह के योग्य हो गई है। हमें उसके लिए सुयोग्य वर की खोज थी। इसी निमित्त आज यहाँ धनुर्विद्या की परीक्षा की योजना की गई है।'' धृष्टद्युम्न ने मंडप के बीचोबीच ऊँची वेदिका की ओर संकेत कर अपने कथन क्रम को आगे बढ़ाया, ''आप सब देख रहे हैं कि वेदिका पर गड़े विशाल स्तंभ में एक स्वर्ण मीन लटक रहा है। उसके ठीक नीचे एक चक्र है। अभी कुछ ही पलों में वह चक्र संचालित हो जाएगा। जो वीर तैल में पड़े मछली के प्रतिबिंब को देखकर बाण से मछली को बेध देगा, मेरी अनुजा उसीको वरमाला पहनाएगी।''

धृष्टद्युम्न की घोषणा समाप्त होते ही पूरी सभा में फुसफुसाहट रेंग गई। परीक्षा निश्चित रूप से बड़ी कठिन थी।

''हममें से अनेक ऐसे हैं जो धनुष-बाण लेकर नहीं आए हैं।'' एक तीखी आवाज मेरे पीछे कहीं से उठी।

''वाह, क्या विचित्र बात है! धनुर्विद्या की स्पर्धा और धनुष-बाण लेकर नहीं आए हैं!'' खिलखिलाहट के बीच यह प्रतिक्रिया उस ओर से व्यक्त की गई थी जिधर आदिवासियों का समूह बैठा था। मैंने थोड़ा उझककर देखा। भीड़ के बीच एकलव्य खड़ा होकर हँस रहा था।

सभी के अनुशासन को महादंडनायक ने सँभाला। धृष्टद्युम्न तत्क्षण खड़ा हो गया और बड़ी विनम्रता से बोला, ''हाँ, आपने अच्छा ध्यान दिलाया, मैं तो भूल ही गया था। यह लक्ष्यभेद आपको अपने धनुष-बाण से नहीं वरन् इसके लिए एक निश्चित धनुष-बाण से करना होगा। उसकी भी व्यवस्था की जा रही है।''

वेदिका के कुंड में तैल भरा जाने लगा। इसी बीच धृष्टद्युम्न कृष्णा का परिचय कराने के लिए हम नरेशों की ओर उसे ले आया। आगे-आगे पांचाल का प्रधान सेनापति था। उसके पीछे कृष्णा और उसका भाई था। अंत में कुछ अंगरक्षक थे। षोडश शृंगार से युक्त श्यामवर्णी कृष्णा हमारी कल्पना से भी अधिक आकर्षक दीख पड़ी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें नीलम की तराशी गई आकृति पर ऊपर से जड़ी हुई मालूम पड़ रही थीं। सघन मेघों के मध्य दामिनी की भाँति उसके अधरों के बीच मुसकराहट खेल रही थी। वह जिधर से निकलती थी उधर ही प्रकाश हो जाता था।

धृष्टद्युम्न एक ओर से चल रहा था। वह क्रमश: राजाओं का परिचय कराता जाता। परिचय प्राप्त करने के बाद कृष्णा विनय और लज्जामिश्रित मुसकराहट के साथ नमस्कार करती थी। बारी-बारी से हम उसकी सलज्ज मुसकराहट की प्रतीक्षा करते रहे।

अब वह मेरे निकट आई। उसने मुझे दृष्टि भर देखा। मेरे कुंडलों में अवश्य ही उसकी नयन-रश्मि उलझी। किंतु ज्यों ही मेरा परिचय दिया गया, उसकी मुद्रा बदल गई। वह सामान्य नमस्कार कर एकदम आगे बढ़ गई, मानो मैं कोई अस्पृश्य होऊँ। उस समय मैं यह समझ नहीं पाया कि यह अप्रत्याशित परिवर्तन क्यों है?

मैं कुछ सोचने सा लगा। तब तक वह दुर्योधन के सामने से भी आगे निकल चुकी थी। मैंने दुर्योधन की ओर प्रश्नवाचक मुद्रा से देखा। वह चुप था। फिर भी उसकी आँखें कह रही थीं, बाढ़ की उन्मादकर सरिता और सौंदर्यगर्विता नारी अपनी मर्यादाओं का कब ध्यान रखती है!

परिचय देने और दिलाने का यह क्रम कुछ समय तक चलता रहा। फिर दोनों अपने निश्चित स्थान पर आकर बैठ गए। वेदिका पर वह प्रचंड धनुष भी रख दिया गया था, जिसकी प्रत्यंचा फौलादी तार की थी। शंख और तूर्य की तीव्र ध्वनि के साथ स्पर्धा स्थल पर पधारने के लिए घोषणा आरंभ हुई।

पराक्रम और प्रतिष्ठा की दृष्टि से पहले सामान्य नरेशों के नाम पुकारे गए। उनमें से कोई भी धनुष पर प्रत्यंचा नहीं चढ़ा पाया। धनुष कुछ ऐसा था कि लौहतार खींचते समय वह हाथ से छूट जाता था और जोर के झटके के साथ

चढ़ानेवाला घायल हो जाता था। ज्यों ही प्रतिस्पर्धा को ऐसी असफलता मिलती, दर्शक तालियाँ बजाकर हँस पड़ते।

सामान्य लोगों की इस दयनीय दशा के बाद अब विशेष नरेशों का क्रम चला। अश्वत्थामा के नाम की घोषणा हुई। द्रोणाचार्य का पुत्र है। धनुर्विद्या तो इसकी पैतृक संपदा है, लोगों ने सोचा। जब वेदिका पर चढ़ा। दर्शकों का विश्वास मूक हो उसके भव्य व्यक्तित्व को देखता रह गया। किंतु प्रत्यंचा चढ़ाने में उसने पूर्व योद्धाओं की भाँति वही मौलिक भूल की। उसे तो ऐसा आघात लगा कि वह वेदिका के नीचे गिरा। उसका कंठहार टूट गया। मुकुट भूलुंठित हो गया। दर्शकों की खीज भरी निराशा कोलाहल में परिवर्तित हो गई। वह अपने कंठहार की मणियाँ भी बीन नहीं पाया।

इस कांड ने उसकी प्रतिष्ठा एकदम निचोड़ ली। वह शुष्क द्राक्षा की भाँति अपने स्थान पर आकर संकुचित हो गया। भगदत्त की भी लगभग यही दशा हुई थी। इससे भले तो कंक और शंक रहे, जिन्होंने धनुष उठाकर देखा और चुपचाप उसे यथावत् रख दिया। दर्शकों के परिहास का उन्हें अधिक सामना नहीं करना पड़ा।

अब तक मेरा मन धनुष और उसकी प्रत्यंचा का गुर समझने में ही उलझा रहा। अब मैं लगभग उसका रहस्य समझ गया। आत्मविश्वास बढ़ने लगा था। मेरे विचार से प्रत्यंचा चढ़ाने की शक्ति की उतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी कौशल की। तब तक मैंने देखा कि शिशुपाल भी झटका खा गया। उसके मुख से रक्त की धारा बह निकली।

अब जरासंध की बारी थी। उसके विभ्राट् व्यक्तित्व से लोगों को बड़ी आशाएँ थीं। उसके उठते ही सभी समर्थक करतल ध्वनि करने लगे। वेदिका पर जब वह पर्वताकार खड़ा हुआ तब मुझे भी आकर्षक लगा। अचानक मेरी दृष्टि श्रीकृष्ण की ओर घूमी, वे मुसकरा रहे थे और ब्राह्मणों के बीच बैठे किसी व्यक्ति को संकेत करके वह बलराम से कुछ कह रहे थे।

इस बार भी वही गलती हुई। झटका खाकर विशाल जरासंध घुटनों के बल गिर पड़ा। उसके समर्थकों में हाहाकार मचा।

विपक्षी परिहास कर बैठे, "मुझे विश्वास नहीं था कि जितना मोटा इसका तन है, वैसी ही मोटी इसकी बुद्धि भी होगी।"

अब तक कोई प्रतिक्रिया न व्यक्त करनेवाले कृष्ण भी हँसते हुए कुछ बोल पड़े।

जरासंध इतना लज्जित हुआ कि वह उठकर सीधे सभामंडप के बाहर चला गया। शल्य की असफलता कोई विशेष महत्त्व की नहीं थी, क्योंकि झटके की संभावना मात्र से वे चुपचाप अपने स्थान पर लौट आए थे।

ऐसे महारथियों की असफलता के बाद द्रुपद के मस्तक पर चिंता की रेखाएँ उभर आई थीं। वह अत्यंत गंभीर दिखाई दे रहे थे। पर ऐसी कोई बात धृष्टद्युम्न की आकृति पर नहीं थी। सबसे अधिक प्रसन्न श्रीकृष्ण थे। बीच-बीच में निराशा के उस सुनसान मरुस्थल में उनकी खिलखिलाहट बरस पड़ती थी। अब मामा के नाम की उद्घोषणा हुई। हम लोगों ने तालियाँ भी बजाईं; पर वह बड़े धीरे से उठे। उनकी चाल से स्पष्ट लगा कि वे विश्वास खो बैठे हैं। परिणाम भी विचित्र ही हुआ। प्रत्यंचा का पहला आघात तो उन्होंने बचा लिया, पर दूसरे आघात में ऐसे गिरे कि चेतना खो बैठे।

गंभीर कोलाहल हुआ। कुछ लोग उन्हें उठाकर मंडप के विश्रामकक्ष की ओर ले गए। ब्राह्मणों के समुदाय से एक भीमकाय व्यक्ति उठ खड़ा हुआ और तालियाँ बजाकर हमारा उपहास करने लगा। मुझे बड़ा ही बुरा लगा; पर मैं कर ही क्या सकता था। मैंने अनुभव किया कि मामा को इस स्पर्धा में भाग ही नहीं लेना चाहिए था।

प्रतिष्ठा बचाने के लिए दुर्योधन बोल पड़ा, "मामाजी पहले से ही रुग्ण थे।" उसकी यह आवाज परिहास के शांत होते जलाशय में पत्थर के टुकड़े की तरह गिरी। परिहास पुन: आंदोलित हो उठा।

"यह स्पर्धा रुग्ण लोगों के लिए तो थी नहीं।" द्रौपदी बड़े ही अहं में बोली और एक कुटिल हँसी हँस पड़ी।

दुर्योधन भीतर-ही-भीतर जल उठा। उसने मुझसे कहा, "क्या समझती है यह नारी अपने को?" और उसी आवेश में बिना नाम पुकारे लक्ष्यभेद के लिए मंच की ओर बढ़ा।

"जरा अपनी नाड़ी की गति किसी वैद्य से दिखा लीजिए। ऐसा तो नहीं कि आपके भीतर भी कोई रुग्णता सो रही हो!" बरछी की तरह बेधती ध्वनि द्विजों के बीच से उठी थी और फिर उन्मुक्त हास में बदल गई। इस बार श्रीकृष्ण भी हँस पड़े। मैं पहचान तो नहीं पाया कि यह कौन सा ब्राह्मण है, पर उनमें एक भीमकाय व्यक्ति बहुत उछल रहा था। जी में आया कि यदि उसे पाता तो कच्चा चबा जाता।

इन व्यंग्योक्तियों के बीच वह बड़े ही राजसी ठाट से मंच पर चढ़ा। हम लोगों ने दीर्घ करतल ध्वनि की। उसने अभिमान भरी दृष्टि से चारों ओर देखा।

अरे, वह यह क्या करने लगा? वह तो वही पुरानी भूल दोहराने जा रहा है, जिसे पहले के लोग कर चुके हैं। मैं स्वयं को रोक नहीं पाया, खड़ा हो गया। मेरे मुख से स्वाभाविक ढंग से निकला, "अरे, तुम तो पिछली भूल दोहराने जा रहे हो!"

मेरी आवाज उस तक पहुँच भी न पाई थी कि श्रीकृष्ण ने मुझे टोका, "आप इतने व्यग्र क्यों हो रहे हैं? जब आपकी बारी आएगी तब आप इस भूल को सुधार लीजिएगा।"

मैं चुपचाप बैठ गया; पर जो नहीं चाहता था वही हुआ। दुर्योधन की दोनों अँगुलियों के बीच प्रत्यंचा का झटका लगा और वह गिर पड़ा।

यह दुर्योधन की नहीं, मेरी पराजय थी। मैं तिलमिलाकर उठ खड़ा हुआ और बड़े रोष से बोला, "अब इस प्रत्यंचा का अभिमान मैं ही चूर्ण करूँगा।"

उद्घोषक हक्का-बक्का सा मुझे देखता रह गया। शायद वह कोई दूसरा नाम पुकारने वाला था, पर साहस के साथ मंच की ओर मुझे बढ़ता देखकर सहम गया।

मंच पर चढ़ते ही मैंने बड़े गौरव के साथ धनुष को उठाया। फिर एक पल भी न लगा होगा कि मैंने प्रत्यंचा चढ़ा दी। मैं पहला व्यक्ति था, जिसे यह सफलता मिली थी। तालियों की गंभीर गड़गड़ाहट के बीच मुझे ऐसा लगा जैसे सुवर्चा मेरे कान में कह रहा हो कि मैंने क्या कहा था। मैं और अधिक आशान्वित हुआ। मेरी गर्व भरी दृष्टि महत्त्वपूर्ण आकृतियों का स्पर्श करती आगे बढ़ी। कृष्ण मुझे सामान्य रूप से गंभीर दिखाई पड़े। द्रुपद की आकृति पर आशा की आभा आई। पर द्रौपदी अत्यधिक व्यग्र दिखाई दी।

मैंने अपने आराध्य देव सूर्य का स्मरण किया और ज्यों ही शर-संधान करने लगा कि द्रौपदी अपने स्थान पर खड़ी होकर चीख पड़ी, "मैं सूतपुत्र का वरण नहीं करूँगी!" वह एक बार नहीं, वरन् अग्निशिखा की भाँति अनेक बार भभकते हुए तब तक बोलती रही जब तक मैंने धनुष पटक नहीं दिया।

यह पूरी सभा के सम्मान पर वज्रपात था, मेरे अभिमान पर कुठाराघात था। दर्शकों को द्रौपदी की यह बात अच्छी नहीं लगी।

"यदि मुझे वरण नहीं करना था तो आमंत्रित क्यों किया गया?" मेरा स्वाभिमान गरजा।

"मैंने उच्च वर्ण के लोगों को स्पर्धा के लिए आमंत्रित किया था। मुझे क्या पता था कि तुम सूतपुत्र हो!" धृष्टद्युम्न ने कहा।

"किंतु तुम अपनी भूल का बदला मेरा अपमान करके लो, यह कहाँ का

न्याय है ?" मैंने ओठ चबाते हुए कहा।

"आप तो व्यर्थ ही आपे से बाहर हो रहे हैं।" इस बार उद्घोषक बोला, "मान लीजिए, आपको भूल से आमंत्रित कर ही दिया गया तो क्या हुआ ? हमने आपका अपमान तो किया नहीं, स्वागत ही किया। पर लक्ष्यभेद के लिए आपके नाम की उद्घोषणा नहीं की गई थी। आप अनधिकार मंच पर क्यों चले आए ?"

उद्घोषक इस प्रकार की बातें कहे ! मैं क्रोध से काँपने लगा। मेरे अंतर में ज्वालामुखी फूट पड़ा था। शरीर में भूकंप आ गया था। मेरी श्वास तेज हो गई थी; जैसे वह धुआँ छोड़ रही हो। मेरा क्रोध स्वयं मेरे विवेक को भस्म करने लगा था। मैं समझ नहीं पा रहा था कि क्या करूँ। उसी वेदिका पर पागलों की भाँति चक्कर काटने लगा। मन में बस एक ही ध्वनि बार-बार प्रतिध्वनित होती थी कि 'तुम सूतपुत्र हो, तुम सूतपुत्र हो !'

इतना आभास अवश्य हुआ कि दुर्योधन ने खड़े होकर कुछ कहा; पर उसे सुन नहीं पाया। हाँ, उसके प्रत्युत्तर में कही गई यह बात मुझे दस गुने वेग से सुनाई पड़ी कि "युवराज, तुम कर्ण को रंक से राजा बना सकते हो, पर सूत से क्षत्रिय नहीं बना सकते।" और फिर अट्टहास में सबकुछ खो गया।

'मैं सूत हूँ; पर मेरा शौर्य, मेरा धनुःकौशल, मेरी तेजस्विता किस क्षत्रिय से कम है ? यदि क्षत्रिय को ही वरण करना था तो धनुर्विद्या की स्पर्धा क्यों रखी गई ?' मेरा मन बार-बार मुझसे पूछ रहा था, पर मैं कुछ बोल नहीं सका। केवल तिलमिलाता हुआ वेदिका पर चक्कर काटता रहा।

"आप कृपया वेदिका से नीचे उतर जाइए।" उद्घोषक ने कहा, "कार्यक्रम को आगे चलने दीजिए।"

"है किसीमें क्षमता, जो इस लक्ष्य का भेदन कर सके ?" मेरा अहं एक बार फिर फुफकारकर खड़ा हो गया। मेरी चुनौती भरी आवाज चारों ओर गूँजकर स्वयं मुझसे टकराई।

धृष्टद्युम्न जोर से हँसा, "यदि कोई लक्ष्यभेद नहीं कर सकेगा तो मेरी बहन बिना ब्याही रह जाएगी; पर आप मंच से उतरने की कृपा कीजिए।"

मैं लौट पड़ा। मुझे लगा कि सिंह-से दहाड़ते मेरे स्वाभिमान के हाथ-पैर बाँधकर कोई खींचता चला जा रहा है। मैंने एक बार फिर कृष्ण की ओर देखा। उनकी दोनों आँखों से ज्वाला निकल रही थी। अब उस मंडप में सबकुछ मेरे लिए शून्य था। केवल रह गई थी आग उगलती हुई दो आँखें। सामने वही आँखें, बगल में वही आँखें, पीछे वही आँखें; चारों ओर आँखें, आँखें, आँखें ! आग, आग, आग !

मैं जलन से तड़प रहा था। मेरे चोट खाए अहं ने प्रतिज्ञा की कि इस नारी ने भरी सभा में मेरा अपमान किया है। यदि मैं इसे भरी सभा में अपमानित न करूँ तो मेरा पुरुषत्व किसी काम न आए। भीतर-ही-भीतर छटपटाते हुए मेरे अमर्ष ने मुझे शाप दिया, 'कर्ण, तुम तब तक जलते रहोगे जब तक इस नारी के अभिमान को चूर न कर दोगे। शपथ लो कि मैं तब तक विवाह नहीं करूँगा जब तक इसकी जलती आँखों की आग बुझा न दूँ। इसके नारीत्व को निर्वसन न कर दूँ।'

मैं नितांत अंतर्मुखी हो गया था। बाह्य जगत् का बिलकुल ज्ञान न था। क्रोध क्षुब्ध होकर तरल हो जाता है। शायद इसलिए मेरे नेत्र गीले हो गए थे।

"कर्ण! यह क्या कर रहे हो, कर्ण?" बगल में बैठे दुर्योधन ने उत्तरीय से मेरी आँखें पोंछीं।

मैं धरती पर लौटा। मैंने सुना, धृष्टद्युम्न कह रहा था, कदाचित् अब कोई ऐसा नहीं रहा जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो सके। लगता है, मेरी बहन अविवाहित ही रह जाएगी।"

"यह हो सकता है कि आपकी बहन अविवाहित रह जाए; किंतु इस परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले लोग अब भी इस मंडप में हैं।" एक तीखी आवाज दर्शकों के बीच से तीर की तरह छूटी। सबकी दृष्टि उधर खिंच गई।

कुतूहल के चरम उत्कर्ष पर महाराज द्रुपद स्वयं बोल पड़े, "इस परीक्षा की चुनौती स्वीकार करने की क्षमता अब किसमें है? क्या मैं उसे देख सकता हूँ?"

दर्शक दीर्घा से कड़कती ध्वनि के साथ एक युवक निकलता दिखाई दिया, "आप उसे सहर्ष देख सकते हैं, महाराज। किंतु वह क्षत्रिय नहीं है। उसकी शिराओं में आदिवासी रक्त है। वह भीलपुत्र है। वह यह लक्ष्य क्या, इससे कठिन लक्ष्य भी वेध सकता है, पर वर्ण और जाति की दीवारें नहीं तोड़ सकता।" इतना कहते-कहते वह दीर्घा से बाहर निकल आया था। सारी सभा आँखें फाड़कर उसे देखने लगी। पांचाली, धृष्टद्युम्न, द्रुपद, कृष्ण सबने बड़े ध्यान से उसे देखा।

मुसकराहट के बीच उसकी कड़कती हुई ध्वनि पुनः सुनाई पड़ी, "यदि आज्ञा हो, महाराज, तो मैं अपना कौशल दिखाऊँ?"

कुछ क्षणों तक स्तब्धता छाई रही। महाराज ने उसकी ओर से मुख फेर लिया और अत्यंत गंभीर हो बोले, "नहीं। तुम्हें अपना कौशल दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

"बस, डर गए, महाराज! धनुर्विद्या की परीक्षा का नाटक समाप्त हो गया। मैं कह रहा था न कि लक्ष्यभेद तो मैं कर सकता हूँ, पर उस जातीय ईर्ष्या का भेदन

नहीं कर सकता जिसने मेरा यह अँगूठा कटवा लिया।'' उसने अपना दाहिना हाथ हिलाकर कटा हुआ अँगूठा पूरी सभा को दिखाया।

''अरे, यह तो एकलव्य है!'' ब्राह्मणों के बीच से एक ध्वनि छूटकर पूरे वातावरण पर छा गई। फिर भी वह हँसता हुआ अपना अँगूठा दिखाता रहा, मानो वह खोया हुआ अँगूठा क्षत्रियों के स्खलित पराक्रम को दिखा रहा हो, युग की जर्जर वर्ण-व्यवस्था को दिखा रहा हो।

एकलव्य तो दर्शक दीर्घा में पुन: खो गया, फिर भी उस मंडप में कोई वस्तु सबसे ऊपर मुझे दिखाई दे रही थी तो वह था एकलव्य का वही कटा अँगूठा, जिसका रक्त समाज के उच्च वर्णों के मुख में टप-टप चू रहा था।

''क्या यह मान लिया जाय कि उच्च वर्ण में कोई भी व्यक्ति यह लक्ष्यभेद नहीं कर सकता?'' धृष्टद्युम्न ने पूरी सभा से पूछा।

''यदि अनुमति हो तो हम प्रयत्न कर सकते हैं।'' द्विज वर्ग से आवाज आई और मृगचर्म पहने एक जटाजूटवाला तपस्वी ब्रह्मचारी खड़ा हो गया।

ब्राह्मणों में से ही एक वर्ग ने उसका विरोध किया, ''जब सारे यशस्वी महारथी हार मान चुके हैं, तब भला यह ब्रह्मचारी दुस्साहस करने क्यों चला है? कहीं ऐसा तो नहीं कि इसकी पराजय से हमारे विप्र कुल का अपमान हो?''

ब्राह्मणों में स्पष्टत: दो वर्ग हो गए थे। एक वर्ग वृद्धों का था, जिनका विचार था कि इस स्पर्धा में हमें भाग नहीं लेना चाहिए। दूसरा वर्ग युवकों का था। वे वृद्धों के निराशावादी दृष्टिकोण से सहमत न थे। उनका कहना था कि लक्ष्यभेद का उन्हें अवश्य अवसर मिलना चाहिए। युवक अधिक उत्साह में थे। वे वृद्धों की जीर्ण अनुशासन की परिधि से बाहर जा चुके थे। अपना उत्तरीय उछाल-उछालकर अपने पक्ष में नारे लगा रहे थे।

इसी बीच उद्घोषक ने महाराज और धृष्टद्युम्न से कुछ मंत्रणा की। मैंने देखा कि श्रीकृष्ण लगातार अपने नेत्रों से उस खड़े हुए ब्रह्मचारी को कुछ संकेत कर रहे हैं और बलराम के कानों में मुसकराते हुए कुछ कह रहे हैं।

उद्घोषक ने कहा, ''अच्छा, अब आप लोग शांत हो जाइए। आपको भी लक्ष्यभेद का अवसर दिया जा रहा है।''

ब्राह्मण युवकों ने इस घोषणा का स्वागत तुमुल हर्षध्वनि से किया।

अब वह ब्रह्मचारी मंच की ओर चला। नरेशों का मनोबल इतना गिर चुका था कि उस समय हममें से कोई कुछ नहीं बोला, मूर्तिवत् उसे देखता रहा, मानो विश्वास ही न हो कि वह इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो पाएगा।

किंतु उसने देखते-देखते प्रत्यंचा चढ़ा दी। विलक्षण हर्षध्वनि हुई। मेरे मन ने भी कहा कि निश्चित ही यह धनुर्विद्या में निपुण है। तब तक तैल में प्रतिबिंब देखकर उसने एक के बाद एक पाँच बाण मार ही तो दिए। लक्ष्य की मछली टूटकर गिर पड़ी। अब क्या था! ब्राह्मण उछल पड़े। हम क्षत्रियों को पाला मार गया। शंख, तूर्य, भेरी और मृदंग बजने लगे। दर्शक दीर्घा में कुछ लोग नाचने लगे। मैंने पहली बार श्रीकृष्ण को करतल ध्वनि करते देखा। पांचाली नितांत प्रसन्न मुद्रा में वरमाला लेकर चली।

खोज जब अपनी परिधि पार कर क्रोध का रूप लेती है, तब वह अधिक बीभत्स हो जाती है। ऐसा ही गाली-गलौज भरा बीभत्स आक्रोश क्षत्रियों की ओर से उभरा, ''ब्राह्मण स्वयंवर में भाग नहीं ले सकता।''

''पर ब्राह्मण के लिए अनुलोम विवाह की शास्त्र में व्यवस्था है।'' द्विज वर्ग का उत्तर था।

''वह अनुलोम विवाह तो कर सकता है; पर स्वयंवर ब्राह्मणों के लिए नहीं होता। एक द्विजपुत्र को वरण कर द्रौपदी ने हमारा अपमान किया है।''

''यदि क्षत्रिय लक्ष्यभेद नहीं कर सके तो क्या किया जाता!'' इस बार श्रीकृष्ण ने बीच-बचाव किया।

''तब द्रौपदी को अविवाहित रहना चाहिए था या चिता में जलकर भस्म हो जाना चाहिए था। आपने हम क्षत्रियों को बुलाकर हमारा अपमान किया है। हम इसे कभी बरदाश्त नहीं करेंगे।'' क्षत्रियों का विरोध चलता रहा।

किंतु द्रौपदी ने ब्रह्मचारी के गले में वरमाला डाल दी और मृगछाला पकड़कर उसकी बगल में खड़ी हो गई।

क्षत्रियों ने हो-हल्ला मचाया। मैं स्वयं इस विरोध के पक्ष में नहीं था; क्योंकि इस विरोध के पीछे न तो हमारी नैतिक शक्ति थी, न मनोबल और न जन-समर्थन ही हमें मिल पा रहा था। फिर भी कुछ लोग झगड़ा करने पर उतारू थे। वह खेलना नहीं वरन् खेल बिगाड़ना चाहते थे; पर हम लोग शांत थे।

ब्राह्मणकुमारों में से जो सबसे बलिष्ठ मालूम पड़ रहा था, मंडप के बाहर की ओर लपका और उद्यान से एक सूखा पेड़ उखाड़ लाया। उसकी टहनियाँ तोड़कर गदा की भाँति अपने कंधे पर रखकर लक्ष्यभेद करनेवाले ब्रह्मचारी की बगल में खड़ा हो गया और दहाड़ते हुए बड़ी उजड्डता से बोला, ''यदि जरा भी कोई आगे बढ़ा तो सिर फोड़ दूँगा!''

''यह ब्रह्मचारी तो भीम की तरह उद्धत लगता है।'' मैंने दुर्योधन से कहा।

पर उसने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। उसका सिर नीचा था, नीचे ही रहा। वह मामा को देखने विश्रामकक्ष की ओर चुपचाप चला गया।

श्रीकृष्ण, बलराम आदि उपद्रव करनेवाले क्षत्रियों को समझा रहे थे। कुछ तो शांत हो गए थे, कुछ पुराना ही राग अलाप रहे थे कि यह स्वयंवर की प्रथा पर आघात है। धर्म की रक्षा के लिए हमें यह विवाह स्वीकार नहीं करना चाहिए।

वहाँ उनका यह तर्क सुननेवाला कोई नहीं था। द्रौपदी ब्रह्मचारी की मृगछाला पकड़े सभामंडप से बाहर चली। शुभ वाद्य बज उठे। उसके निकट यदि बाधक बनकर कोई क्षत्रिय पहुँचता तो दूसरा ब्रह्मचारी वृक्ष के कुंदे से उसपर प्रहार करता। इस प्रकार उसने दो-चार को तो सुला ही दिया।

खेल समाप्त हो चुका था। अधिकांश लोग जा चुके थे। संध्या का म्लान सूर्य अपनी किरणें समेटने लगा था। द्रौपदी अपने पति के साथ लगभग आधा उद्यान पार कर चुकी थी। मैंने वहाँ तक पहुँचने का अवसर निकाला।

''तुम भी यहाँ तक चले आए!'' कुंदा लिये वह उजड्ड ब्रह्मचारी तड़पा। उसकी ध्वनि और व्यवहार सबकुछ मुझे भीम जैसा ही लग रहा था। किंतु सिर, श्मश्रु और दाढ़ी के बालों के जंगल में उसकी आकृति की वास्तविकता ऐसी ढकी थी कि मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा था।

मैंने वीरोचित स्वर में कहा, ''मैं आपको बाधा पहुँचाने नहीं वरन् बधाई देने आया हूँ।''

''इसके लिए आपको अनेक धन्यवाद।'' वरमाला पहने ब्रह्मचारी ने मुझसे आँखें बचाईं और दूसरी ओर देखते हुए बोला।

''मैं जो कर सकता था वह नहीं कर पाया और तुमने वह कर दिया जो नहीं करना चाहिए था।'' मैंने कहा।

''तो इसके लिए मैं क्या करूँ?'' उसकी वाणी में ब्राह्मणोचित माधुर्य का अभाव था। मैंने फिर उसकी ओर देखा। उसकी आँखें जैसे मुझे पहचान रही हों।

''तुममें इंद्र जैसा पराक्रम और परशुराम जैसा तेज है।'' मैंने कहा।

वह मंद-मंद मुसकराकर मौन हो गया। आगे बढ़ा।

''पर यह तो निश्चय हो ही नहीं पाया कि तुममें और मुझमें कौन बड़ा योद्धा है?'' मैंने कहा।

''तो क्या तुम मुझसे युद्ध करना चाहते हो?''

''चाहता तो था।'' क्षण भर रुककर मैं कहता गया, ''पर ब्रह्मतेज को मैं अजेय मानता हूँ, इसलिए तुमसे युद्ध चाहकर भी युद्ध से विरत हो रहा हूँ।''

"तब इसके लिए भी धन्यवाद।" इतना कहकर वह और आगे बढ़ा। वह मुझसे पिंड छुड़ाना चाहता था और मैं चिपका जा रहा था।

"क्या मैं ब्राह्मण बनकर तुमसे युद्ध नहीं कर सकता?" मेरे मुख से अनायास ही निकल पड़ा। मैं आज तक नहीं समझ पाया कि संदर्भ से टूटे इस कथन के मूल में क्या बात थी! ऐसा तो नहीं कि मेरी जातीय कुंठा ही मुझपर ब्राह्मणत्व का आरोप करने के लिए सदा उत्तेजित हो जाती रही हो।

"ब्राह्मण बनकर।" इन शब्दों की आवृत्ति के साथ-ही-साथ ब्रह्मचारी की आकृति का रंग ही जैसे उड़ गया।

किंतु मैं बोलता चला गया, "हाँ-हाँ, मैं ब्राह्मण बन सकता हूँ। बना भी था, तब परशुराम तक धोखा खा गए थे। क्या ब्राह्मण बनकर मैं तुमसे युद्ध नहीं कर सकता? क्योंकि मेरा मन यह मानने को तैयार नहीं है कि तुम बड़े धनुर्विद् हो।"

अब उसकी स्वच्छंदता व्यग्रता में परिवर्तित होने लगी। वह लगभग घबरा गया था। "ब्राह्मण बनने की आवश्यकता नहीं। समय की प्रतीक्षा करो।" वह कहते हुए आगे बढ़ने लगा, "हो सकता है, ऐसी परिस्थिति स्वतः आ जाए, जिसमें हमारे धनुःकौशल की परीक्षा हो जाए।"

संध्या काली पड़ चुकी थी। आगे बढ़ती हुई द्रौपदी ने एक बार फिर मुझपर कुटिल मुसकराहट बिखेरते हुए देखा। उसकी आँखों से चिनगारी छिटक रही थी।

मेरे ब्राह्मण बनने की बात कहते ही उसका चेहरा क्यों फक हो गया? ऐसा तो नहीं कि वह अर्जुन ही हो और ब्राह्मण वेश में हो? क्योंकि धनुर्विद्या में ऐसा पारंगत इस समय आर्यावर्त में कोई दूसरा नहीं हो सकता। उसके साथ का दूसरा व्यक्ति तो स्पष्ट रूप से भीम लगता है। पर ऐसा कैसे हो सकता है? वे सब तो लाक्षागृह में भस्म हो गए थे। क्या वे पुनः जीवित हो सकते हैं? कहीं मामा की आशंका सत्य तो नहीं निकलेगी? तब क्या होगा, भगवान्?

शंकाओं में मेरा मन डूब गया। बाहर का अँधेरा मेरे भीतर घुसने लगा।

□

दस

ऊसर में पड़े बीज की भाँति हमारी सारी योजनाएँ नष्ट हो गईं। षड्यंत्र के जिस विशाल भवन को हमने सुदृढ़ दुर्ग समझा था, उसे नियति ने लात मारकर बच्चों के घरौंदे जैसा गिरा दिया। हमारी कुत्सित आशाएँ भस्म हो गईं। पांडव उसमें से निकल गए। उनकी इस सफलता में विदुर का हाथ था या पांडवों के भाग्य का, इसपर मैं विचार करने की स्थिति में नहीं हूँ। इस समय मैं तो उस कालिख को देख रहा हूँ जो लाक्षागृह के धूम से उठकर मेरे मुख पर लगी है। क्या मैं इसे धो पाऊँगा?

यह एक ऐसा प्रश्न है, जो पिछले चार दिनों से मुझे कुरेद रहा है; किंतु मैं इसका उत्तर नहीं दे पा रहा हूँ। व्यग्र हूँ। अपने ही प्रासाद के अंत:पुर में पड़ा हूँ। फिर भी इसकी प्रौढ़ प्राचीरों को छेदकर प्रजा का उल्लास मुझ तक आ रहा है। प्रजा कितनी आनंदविभोर है कि पांडव जीवित हैं। अधर्म पराजित हुआ है। धर्म की विजय हुई है। इसलिए नाचो, गाओ और गला फाड़-फाड़कर चिल्लाओ कि हजार सुरक्षाओं के बीच भी अन्याय जलकर राख हो जाता है और अंत में खरे सोने की तरह न्याय ही दमकता रह जाता है।

आज प्रजा में पांडवों की प्रतिष्ठा तप्त स्वर्ण की भाँति दमक रही है और हम धूमिल हो गए हैं। तब्र हस्तिनापुर की जनता की क्या स्थिति होगी? इसका आभास मुझे लग रहा है और विलास की हर सुविधा में पड़ा हुआ मैं भीतर-ही-भीतर जल रहा हूँ। आपको विश्वास नहीं होगा, पर सच कहता हूँ, चार दिनों से मैं सोया नहीं हूँ। मात्र इस सत्य की अनुभूति कर रहा हूँ कि अन्याय सहनेवाले से अन्याय करनेवाला अधिक व्यग्र और दु:खी होता है।

मेरी प्रजा को सूचना है कि मैं अस्वस्थ हूँ। वैद्यराजजी आए थे। उन्होंने मेरी स्वास्थ्य-परीक्षा की थी। क्या पाया होगा उन्होंने मेरी नाड़ी की गति में? महामात्य

का कहना था कि वैद्यराज के निदान के अनुसार आपको अपमानित होने का आघात लगा है। इससे मानसिक तनाव बढ़ गया है।

किंतु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। मेरे जन्म के समय ही मेरे मानस में अपमान और तिरस्कार का विष घोल दिया गया था, जिसके फलस्वरूप किसी भी अपमान की चोट मुझे अब बहुत गहरी नहीं लगती और न वह अपना कोई प्रभाव ही छोड़ती है। इस बार भी मैं अपमानित होने से उतना परेशान नहीं हुआ जितना षड्यंत्र के उद्घाटित हो जाने से। इस घाव की गहराई की थाह वैद्यराज को क्या मेरी नाड़ी की गति से लगी होगी ? मेरा विचार है कि बिलकुल नहीं। फिर भी वह मुझे सुलाए रखना चाहते थे।

मुझे अनेक प्रकार की मदिरा पिलाई गई। फिर भी मैं सो नहीं पाया। अनिद्रित अवस्था में आशंकाएँ सौ गुनी और व्यग्रता हजार गुनी बढ़ जाती हैं। शायद ऐसी ही स्थिति रही होगी, जब देवताओं को निद्रा भी महाशक्ति के रूप में दिखाई पड़ी थी और उन्होंने उसकी आराधना की थी।

मैं सो नहीं पाया। मेरी मन:स्थिति निद्रादेवी की आराधना की स्थिति में भी नहीं थी, वरन् मैं उसपर खीज रहा था और करवटें बदलता जा रहा था।

आज की रात का भी यौवन निकल गया। उसकी वृद्धता मुझे धीरे-धीरे सहलाने लगी। व्यग्रता से ही लिपटकर मैं सो गया। जब आँखें खुलीं, दिन प्रहर भर चढ़ आया था। प्राची के वातायन के निकट जाते ही मुझे लगा जैसे प्रासाद के बाहर बहुत दूर पर कुछ लोग एकत्र होकर कुछ कह रहे हों। शंकित मन व्याकुल हो उठा। ऐसा तो नहीं कि प्रजा मेरा विरोध करने के लिए प्रासाद के बाहर इकट्ठी हो गई हो। मैंने ध्यान से सुनने की चेष्टा की, किंतु कुछ स्पष्ट नहीं हो पाया। सोचा, महामात्य को बुलाऊँ। ज्यों ही परिचारक के लिए मैंने करतल ध्वनि की, ''महाराजाधिराज का अभिवादन करती हूँ।'' कहती-खिलखिलाती हुई माला कक्ष में प्रविष्ट हुई।

''तुम आ गईं! पर मैं तो किसी परिचारक को बुला रहा था।'' सहज मुसकराहट के बीच मैं बोला। तनाव कुछ ढीला पड़ा।

''क्यों ? क्या मुझसे भी अच्छा आपका कोई परिचारक हो सकता है ?''

''परिचारक नहीं, परिचारिका कहो।''

''व्यग्रता में लिंग-ज्ञान गड़बड़ाने लगता है।''

''तब ऐसी भूल मुझसे होनी चाहिए थी, तुमसे कैसे हो गई ?''

''क्योंकि तुम्हारी हर भूल मेरे दर्पण में दिखाई देती है।'' वह फिर हँस पड़ी।

"अच्छा जी, तो तुम मेरा दर्पण हो।"

"और तुम मेरे दर्प!" खिलखिलाहट में घुलकर उसकी आत्मीयता इतनी मादक हो गई थी कि जो कार्य पिछले पाँच दिनों से मैरेय ने नहीं किया वह माला के एक स्पर्श ने कर डाला। उसने बड़ी मृदुता से पूछा, "आखिर इतने व्यग्र क्यों हो?" इस प्रश्न के साथ ही दूर से आनेवाली ध्वनि पुनः मेरे कानों में चुभी।

"यह कैसा स्वर है?" मैंने पूछा।

"राज्य के वेदपाठी ब्राह्मण आपके शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ के लिए गंगातट पर भगवान् भास्कर से प्रार्थना कर रहे हैं।"

"ओ, यह बात है!" मेरा मन हलका हुआ। कितना विचित्र है! संसार जैसा है हम वैसा नहीं देखते, वरन् हमारा मन जैसा है हम संसार को वैसा देखते हैं। इसीलिए दृश्य एक होने पर भी द्रष्टा की मन:स्थिति के अनुसार वह भिन्न-भिन्न हो जाता है।

अब मैंने अपने मन का चोर माला को बताया। वह हँस पड़ी, खूब हँसी।

"तब तुमने नहीं कहा था कि मैं उस आग के लिए जल लेकर जाऊँगी।"

"तब तो क्या मैं तुम्हें आज कम सजल दीखती हूँ!" इतना कहते-कहते वह हँसती हुई मेरे तन से टकराई। फिर पल भर में अपने पर नियंत्रण करते हुए बोली, "बचपन से ही तुम अधिक भावुक हो। यही भावुकता तुम्हें बहुधा परेशान कर देती है। एक स्वयंवर में तुम्हारा तिरस्कार किया गया तो क्या हुआ? मान-अपमान तो लगा ही रहता है। यदि व्यक्ति इतना व्यग्र होता चले तो जीवन दूभर हो जाएगा।"

माला मेरे मर्म तक पहुँच ही नहीं पाई। वह औरों की भाँति आग के ऊपर का धुआँ ही पकड़ती रही। मैंने उसे वस्तुस्थिति बताई, "जीवन के आरंभ से ही जिसे पग-पग पर तिरस्कृत और अपमानित होना पड़ा हो, उसके लिए इस अपमान का बहुत महत्त्व नहीं है। और न यह आज की व्यग्रता का कारण है। कारण केवल यह है कि पांडव जीवित बच गए और जनता भी हमारे षड्यंत्र की वास्तविकता तक पहुँच गई। अब वह मेरे संबंध में क्या सोचती होगी?"

"जब तुमने षड्यंत्र रचा था तब नहीं सोचा था कि इसके निष्फल होने पर लोग क्या कहेंगे?"

"तब मैंने यही नहीं सोचा था कि यह कभी विफल भी हो सकता है।"

"यही तो तुम्हारी भूल थी। जो अपनी विफलता के प्रति सजग नहीं रहता उसकी यही दशा होती है।" इसके बाद वह मुझे कुछ क्षणों तक बड़ी गंभीर दृष्टि

से देखती रही और फिर अत्यंत असामान्य स्वर में बोली, ''क्या मैं यह जान सकती हूँ कि तुम पांडवों का विनाश क्यों चाहते हो ? उन्होंने तुम्हारी कोई हानि तो नहीं की। न तुम्हारे पिता की चाकरी ली और न संपदा छीनी। तब तुम उनके पीछे इतने क्यों पड़े हो ?''

''उन्होंने मेरा तिरस्कार किया है।''

''तिरस्कार तो सारे समाज ने तुम्हारा किया है। तुम किसके-किसके विनाश की बात सोचोगे ?'' उसने अब मेरी पिछली बात पकड़ी, ''अभी-अभी तो तुमने कहा है कि मैं तिरस्कार का आदी हो गया हूँ। अब मैं उससे व्यग्र नहीं होता।''

मैंने अनुभव किया कि माला के तर्क ने मुझे लगभग बाँध लिया है। मैं बहुत सोचने पर भी इसका ठीक उत्तर नहीं ढूँढ़ पाया। झटके में बस इतना ही कह सका, ''मेरे मित्र पांडवों का विनाश चाहते हैं, इसलिए मैं भी चाहता हूँ।''

''कौन हैं तुम्हारे मित्र ?'' सबकुछ जानकर भी अनजान बनते हुए उसने पूछा।

''जिन्होंने मुझे राजा बनाया, मेरी अहंता को धूल से उठाकर गद्दी पर बैठाया।'' मेरी कृतज्ञता आवेश में आई।

किंतु माला का आवेश जरा भी हलका नहीं पड़ा, ''इसलिए गद्दी नहीं दी कि रंक को राजा बनाने के पीछे कोई परोपकार की भावना थी, वरन् इसमें भी उनका स्वार्थ था कि तुम राजा बनकर उनके शत्रुओं का विनाश करो।''

''चाहे जो समझो। पर यह दुर्योधन का हमारे ऊपर उपकार ही है कि उसने एक सारथि के पुत्र को राजसिंहासन दिया।''

वह जोर से हँस पड़ी। इस बार उसकी हँसी विलक्षण थी, ''कर्ण, तुम स्वयं अपने को समझ नहीं पाए। तुम्हारी समस्या यह नहीं थी कि तुम निर्धन थे। तुम्हारी समस्या यह नहीं है कि तुम पौरुष और व्यक्तित्व में किसीसे हीन हो। तुम्हारी मूल समस्या यह है कि तुम सूतपुत्र हो। तुम्हारे मित्र क्या तुम्हें सूतत्व से मुक्ति दिला सकते हैं ?''

''तुम्हारा तात्पर्य क्या है, माला ?''

''मेरा तात्पर्य है, कर्ण! क्या तुम्हारा मित्र दुर्योधन अपनी एकमात्र बहन दुःशला से तुम्हारा विवाह कर सकता है ? अभी तक तो वह कुमारी है। उसके लिए दुर्योधन को सिंधु देश जाने की क्या आवश्यकता ? क्या तुम जयद्रथ से किसी दृष्टि में कम हो ?''

मेरी कल्पना दुःशला की लावण्यमयी प्रतिमा के समक्ष स्वयं जयद्रथ से मेरी

तुलना करने लगी। पौरुष में, सौंदर्य में, पराक्रम में और कौरवों की निकटता में मैं किसी दृष्टि में भी जयद्रथ से कम नहीं हूँ।...और दुःशला? वह भी तो मुझे चाहती है। वह जब भी मुझसे मिली है, खुलकर मिली है। उसके अंतर में मैंने अपने प्रति भूख देखी है। उसके नेत्रों में मैंने अपने प्रति प्यास देखी है, ललक देखी है। निश्चित ही उसके मन में मेरे प्रति छटपटाहट होगी। मैं सोचता रहा।

माला सामने खड़ी मुसकराती रही। उसने सहजभाव से पूछा, "क्या सोच रहे हो?"

"सोच रहा हूँ, इस संबंध में दुर्योधन से बात करूँ।"

"ऐसी भूल मत करना।" विचित्र थी उसकी यह वर्जना। नारी सबकुछ सह सकती है, पर अपने प्रेम के अधिकार-क्षेत्र में वह किसी और का प्रवेश नहीं सह सकती। शायद इसीलिए माला मुझे रोक रही हो।

पर मैंने एक दूसरा ही प्रश्न उठाया, "क्यों? क्या मैं जयद्रथ से किसी बात में कम हूँ?"

"हर बात में बढ़-चढ़कर होते हुए भी वह क्षत्रिय है और तुम सूत हो। दुर्योधन एक सूत को राजा बना सकता है, पर अपनी बहन नहीं ब्याह सकता।" माला मेरे मर्म पर प्रहार करती जा रही थी।

मैं एकदम तिलमिला उठा और चीख पड़ा, "बंद करो ये व्यर्थ की बातें!"

"क्यों?"

"क्योंकि मैंने अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा कर ली है!"

"अरे, वाह रे प्रतिज्ञा!" वह बिहँस पड़ी, "द्राक्षा खट्टे हैं, इसलिए!"

"नहीं, इसलिए नहीं।" भावना के वेग में मैं बोलता गया, "वरन् इसलिए कि जब सभा में पांचाली ने मुझे अपमानित किया था, तभी मैंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस अपमान का बदला नहीं ले लूँगा, भरी सभा में इसके नारीत्व को निर्वसन नहीं करूँगा तब तक अविवाहित ही रहूँगा।"

इतना सुनते ही माला की आकृति लाल हो गई, "विवाह करो या न करो, पर नारीत्व को निर्वसन करनेवाले तुम कौन होते हो?" ऐसा लगा जैसे माला का ही नारीत्व निर्वसन होने जा रहा हो। वह तिलमिला उठी। उसके स्वर में पूरे आर्यावर्त का नारीत्व गरज उठा, "याद रखना, जिस दिन भरी सभा में इस देश का नारीत्व निर्वसन होगा उस दिन आर्यावर्त का मातृत्व नग्न हो जाएगा।"

"आर्यावर्त का मातृत्व तो उसी दिन नग्न हो गया, माला, जिस दिन पैदा होते ही मैं गंगा की धारा में प्रवाहित कर दिया गया था।"

माला एकदम चुप हो गई। उसे लगा कि वह तर्क की जिस धरती पर खड़ी है, वह भीतर से पोली है। वह मन-ही-मन स्वयं को समेटने लगी। मेरा भी आवेग धीरे-धीरे शांत हुआ।

हम दोनों बहुत देर तक चुप रहे। वातायन से आती ब्राह्मणों की समवेत ध्वनि मंद पड़ते-पड़ते अब शांत हो चुकी थी।

स्थिति सामान्य होते ही मैंने वार्त्ता का क्रम दूसरी ओर मोड़ा, "माला, मैं पाँच दिनों से यहाँ पड़ा हूँ, पर तुझे मुझसे मिलने के लिए आज समय मिला!"

"इसके लिए तुम अपने महामात्य से पूछो, जिसने मुझे मिलने ही नहीं दिया। कहता था कि वैद्यराज का आदेश नहीं है।" फिर एक नटखट हँसी हँसकर बोली, "कौन कहे कि तुम्हीं ने मुझे बुलाया था?"

"तब आज कैसे चली आईं?"

"मौका देखकर चली आई। इस समय महामात्य जो नहीं है। वह गंगातट पर ब्राह्मणों को दक्षिणा बाँटने गया है।"

"तो क्या ब्राह्मणों को नित्य दक्षिणा मिलती है?"

"निश्चित रूप से। महामात्य आपके इस आदेश का पालन निष्ठापूर्वक करते हैं।"

"यह बड़ी प्रसन्नता की बात है, माला! यह भी मेरी एक प्रतिज्ञा है।"

"प्रतिज्ञा है, तो पालन करो। मैं कहाँ तुम्हें रोकती हूँ!" इतना कहते-कहते वह उठ खड़ी हुई। बोली, "प्रतिज्ञाएँ करते रहो और उनका पालन करते रहो, जीवन इतने में ही कट जाएगा।" इतना कहकर वह बाहर की ओर दो-चार पग बढ़ी।

"क्या तू अप्रसन्न हो गई? अरे, थोड़ा कटु सुनने का भी सामर्थ्य रख।" मैंने व्यंग्य किया और उसका हाथ पकड़कर अपनी शय्या पर खींचते हुए बोला, "क्यों री, पांडवों को लाक्षागृह जाने की प्रेरणा देने के लिए मत्स्य लेकर तू ही सबसे पहले पांडवों के यहाँ गई थी। तब तू इस षड्यंत्र में सम्मिलित नहीं थी? तुमने नहीं सोचा कि इसकी विफलता का क्या परिणाम होगा?"

"मुझे सोचने की कोई आवश्यकता नहीं थी।"

"क्यों?"

"क्योंकि यह मेरा षड्यंत्र नहीं था, मेरे मित्र का था। मैंने मात्र अपनी मित्रता का ही निर्वाह किया था।"

"तो यही बात तो मेरे साथ भी थी। मैंने भी दुर्योधन के साथ अपनी मित्रता

का ही निर्वाह किया है।''

''मेरे ही कुठार से मुझपर ही प्रहार!'' वह हँसी, ''किंतु तुम्हें सोचना चाहिए कि यह मित्रता कहाँ तक और कब तक निबह सकेगी!''

''कर्ण यह नहीं सोचता, माला, क्योंकि मित्रता बुद्धि से नहीं, हृदय से की जाती है; विवेक से नहीं, भावना से की जाती है।'' मेरा स्वाभिमान अपनी प्रकृति का उद्‍घाटन करते बोलता रहा, ''कर्ण जब किसीको मित्र बना लेता है तब उसका साथ जीवन भर नहीं छोड़ता, चाहे उसके परिणाम जो भी हों।''

वह हँसी और चुटकी लेते हुए बोली, ''तो क्या मुझे भी यही कहना पड़ेगा कि माला जिसे भी अपना मित्र बना लेती है उसे जीवन भर नहीं छोड़ती, चाहे उसका परिणाम जो भी हो?''

''विश्वास करो, उसका परिणाम अच्छा ही होगा।'' हम दोनों हँस पड़े। मेरी भुजाओं का हार माला के गले में पड़ चुका था।

''महाराज की जय हो!'' मुझे सजग करने और कक्ष में प्रवेश करने के लिए अनुमति लेने का महामात्य का यह ढंग अच्छा था।

माला किनारे हटकर मंचक पर बैठ गई।

''आइए, महामात्य।'' मैं बोला।

उन्होंने प्रवेश करते ही सूचना दी, ''ब्राह्मण आपको आशीर्वाद देने के लिए पधारे हैं, महाराज।''

''उन्हें सभाभवन में आदरपूर्वक बैठाइए। मैं अभी आता हूँ।''

□

पिताजी अरसे से रुग्ण हैं। उनका तन तो जर्जर है ही, मन भी जर्जर हो गया है। राजभवन के तनाव का संवरण उनका मस्तिष्क कर नहीं पा रहा है। लाक्षागृह की घटना के बाद से ही वे अस्वस्थ हैं। पांडवों के जीवित बच निकलने का समाचार सुनकर वह बड़े सामान्य भाव से बोले थे, 'हम लोग एक ज्वालामुखी पर बैठे हैं, वत्स। उसका विस्फोट होने के पहले ही अच्छा होता, भगवान् हमें उठा लेता।' उनकी इस मन:स्थिति से लगता है कि वे कुछ ही दिनों के अतिथि हैं।

आज मैं हस्तिनापुर में हूँ। अगली योजना के संदर्भ में बुलाया गया हूँ।

हस्तिनापुर पांचाल के समाचार से उत्फुल्ल है। प्रजा की प्रसन्नता का पारावार नहीं है। संध्या होते ही राजभवन में दीपावली होती है। इन लघु दीपों के रूप में प्रसन्नता का सूर्य टूटकर बिखर जाता है। किंतु यह सब ऊपरी है। भीतर से प्रासाद जल रहा है। यह संतप्तता ही मेरे आह्वान का कारण बनी है। हर जलन में कर्ण याद

किया जाता है। शायद यही उसका सौभाग्य है।

मध्याह्न के भोजन के बाद ही धृतराष्ट्र के कक्ष में हम विश्राम के लिए आए। बाहरी द्वार बंद कर दिए गए। परिचारक हटा दिए गए। यदि दीवारों के कान भी दिखाई पड़ते तो शायद उनमें भी पारा पिला दिया जाता।

बाहरी उल्लास का केंचुल उतारते ही हम शोक में डूब गए। धृतराष्ट्र ने बड़ी गंभीरता से कहा, ''जो डर था वही हुआ। आखिर पांडव बच गए। भगवान् ने उनकी सहायता की।''

''भगवान् ने नहीं वरन् उस नीच ने, दासीपुत्र ने उनकी सहायता की, जिसे आपने अपनी आस्तीन में पाल रखा है!'' दाँत पीसते हुए दुर्योधन ने कहा, ''नीच, खाता है हमारा नमक और भला सोचता है उनका! और आप भी उसीके कथन पर चलते हैं।''

''इस समय क्रोध करने से तो कोई लाभ नहीं।'' धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को समझाया, ''मैं कहाँ उसका कहा करता हूँ! होता तो वही है, जिसे तुम लोग चाहते हो। हाँ, मैं उसे अप्रसन्न करना नहीं चाहता। वह मेरा महामात्य है। मेरे जैसे अंधे की आँख है।''

''अच्छा होता, वह भी फूट जाती!'' मुझे लगा कि दुर्योधन अपनी सीमा के बहुत बाहर चला गया।

फिर भी महाराज अविचलित थे। शांतभाव से बोले, ''फूट जाए तो बात दूसरी है, पर मैं उसे फोड़ नहीं सकता।''

''इन बातों को छोड़ो। अब सोचना यह है कि हमें करना क्या चाहिए!'' शकुनि मामा ने वार्त्ता को दूसरी ओर मोड़ा।

दक्षणि निस्तब्धता ने हमें सोचने का अवसर दिया, पर हम एक-दूसरे का मुख देखते रह गए। महाराज की मुद्रा नितांत गंभीर और शांत थी, मानो उनके मन की आँखों को भी कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था।

तब तक दुर्योधन की बैखरी फूटी, ''पांडव पाँच जरूर हैं, पर कुंती के तीन ही पुत्र हैं, दो माद्री के हैं।''

मुझे हँसी आ गई, ''कौन सी नई बात कह रहे हैं आप?''

''तुममें यह बहुत बुरी आदत है, कर्ण, कि तुम बिना पूरी बात सुने बीच में ही टोक देते हो।'' वह झुँझलाया, ''मैं कह रहा था कि अब हमें भेदनीति से काम लेना चाहिए। योग्य गुप्तचरों को भेजकर माद्री के पुत्रों को कहलाना चाहिए कि महाराज आप दोनों का विशेष ध्यान रखते हैं। जब 'शिवम्' (लाक्षागृह) भस्म हुआ

था तब सबसे अधिक आपकी ही उन्हें चिंता थी। वे बहुधा रोते हुए कहते थे, 'आज माद्री की आत्मा क्या कह रही होगी, जिसने सती होते समय उन दोनों बालकों को मुझे सहेजा था। यदि पांडव हठ करके वारणावत जाना ही चाहते थे तो मुझे कुंती के पुत्रों को जाने देना चाहिए था, माद्री के पुत्रों को तो रोक लेता। पर कौन जानता था कि इतनी बड़ी आपत्ति आ पड़ेगी।' ''

''इससे क्या होगा?'' निश्चित था कि इस बार भी बात समाप्त होने के पहले ही मैं बोल पड़ा था।

''इससे उनके मन में हमारे प्रति आकर्षण होगा। हम उन्हें राज्य देने का प्रलोभन भी देंगे और चेष्टा करेंगे कि उन्हें मिलाकर उनके ही द्वारा कुंतीपुत्रों का विरोध कराया जाए।''

''तुम दिवास्वप्न तो नहीं देख रहे हो?'' मैंने हँसते हुए कहा।

''यह सबकुछ इस समय तुम्हें दिवास्वप्न ही ज्ञात होता होगा, कर्ण। शायद तुम यह नहीं जानते कि राज्य का प्रलोभन कितना शक्तिशाली होता है!'' वह मेरी ओर बड़े ध्यान से देखते हुए कहता रहा, ''इससे बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी खरीदा जा सकता है।''

मैं कसमसाकर रह गया। केवल इतना ही बोल पाया, ''राज्य के प्रलोभन पर कर्ण बिक सकता है, पर विश्वास रखो, माद्री के पुत्र नहीं। लाक्षागृह के आवें में तपकर वे पंचमूर्तियाँ आपस में इतनी जुट गई हैं कि उन्हें तुम्हारा यह प्रलोभन जरा भी अलग नहीं कर सकता।''

इतना सुनते ही सब सन्न रह गए। दुर्योधन की आकृति ने भी रंग बदला। ''तुम तो सिद्धांत रूप में कही बात को भी व्यक्तिगत लेते हो।'' उसने मेरे अहं को सहलाया और इसीके बाद उसके इस तर्क का भी क्रम टूट गया।

फिर वातावरण को मामा ने हलका बनाया। जब मेरी मुद्रा सामान्य हुई, दुर्योधन ने दूसरी ही बात छेड़ी, ''क्या एक स्त्री अपने पाँच पतियों को संतुष्ट रख सकती है?''

''यदि रख सकती होगी तो रखेगी। इसमें आपको आपत्ति क्या है?''

सभी हँस पड़े।

''मुझे कोई आपत्ति नहीं है। बात बस इतनी है कि यदि कोई चतुर सुंदर स्त्री वहाँ पहुँच जाए तो कुछ कर सकती है।''

''तुम तो यह जानते ही हो, कर्ण, कि नारी अर्जुन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। यदि माला जैसी स्त्री वहाँ पहुँचे तो अर्जुन बड़ी सरलता से उसकी चालों में आ

सकता है। दूसरी ओर कुछ लोग इसको प्रचारित करनेवाले भी हों। इससे द्रुपद भी उनसे रुष्ट हो जाएगा और द्रौपदी भी। फिर आपसी अनबन का एक सिलसिला आरंभ होगा।''

''आपसी अनबन का सिलसिला आरंभ हो, चाहे न हो, पर हमारे इन लुभावने सपनों का सिलसिला कभी नहीं टूटेगा।'' मैं हँसते हुए बोलता गया, ''या तो युवराज पांडवों को बच्चा समझते हैं या बच्चों की तरह सोचते हैं।''

निश्चित है कि मेरी बात दुर्योधन को अच्छी नहीं लगी होगी; किंतु वह चुप ही रहा। मैं सोचने लगा कि स्वयं हस्तिनापुर में इतनी सुंदरियाँ हैं, जो गुप्तचरी का कार्य करती हैं, फिर भी यह हर संदर्भ में माला का ही नाम क्यों लेता है? अरे, एक बार हो गया, हो गया। माला अब इस चक्कर में पड़नेवाली नहीं है।

हम सभी किसी नई युक्ति की खोज में गए थे कि पश्चिम के बंद द्वार पर किसीके खड़े होने की आहट मामा को लगी। उसने हम लोगों की ओर संकेत किया।

दुर्योधन ने दुःशासन को डपटते हुए कहा, ''जरा देखो तो कौन है!''

उसकी आवाज तेज थी। वह अवश्य ही द्वार से टकराई होगी। तभी तो वह व्यक्ति वहाँ से बढ़ चला। दुःशासन दौड़कर उसे पकड़ ले आया।

''अरे, यह तो पर्जन्य है। महामात्य के कार्यालय का कर्णिक। तुम यहाँ क्या कर रहे थे?'' मामा ने पूछा।

अचानक और बलात् पकड़कर लाया गया था, इसलिए वह सकपका सा गया। उसने बताया, ''महामात्य ने भेजा था।''

''यह देखने के लिए कि महाराज के कक्ष में क्या हो रहा है?'' दुर्योधन बोला।

''जी नहीं, वरन् महाराज से मंत्रणा-परिषद् की बैठक की अनुमति लेने के लिए।''

''जब अनुमति लेने आए थे तो मेरी आवाज सुनते ही भागने क्यों लगे? इससे स्पष्ट है कि तुम्हारी मंशा साफ नहीं थी।'' दुर्योधन का स्वर उग्र हुआ।

उसने हम सबकी ओर देखा। हर दृष्टि उसपर चिपकी थी। वह डर गया। काँपते हुए सत्य कह पड़ा, ''आप इतनी तीखी आवाज में बोले कि भय से मैं भाग चला।''

''जब तुम्हारे मन में कोई पाप नहीं था तो भय कैसा?''

''भला बताइए, मेरे मन में क्या पाप हो सकता है?'' वह गिड़गिड़ाया,

''आपका सेवक हूँ और आपके ही कार्य से आया था। भूल बस इतनी हुई कि जब द्वार बंद था तब क्षण भर के लिए खड़ा हो गया। क्षमा चाहता हूँ।'' इतना कहते-कहते वह महाराज के चरणों पर गिर पड़ा।

धृतराष्ट्र राजसी मुद्रा में बोले, ''अच्छा जाओ, तुम्हें क्षमा किया जाता है; पर आज से कभी भी छिपकर बात सुनने की चेष्टा मत करना। विदुरजी से कह दो कि दो घड़ी बाद मंत्रणा-परिषद् बुला लें।''

वह चरणस्पर्श कर जाते हुए धीरे से बोला, ''आप विश्वास करें, महाराज! मैं छिपकर कुछ सुनने नहीं आया था।''

''सुनने नहीं आया था तब कौन सी सेवा करने आया था?'' दु:शासन ने व्यंग्य किया।

''तुम्हारी सेवा करने न आया हो, पर किसी और की करने तो आया ही था!'' यह कटाक्ष मामा का था।

''क्यों नहीं करेगा! 'परजन्य' जो ठहरा। दूसरे के लिए ही तो जनमा है।'' दुर्योधन के यह कहते-कहते वह द्वार के बाहर जा चुका था।

''देखा आपने! जब आपके नाक के नीचे ही गुप्तचरी हो रही है तब कोई योजना कहाँ तक सफल हो सकती है!'' मामा ने महाराज को संबोधित करते हुए कहा।

''क्या यह नहीं हो सकता कि उसका कथन ठीक ही हो?'' महाराज ने बड़े शांतभाव से कहा, ''हमें हर बात में शंका नहीं करनी चाहिए। किसीको शंकाकुल दृष्टि से देखने से तात्पर्य है, उसे अपने से दूर करना। हम कितनों को इस तरह दूर करते जाएँगे!''

''दूर न कीजिए तो जाल में फँसते जाइए।'' शकुनि थोड़ा उग्र हुआ।

''यदि जाल में न फँसता तो तुम्हारी बहन को न लाता।'' महाराज जोर से हँस पड़े।

मामा की उग्रता पर पानी फिर गया।

''अच्छा, तुम लोग थोड़ा विश्राम कर लो।'' महाराज ने एक परिचारक को बुलाया और उसके कंधे का सहारा लेकर शयनकक्ष की ओर बढ़े।

हम लोग लेटे थे; पर नींद नहीं आ रही थी। बातें चल रही थीं। हमारी विचार सरिणी कोल्हू के बैल की भाँति केवल एक ही परिधि पर घूमती रही। मेरा विचार था कि ''पांडवों को हस्तिनापुर न आने दिया जाए। पर अब छल-प्रपंच से काम नहीं चलेगा। पहले तो वे असहाय थे, संसार उन्होंने देखा नहीं था, तब तो वे इतने

बड़े षड्यंत्र से बच गए। अब तो विपत्ति ने उन्हें सबल बना दिया है। फिर वे एक शक्तिशाली राजा के जामाता हैं। अनुभव और शक्ति के साथ ही उनका प्रभाव भी बढ़ा है। अब वे हमारे छल में फँसनेवाले नहीं हैं। दूसरी ओर हम बदनाम भी हो चुके हैं। हमारा वैर जगजाहिर हो चुका है।''

''तब हमें क्या करना चाहिए?'' दुर्योधन ने पूछा।

''सारी शक्ति एकत्रित करके उनपर यथाशीघ्र आक्रमण कर देना चाहिए।'' मैं छूटते ही बोल पड़ा।

''इसमें शीघ्रता की क्या आवश्यकता है? वह तो हम किसी भी समय कर सकते हैं।'' दु:शासन ने कहा, ''इससे प्रजा की शंका भी पुष्ट हो जाएगी कि हमने ही समाप्त कर डालने के लिए पांडवों को वारणावत भेजा था।''

''क्या प्रजा को अब भी इसमें संदेह है?'' मुझे जोर से हँसी आ गई, ''यह हमारी मूर्खता है कि हम प्रजा को मूर्ख समझते हैं। वस्तुत: वह हमसे बहुत चतुर है। हम उसे अपनी दो आँखों से देखते हैं, वह हमें लाखों आँखों से देखती है। हम उसे दो कानों से सुनते हैं, वह हमें अनेक कानों से सुनती है। हमारा कोई कृत्य उससे छिपा नहीं है।'' मैं क्षण भर के लिए रुका और फिर बोला, ''रह गई समय की बात, तो इस संदर्भ में भी रणनीति स्पष्ट कहती है कि शत्रु को सँभलने के पहले की कुचल देना चाहिए। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा, पांडव अपनी शक्ति बढ़ाते चले जाएँगे। अनेक राजे-महाराजे उनके मित्र होते चलेंगे।''

इतना सुनकर सभी गंभीर हो गए। लगा, मेरा विचार उनके भीतर बैठ रहा है।

दुर्योधन चिंतित हो बोला, ''पर तात इसे स्वीकार करें तब तो?'' फिर उसने शकुनि को संबोधित करते हुए कहा, ''मामाजी, आप पिताजी को समझाइए।''

''अब तो वह विश्राम कर रहे होंगे। उन्हें उठने दो, प्रयत्न करूँगा।''

''उनके उठते-उठते तो मंत्रणा-परिषद् का समय हो जाएगा और शायद आज की परिषद् इसी संदर्भ में बुलाई गई है।

''तब क्या करूँ?''

''आप इसी समय चले जाइए। वह अभी सोए नहीं होंगे। यदि सो भी रहें होंगे तो आपकी आहट से जाग जाएँगे।''

हम लोगों के बहुत कहने पर मामा उठे और धृतराष्ट्र के शयनकक्ष की ओर बढ़े। इसके बाद दुर्योधन भी कक्ष से बाहर निकला। वह किधर गया, कह नहीं सकता। हमने कक्ष के सभी द्वार और वातायन खुलवा दिए। पश्चिम में ढलते सूर्य की तेजी अब कम हो चुकी थी।

लगभग एक घड़ी बाद ही हम लोग मंत्रणाकक्ष में बुलाए गए। वहाँ पितामह, धृतराष्ट्र, विदुर एवं द्रोणाचार्य के अतिरिक्त और कोई नहीं था। शकुनि, दुर्योधन, दु:शासन के साथ मुझे लेकर मात्र आठ व्यक्ति थे। बाद में संजय के साथ विकर्ण भी आ गया। इतनी छोटी मंत्रणा-परिषद् मेरी जानकारी में तो इसके पूर्व कभी नहीं बैठी थी।

विषय भी बस एक ही था—अब क्या किया जाए? पांडवों की वर्तमान स्थिति से सबसे अधिक प्रसन्न पितामह दिखाई पड़े। उनकी आकृति की प्रत्येक झुर्री बिहँस रही थी। साथ ही हमारी खिल्ली भी उड़ा रही थी, 'मूर्खो! तुम नियति को नहीं बदल सकते। स्वयं को मिटाकर भी दूसरे की भाग्यरेखा नहीं मिटा सकते।'

मुझे उनकी दृष्टि कुछ चुभती-चुभती सी जान पड़ी। मेरे प्रति उनके मन में या उनके प्रति मेरे मन में कुछ पूर्वग्रह है, जो एक दीवार की भाँति हम दोनों के बीच में आकर खड़ा हो जाता है। विचित्र है यह अदृश्य दीवार, जिसके होते हुए भी हम एक-दूसरे से बातें करते थे। कभी-कभी मिलते भी थे, पर निकट नहीं हो पाते थे। समय के साथ-ही-साथ यह दीवार भी प्रौढ़ होती गई। मेरे और पितामह के बीच की दूरी बढ़ती गई।

इस बैठक में भी स्थिति कुछ ऐसी ही थी। वह मुझे रह-रहकर ऐसे देखते थे मानो मुझे काट खाएँगे। किंतु मैंने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया। हर मंत्रणा-परिषद् के अनुसार विषय का स्थापन विदुरजी ने ही करते हुए बताया, "प्रजा की इच्छा है कि पांडवों को ससम्मान बुलाया जाए।"

इसी बीच दक्षिण के द्वार से मंत्रणाकक्ष में आँखों में पट्टी बाँधे तथा एक परिचारिका के कंधे पर हाथ रखे गांधारी ने प्रवेश किया। उसे देखते ही सबके सब चकित हो उठे। वह किसी राजकीय मंत्रणा में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेती थीं; पर पता नहीं क्यों आज चली आई थी। मुझे तो लगता है कि इसके पीछे दुर्योधन का ही हाथ रहा होगा।

हम लोगों ने उठक、उसका अभिवादन किया। महामात्य ने उसे महाराज के वाम पार्श्व में बैठाया।

"हाँ, तो आप क्या कह रहे थे, महामात्य?" बैठते ही गांधारी ने पूछा।

"कह रहा था, पट्टमहिषी, कि प्रजा की इच्छा है कि पांडवों को ससम्मान बुलाया जाए।" विदुर की विनम्रता में भी राजसी गरिमा थी।

"प्रजा की इच्छा शासन करेगी या हमारी इच्छा?" असामान्य रूप से गांधारी का स्वर गंभीर था। हम सब चुप थे।

दुर्योधन ने अपनी आँखों के संकेत से कहा, ''देखो, अब मजा आएगा।''

सब शांत थे। केवल पितामह ही बोले, ''वास्तव में शासन तो प्रजा की इच्छा ही करती है। हम तो उनकी इच्छा के वाहक मात्र हैं।''

पितामह की आवाज सुनते ही गांधारी एकदम सिटपिटा गई, जैसे उसे विश्वास ही न रहा हो कि यहाँ पितामह भी हो सकते हैं। अब वह क्या करे? परिवार के इतने वरिष्ठ सदस्य के मुँह वह कैसे लगे?

वह दबी जबान में बोली, ''तब तो जो प्रजा कहे वही करते जाइए।''

''वही हमें करना पड़ेगा।'' पितामह के स्वर में दृढ़ता थी, ''जो राज्य प्रजा की इच्छाओं का आदर नहीं करता, वह नष्ट हो जाता है। हम सब नश्वर हैं, पर प्रजा तो अनश्वर है। हम कल नहीं थे, आज हैं और कल नहीं रहेंगे; पर प्रजा तो कल भी थी, आज भी है और कल भी रहेगी। गंगा की अजस्र धारा की भाँति उसका उद्गम और संगम बराबर चलता रहेगा। किंतु हमारा सिंहासन तो भू-लुंठित होता रहा है, होता रहेगा।''

ऋषि वचन की भाँति लोग उन्हें सुनते रहे।

अब द्रोण की वाणी को भी पंख लग गए। वह उड़ पड़ी, ''मेरे विचार से भी पांडवों को सम्मानपूर्वक बुलाना चाहिए। नववधू के आगमन पर हस्तिनापुर को सजाना चाहिए। दीपावली मनानी चाहिए।''

''और यदि वे स्वयं नहीं आना चाहें तो?'' मामा बोला।

''क्यों नहीं आना चाहेंगे! कोई भला अपना राज्य छोड़ देगा!''

द्रोण के इस कथन पर गांधारी बोल पड़ी, ''अब उनका राज्य कैसा? एक तो पांडु के निधन के बाद राज्य मेरे पति ने किया? दूसरे, पांडवों की अंत्येष्टि तक हो गई। अंत्येष्टि हो जाने के बाद व्यक्ति अपनी संपत्ति पर से अधिकार खो देता है।'' गांधारी ने सामान्य परिस्थिति पर न्यायिक रंग चढ़ाया।

दुर्योधन ने मुसकराते हुए मुझे चिकोटी काटी। मैंने धृतराष्ट्र की अंधी आँखों में झाँककर देखा, कुछ चमक आ गई थी।

''इसका तात्पर्य है कि हम अब भी पांडवों को मरा हुआ मानते हैं।'' द्रोण ने कहा।

पितामह कुछ खीजकर बोल पड़े, ''जीवित को मरा हुआ कहनेवाला या तो मूर्ख होता है या अंधा।''

''और भगवान् की कृपा से मैं दोनों हूँ।'' हँसते हुए महाराज ने कहा; पर वातावरण में इतना तनाव आ गया था कि कोई जरा भी नहीं हँसा। महाराज ने ही

पुन: पितामह को संबोधित करते हुए कहा, ''माता का हृदय बड़ा कोमल होता है, तात! वह अपने पुत्रों को छोड़कर और किसीकी भलाई सोच ही नहीं सकती। इसलिए आप गांधारी की बातों पर ध्यान न दें। हमारा मार्गदर्शन करें, तात!''

गांधारी ने इसे अपना अपमान समझा। वह तपाक से उठकर खड़ी हो गई और अपनी परिचारिका के कंधे पर हाथ रखती हुई कक्ष के बाहर चली गई। स्थिति में और अधिक तनाव आया।

''अब इस परिस्थिति में महामात्य की राय से ही आप कार्य करें।'' पितामह ने महाराज से कहा।

''यदि मेरी राय से कार्य करना होता तो आप लोगों को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी!'' फिर भी, बड़े नपे-तुले शब्दों में उन्होंने पांडवों को बुलाने के संबंध में अपनी पूर्व सलाह दोहराई और यह भी रहस्योद्घाटन किया कि ''आप लोगों ने उनकी अंत्येष्टि भले ही कर दी हो, पर प्रजा में ऐसे लोग भी थे जो यह विश्वास भी नहीं करते थे कि वे जल मरे होंगे।''

''आप यह कैसे कह सकते हैं?'' दुर्योधन ने छूटते ही पूछा।

''इसलिए कह सकता हूँ कि उनके जल मरने में विश्वास न करनेवालों में एक मैं भी था। आप लोगों ने ध्यान दिया होगा कि अंत्येष्टि के समय मैंने पांडवों को तिलांजलि नहीं दी।''

''मुझे अच्छी तरह याद है।''

दुर्योधन बोला, ''जब पांडवों को जीवित रहने का आपको विश्वास था तब आपने इससे महाराज को क्यों नहीं अवगत कराया? क्या यह नहीं कहा जा सकता कि आपने महाराज से तथ्य छिपाया है? क्या इससे आपका महामात्य-धर्म च्युत नहीं हुआ?''

विदुर पर यह सीधा आक्षेप था। उनकी आँखें लाल हो गई, ''मैं अपने महामात्य-धर्म को अच्छी तरह समझता हूँ। महामात्य का कर्तव्य केवल विश्वास के आधार पर महाराज को सलाह देना नहीं है। तथ्य और ठोस प्रमाण के आधार पर हम कुछ कह पाने की स्थिति में होते हैं।'' इतना कहकर वे कुछ पलों के लिए रुके, फिर दुर्योधन की ओर देखकर थोड़े आवेश में बोले, ''मैं यह कभी पसंद नहीं करूँगा कि मेरे सामने पैदा हुए लोग मुझे महामात्य-धर्म का उपदेश करें।''

विदुर बैठ गए। दुर्योधन कुछ कहना चाहकर भी नहीं बोला। वह क्रोध पीकर रह गया। तनाव टूटने की स्थिति तक न पहुँचे, भीष्म ने उसे ढीला करने का प्रयत्न किया और बोले, ''बच्चे जब तक छोटे रहते हैं तब तक हम उन्हें उपदेश

करते हैं और जब वे बड़े हो जाते हैं तब हमें उनका उपदेश सुनना ही पड़ता है। इसके लिए महामात्य को रुष्ट नहीं होना चाहिए।'' फिर उन्होंने महाराज को संबोधित करते हुए कहा, ''इससे बड़ी प्रसन्नता की बात आपके लिए और नहीं हो सकती कि पांडव आज जीवित हैं। जैसे कौरव आपके पुत्र हैं वैसे उन्हें भी आप अपना पुत्र समझिए और आधा राज्य देकर उनसे संधि कर लीजिए।''

''आधा राज्य भी दें और संधि भी की जाय। बात कुछ समझ में नहीं आती। हम उनसे पराजित हुए हैं क्या, जो संधि की बातें करें!'' मामा ने कहा।

''पराजित नहीं हुए हैं।'' द्रोण ने कुछ विचित्र ढंग से मुँह बनाते हुए कहा, ''वरन् वे सारे राज्य के अधिकारी हैं। संधि इसलिए करनी चाहिए कि कम-से-कम आधा राज्य तो कौरवों के पास रहे।''

''लगता है, आप कौरवों पर बड़ा एहसान कर रहे हैं।'' मैं अचानक बोल पड़ा। द्रोण का कथन मुझे जरा भी नहीं भाया। मुझे लगा जैसे ये वृद्ध लोग हमें दबा रहे हैं। राजमाता भी नाराज होकर चली गई थीं। इन सबका मिश्रित प्रभाव मुझमें रोष उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त था। दूसरी ओर बगल में बैठा दुर्योधन भी बोलने के लिए उकसा रहा था। अनुशासन की परिधि को पार करनेवाला मेरा उग्र स्वर उभरा, ''आप वृद्ध लोग हमपर दया कीजिए। अपने महत्त्वपूर्ण विचार अपने पास ही रखिए। हम स्वयं सारी समस्याओं का समाधान असि से कर लेंगे।''

''यदि असि से ही सारी समस्याओं का समाधान होता तो मनुष्य युद्ध से घृणा न करता।'' आश्चर्य था कि ये शब्द द्रोण जैसे व्यक्ति के मुख से निकले, जो शास्त्रज्ञ से कहीं अधिक शस्त्रज्ञ थे।

किंतु मेरी आवाज और तेज हुई, ''युद्ध से घृणा करनेवाला नपुंसक होता है या कायर।''

''अपने वीरत्व का गलत अनुमान लगानेवाले गरजते बहुत हैं, पर बरसते नहीं।''

''क्या समझते हैं, आचार्य! हम बरसकर भी दिखाएँगे। आप जैसे पांडवों के परम हितैषी बीच में न पड़ें तो हम पांडुपुत्रों को हस्तिनापुर में घुसने भी न दें।'' क्रोध तो मेरा था, पर मेरी वाणी स्वयं को नहीं वरन् दुर्योधन को प्रस्तुत कर रही थी। मेरे दूसरे पार्श्व में बैठा विकर्ण विचित्र मुद्रा बना रहा था, जैसे मेरी बातें और व्यवहार उसे अच्छा न लग रहा हो। संजय निरपेक्ष भाव से मौन था।

आचार्य का स्वर जरा भी ढीला नहीं हुआ, ''देखो, बहुत बढ़-चढ़कर बातें मत करो। उनके सामर्थ्य का ठीक अनुमान तुम्हें नहीं है। पांचाल की सारी शक्ति

उनके साथ है। द्वारकाधीश और उनके मित्र उनके साथ हैं। अब वे पहले की तरह निरीह नहीं हैं।''

''पहले भी वे कहाँ निरीह थे! क्या आप उनका साथ नहीं देते थे?'' सत्य अपने नग्न रूप में मेरे मुख से निकला, ''आप नमक खाते थे कौरवों का और भला सोचते थे पांडवों का। अर्जुन को आपने जितनी विद्या सिखाई, क्या उतना कोई कौरव आपसे लाभान्वित हुआ?'' मैं गरजता जा रहा था, ''महाराज! आपको ऐसे लोगों की सलाह कभी नहीं माननी चाहिए जो आपका अन्न खाकर भी आपका भला न सोचते हों। नीति कहती है कि हिलता हुआ दाँत और अहित चाहनेवाले अमात्य को उखाड़कर फेंक देना चाहिए।''

द्रोण क्रोध से काँपने लगे। वे कुछ बड़बड़ाए; पर उनकी जबान आवेश में इतनी नियंत्रण के बाहर थी कि कुछ स्पष्ट नहीं हो सका।

पितामह ने उन्हें पकड़कर बैठाया और आवेश में बोल पड़े, ''कर्ण! सचमुच तुम इस परिवार के मुख में हिलते हुए दाँत हो। दाँत तो मुख में ही जन्म लेता है, किंतु तुम तो पता नहीं कहाँ से बहे-बिलाए आए और हमारे मसूड़ों में लटक गए। जब तक तुम्हें उखाड़कर फेंक नहीं दिया जाएगा, इस परिवार में शांति नहीं होगी।''

''यदि सारी अशांति की जड़ मैं ही हूँ, तो मैं अभी चला जा रहा हूँ।'' इतना कहकर मैं खड़ा हुआ और अग्निबाण की तरह छूटा तथा कक्ष के बाहर चला आया।

इधर सभाकक्ष में दुर्योधन कुछ कहने के लिए उठा। सुना, पितामह ने उसे भी डाँटकर बैठा दिया। क्रोध में उसने भी कक्ष का बहिष्कार किया।

''कर्ण, अरे ओ कर्ण!'' उद्यान के द्वार पर पहुँचते-पहुँचते मुझे दुर्योधन की आवाज सुनाई पड़ी। पर मैं लौटनेवाला नहीं था। मुड़कर देखा अवश्य। संपूर्ण राजप्रासाद दो ओर के खिंचाव में टूटता और चरमराकर गिरता जान पड़ा।

दुर्योधन पुकारता रहा और मैं बढ़ता चला—उस अनचीन्हे अनजाने गंतव्य को खोजता हुआ, जहाँ से मैं बहा-बिलाया चला आया था।

□

ग्यारह

अंधड़ में पड़े पीपल के पत्ते की तरह समय उड़ता चला गया। परिस्थितियाँ तीव्रता से बदलती गईं। पांडव ससम्मान बुलाए गए। विदुर ने लाकर उन्हें प्रासाद के एक भाग में स्थापित कर दिया। बिना विभाजन रेखा के ही हस्तिनापुर का राजभवन दो विभागों में बँट गया। मेरा वहाँ भी जाना कम हो गया। दुःशला के विवाह में मुझे जाना चाहिए था। मैंने उसे वचन भी दिया था। फिर भी मैं जा नहीं पाया। भवितव्यता ही कुछ ऐसी थी। बात कैसे और किस तरह आरंभ करूँ, समझ नहीं पा रहा हूँ।

इस समय मैं गंगाधारा में तर्पण कर रहा हूँ। ऊपर उषा का अरुणिम आकाश क्षितिज को छू रहा है। आदित्य मंदिर की भग्न प्रांचीर से टकराता जल मेरे वक्ष तक का स्पर्श कर लेता है। पीछे कर्मकांडी ब्राह्मण खड़े हैं। तर्पण की हर अंजुलि के साथ अश्रुकण मिलता जा रहा है। सोचता हूँ, जिस पिता ने इस धारा में मुझे बहता हुआ पाया था, अंत में उस पिता की भस्मी को इसी धारा को मुझे समर्पित करना पड़ा।

अधिरथ नहीं रहे, मात्र उनकी स्मृति रह गई है। इस तर्पण से मैं उसीको नहला रहा हूँ। वह धुलकर और स्पष्ट होती जा रही है और उनके तनाव भरे जीवन की याद दिलाती है। उनके शब्द अब भी मेरे मस्तिष्क में गूँजते हैं, ज्वालामुखी के विस्फोट के पहले अच्छा होता, मैं चला जाता। और वे चले गए। हस्तिनापुर के टूटने के पहले टूट गए। भाग्यवान् जो ठहरे।

यह भी क्या संयोग था कि जिस दिन मेरे पिता का निधन हुआ उस दिन दुःशला का विवाह था। एक जगह वरयात्रा आई, दूसरी जगह से शवयात्रा गई। हस्तिनापुर में शुभ, मेरे यहाँ अशुभ। न मैं वहाँ जा सका और न मेरे यहाँ वहाँ के लोग आ सके। नियमतः आना भी नहीं चाहिए था।

किंतु सारे लौकिक नियमों को ठुकराकर एक दिन दुर्योधन अपने कई साथियों के साथ आ धमका। संवेदना व्यक्त करते हुए बोला, "कर्ण, अब तुम ममता भरे बंधन से मुक्त हुए।"

मुझे रुलाई आ गई। मैंने बिलखते हुए कहा, "मुझपर से छाया उठ गई, युवराज। अब मैं निराश्रित हो गया हूँ।"

उसने मुझे अपनी छाती से लगा लिया और बोला, "छाया तो बस एक ही होती है और वह है ऊपरवाले की। इसके अतिरिक्त और कोई छाया नहीं होती, मित्र। जिसे तुम अपना समझते हो वह माया तुम्हें कभी अपना नहीं समझती।"

इस अवसर पर मामा ने भी मुझे समझाया और अनेक प्रकार से सांत्वना दी। लगभग दो दिनों तक लोग मेरे यहाँ रहे। उस शोकाकुल वातावरण में कोई विशेष बात न हो सकी। केवल दो बातें ज्ञात हुईं। एक तो यह कि विदाई के समय दु:शला मुझे बहुत याद कर रही थी और दूसरी यह कि वृद्धों ने पांडवों को आधा राज्य देने की घोषणा महाराज से करा दी है। इंद्रप्रस्थ में एक नया राजभवन बनाए जाने की योजना आरंभ भी हो गई है।

"क्या यह राजभवन भी वारणावत के 'शिवम्' जैसा होगा?" मेरे अधरों पर आँसुओं से भीगी एक मुसकराहट दौड़ गई।

"क्या बात करते हो, कर्ण! तुम किसी भी स्थिति में जले पर नमक छिड़कने से नहीं चूकते!" मामा बोला और दाहिने हाथ को पासा फेंकने के ढंग से घुमाते हुए कहा, "यह शकुनि जल्दी हार माननेवाला नहीं है। देखना, ऐसी चाल चलूँगा कि तुम्हें भी पूर्वज याद हो आएँगे।"

मामा की भंगिमा की विलक्षण कुटिलता को हम देखते रह गए। पर माला बोल पड़ी, "आप लोग पांडवों के इतने पीछे क्यों पड़े हैं? जब वे आधा राज्य लेकर अलग हो जा रहे हैं तब आपको उनसे क्या लेना-देना है?"

मामा विस्फारित नेत्रों से उसे देखता रह गया। दुर्योधन भी स्तंभित था। माला ऐसा भी सोच सकती है, दोनों के लिए अनहोनी बात थी। थोड़ी देर बाद मामा ही बोला, "घायल सर्प और शत्रु को जीवित छोड़ देनेवाला मनुष्य कभी निष्कंटक नहीं रह सकता।"

मैंने देखा, माला कुछ कहने जा रही है। मेरे नेत्रों के संकेत ने उसका मुँह बंद कर दिया। वह मेरी ओर देखती हुई चुप हो गई।

मैं समझता था कि माला ठीक कह रही है; फिर भी मैंने उसे बोलने नहीं दिया। इस विवशता के पीछे मेरा वह जीवन था जिसे मैं असामान्य स्थिति में जी

रहा था। मैं समझता हूँ कि जो कुछ मैं करता हूँ, उसमें बहुत कुछ गलत है; फिर भी करता जाता था, क्योंकि मुझपर भावना का नियंत्रण बुद्धि से अधिक था।

दुर्योधन के लौट जाने के लगभग पाँच-छह दिनों बाद।

दोपहर में मैं कभी नहीं सोता था, पर उस दिन नींद आ गई थी। सोकर उठते ही सूचना मिली कि एक महिला मुझसे मिलना चाहती है। मैंने सोचा, कुछ याचना करने आई होगी। मैंने परिचारक से उसे महामात्य से मिलाने के लिए कहा।

''किंतु महामात्य नहीं हैं, जनपद के गणमुख्य के यहाँ गए हैं।''

''तब उसे किसी और अमात्य से मिलाओ।''

''वह किसी और से नहीं, केवल आपसे मिलना चाहती है।''

''नहीं मिलना चाहती है तो कह दो, इस समय चली जाए, मैं खाली नहीं हूँ।'' मैं उठकर शौचालय और स्नानागार की ओर चल दिया।

जब थोड़ी देर बाद लौटा तो देखा कि परिचारक ज्यों-का-त्यों खड़ा है।

''लौटा दिया उस महिला को?'' मैंने पूछा।

''जी नहीं।'' वह धीरे से बोला।

''तो क्यों नहीं लौटा देते? कह दो कि चली जाए।'' मैं तड़पा।

फिर भी वह खड़ा रहा। बड़े दबे स्वर में बोला, ''मुझे उससे कुछ कहते भय लग रहा है।''

''भय लग रहा है! क्या बात है? कैसी है वह महिला?'' मैंने पूछा।

अब उसने उसके व्यक्तित्व का विशेष विवरण दिया, ''महाराज, वह गौरांग वृद्धा है। श्वेत वस्त्र पहने है। राजसी रथ पर आई है।''

मैं कुछ समझ नहीं पाया, ''उसके साथ कोई और भी है?''

''हाँ, एक परिचारिका।''

मैं सोचने लगा कि वह कौन हो सकती है; पर किसी निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पाया।

''अच्छा, उसे बुला लाओ।'' कहकर मैं सभाकक्ष में चला आया।

सभाकक्ष में बैठा ही था कि उद्यान की ओर से एक श्वेतवसना आती दिखाई दी, मानो मंदिर की दीपशिखा ज्योत्स्ना में लिपटी बढ़ी चली आ रही हो।

अरे, यह तो कुंती है। यहाँ कैसे?—मैं अवाक् रह गया। कदाचित् कुछ क्षणों तक जड़वत् खड़ा रहा। फिर चेतना लौटी। बढ़कर अभिवादन करना चाहिए। मैं झट द्वार की ओर बढ़ा और निकट पहुँचकर बोला, ''राजमाता को प्रणाम करता हूँ।''

"जीते रहो, बेटे।" कितनी ममता थी उसके स्वर में!

मेरी भावुकता फूट पड़ी। मैं रोने लगा, "मुझे बेटा कहनेवाला चला गया, राजमाता!" मैं रोता रहा। वह मेरे सामने रजत-पीठ पर बैठी रही। मैंने देखा, उसकी आँखों में कुछ बादल जैसा छाने लगा है। यदि मैं रोता रहूँगा तो शायद उसकी भी आँखें चूने लगेंगी।

आभास हो गया कि वह भी मुझे सांत्वना देने आई है। मैंने स्वयं को सँभाला, "माँ मेरी पहले ही चली गई। एक पिता का सहारा था, वह भी छोड़ चला।"

"कभी किसीके माता-पिता सदा नहीं रहते, वत्स! एक-न-एक दिन तो उन्हें तुम्हारा साथ छोड़ना ही था।" कुंती ने मेरी वेदना को सहलाया।

तैल से बुझाई जानेवाली अग्नि की भाँति सांत्वना के छींटों से पीड़ा और भभकती है। मैं पुनः रोने लगा, "एक के बाद एक छाया हटती चली गई। अब तो सिर पर केवल जलता हुआ आकाश है और तपता हुआ सूर्य।"

"अब उन्हींको अपना पिता समझो, वत्स!" इतनी गंभीरता से उसने कहा था कि वह ध्वनि आज तक मेरे भीतर गूँजती रही। सूर्य मेरा पिता, मैं सूर्य का पुत्र, सूर्य मेरा पिता, मैं...

"पर मैं तो सूतपुत्र हूँ, सूर्यपुत्र कैसे हो सकता हूँ?" मैं उसी समय बोल पड़ा।

वह अंतर्द्वंद्व में खो गई। मुझे एकटक देखती चुपचाप बैठी रही, मानो उसकी नयन-रश्मि मुझमें कोई नया प्रकाश फेंकना चाह रही हो। किंतु मैं अपने में ही डूबा रहा। मेरी आँखों के सामने बहती हुई मंजूषा को पकड़े हुए अधिरथ था और उसमें से मुझे उठाकर, छाती से लगाकर नाचती हुई राधा थी। मैं सोचते हुए बड़बड़ाया, "एक माँ थी जिसने मुझे डूबने से उबारा, दूध पिलाकर बड़ा किया और एक माँ वह भी थी जिसने मुझे पैदा होते ही डुबा दिया।..."

"डुबा नहीं दिया वरन् मंजूषा में पूरी सुरक्षा के साथ रखकर बहा दिया।" कुंती ने मुझे बीच में टोका।

मैं और तिलमिला उठा, "बड़ी कृपा की थी उस पिशाचिनी ने!"

"पिशाचिनी नहीं, माँ कहो, बेटा!" उसके स्वर में बड़ी मृदुता थी।

"कैसी माँ? केवल जन्म देने भर के लिए माँ? जिसने अपने मातृत्व को गंगा में बहा दिया, वह भी क्या माँ कहलाने की अधिकारिणी है?" मेरा क्रोध फनफनाने लगा, "मुझे विसर्जित करते समय उस कुल-कलंकिनी की छाती फट क्यों नहीं गई?"

''कैसे समझते हो कि छाती नहीं फटी होगी उसकी ?''

''यदि छाती फटी होती उसकी तो वह भी गंगा में डूब मरती!'' मेरा आवेश बोला।

''क्या तुम्हारे विश्वास से वह अभी जीवित है ?'' उसने पूछा।

''अवश्य जीवित होगी। यदि उसे जीवन की लालसा न होती तो मुझे न त्यागती।'' मेरा अमर्ष अपने पूरे उफान पर था, ''यदि कहीं वह मिलती तो पूछता—नीच, दुष्टा, पिशाचिनी, डाकिनी! मैंने क्या अपराध किया था जिसका इतना बड़ा दंड मुझे भोगना पड़ा ? मैं जीवन भर ताने सुनता रहा। यदि मैं उसका गला भी दबा देता तो कोई पाप न होता।'' मैं क्रोध से काँपने लगा था।

उसने उठकर मुझे सँभाला और शांत किया। मैंने देखा, उसके संध्या-से रक्तिम कपोलों पर अमानिशा चढ़ आई थी। मुख फीका पड़ गया था।

जब मेरा आवेश ठंडा पड़ा, मैं प्रकृतिस्थ हुआ, तब मैंने कहा, ''क्षमा कीजिएगा राजमाता, मैं अनर्गल प्रलाप कर बैठा। किंतु मैं एक संतप्त प्राणी हूँ। जब भी दाह जोर मारता है, वाणी से पिघलता हुआ लावा ही निकलता है। अन्यथा आपको हमारी समस्या से क्या लेना-देना है!''

''लेना-देना तो कुछ नहीं है। केवल कलंकित मातृत्व में डूबना-उतराना है।''

''पर यह मातृत्व आपका तो नहीं है!''

''हो या न हो, है तो किसीका।''

मैंने देखा, उसकी आँखें नम होने लगी हैं। उस दिन कुंती बड़ी भावुक लगी। वह कितनी महान् है जो दूसरे की पीड़ा का अनुभव स्वयं कर रही है। उसने मुझे छाती से लगा लिया। ऐसा लगा जैसे मैं राधा की गोद में हूँ। उस अनिर्वचनीय वात्सल्य की अनुभूति शायद मैं शब्दों के घेरे में बाँध न पाऊँ।

थोड़ी देर बाद वह जाने को हुई। मैंने आभार प्रदर्शित करते हुए कहा, ''राजमाता, आपने कड़ा कष्ट किया। इस आपातकाल में आप ऐसे लोगों की सांत्वना ही हमारा संबल है। मैं आभारी हूँ।''

बड़े प्रयत्न के बाद उसने अपने अधरों पर मुसकराहट को जन्म दिया, ''तुम्हारी इस औपचारिकता से मैं धन्य हुई। मैंने तो अपने कर्तव्य का पालन मात्र किया है।''

जब वह विदा होने लगी, उसने मेरे कंधे पर हाथ रखकर धीरे से कहा, ''एक बात मानोगे, कर्ण।''

मैं प्रश्नवाचक मुद्रा में उसे देखता ही रह गया।

"मैं सबसे छिपकर यहाँ आई हूँ। तुम भी मेरे आगमन की चर्चा किसीसे मत करना।"

मैं समझ गया कि पांडव यदि कुंती का आगमन सुनेंगे तो बौखला उठेंगे। मैंने कहा, "आपकी स्थिति समझता हूँ। स्वयं आपके पुत्र आपका यहाँ आना सुनकर दाँत पीसने लगेंगे।" मैंने यह नहीं कहा कि दुर्योधन भी अपने साथियों के साथ यहाँ आया था।

वह हँसने लगी। बोली, "यह तो तुम्हारा पूर्वग्रह बोल रहा है, कर्ण! इस संदर्भ में बात कुछ दूसरी ही है।" फिर उसने विस्तार से समझाया कि अभी-अभी दु:शला का विवाह हुआ है। शुभ कार्य संपन्न कर परंपरानुसार मुझे तुम्हारे यहाँ नहीं आना चाहिए। यदि किसी तरह धृतराष्ट्र के कानों में यह बात पहुँच जाएगी तो वह यही कहेंगे कि कुंती मेरी इकलौती पुत्री का अनिष्ट चाहती है। स्वयं राजप्रासाद गंभीर मुद्रा में है। फिर इस तरह की बातों से तनाव और बढ़ाना मैं ठीक नहीं समझती।"

"सुना है, युधिष्ठिर को आधा राज्य मिल गया है। उनका राज्याभिषेक भी हो गया है। अब तनाव कैसा?"

"एक ही राजधानी से दो राज्यों का शासन कैसे हो सकता है, वत्स! कहीं एक कोष में दो असि रही हैं!"

"खांडवप्रस्थ में राजधानी बनाई जा रही है न?"

"किंतु वह एक दिन में बननेवाली नहीं है। उसमें समय तो लगेगा ही।"

खड़े-खड़े ही हम लोग बातें करते रहे। चलते समय परंपरानुसार मस्तक सूँघकर उसने आशीर्वाद दिया। फिर मेरे कुंडल छुए और वक्ष का स्पर्श करने लगी।

मुझे हँसी आ गई, "आपको तो आँखें हैं। तब ऐसा क्यों कर रही हैं? यदि गांधारी करे तो बात दूसरी है।"

पर वह कुछ नहीं बोली और न उसकी आकृति पर ही कोई परिवर्तन आया। वह वक्ष छूती रही। बोली, "अब तेरा कवच वक्ष से अलग होने वाला है।"

"यह तो पहले से ही ऐसा है।" मैंने कहा।

उसने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

"तो क्या यह पहले बिलकुल वक्ष से सटा था?"

"हाँ।"

इतना सुनते ही मैं पूछ बैठा, "आपको कैसे मालूम?"

वह एकदम सकपका गई। वह सँभलते हुए बोली, "मैंने सुना है।" और वह बड़े झटके के साथ कक्ष के बाहर की ओर बढ़ी। "अच्छा, तुम यहीं रुको, मैं चलती हूँ।" जैसे वह कुछ और सुनना नहीं चाहती थी।

मैं उसके पीछे-पीछे चला। वह आगे बढ़ती रही। पता नहीं क्यों, बीच-बीच में वह पीछे मुड़कर मुझे देख लेती थी। बड़ा अपनत्व था उन आँखों में।

उद्यान में आते-आते वह अचानक चकराकर गिर गई। इधर से मैं दौड़ा और उधर से उसकी वह परिचारिका, जो अब तक बाट जोह रही थी।

मैं उसे उठाते हुए बोला, "क्या हो गया राजमाता को? जल मँगाऊँ?"

"नहीं, नहीं। कोई बात नहीं। केवल संतुलन खो बैठी।" उसने कहा और उठकर रथ पर बैठ गई। बिना कुछ कहे चल पड़ी।

मैं देखता रह गया।

अब रथ चला गया था। केवल धूल मेरी आँखों के सामने थी। थोड़ी ही देर बाद उस धूल से महामात्य निकलता दिखाई दिया।

"कहाँ चले गए थे?" मैंने पूछा।

"गणमुख्य के यहाँ गया था, महाराज! एक भयंकर समस्या उठ खड़ी हुई है।" वह कुछ घबराया हुआ सा लगा।

"कौन सी ऐसी समस्या है जिसका समाधान तुम नहीं कर पा रहे हो?" मैंने राजभवन में लौटते हुए पूछा। वह पीछे-पीछे ही था, पर कुछ स्पष्ट बता नहीं पाया। केवल इतना ही बताकर रह गया कि स्थिति विस्फोटक हो सकती है।

मेरी प्रकृति किसी बात की लंबी भूमिका सुनना कभी पसंद नहीं करती। मेरा झुँझलाना स्वाभाविक था, "आप वास्तविक बात क्यों नहीं बताते?"

"महाराज! विद्रोह हो सकता है।"

"क्यों होगा विद्रोह?" कह तो दिया, पर सोचने लगा, हो सकता है, पांडवों के गुप्तचर कोई षड्यंत्र कर रहे हों। कुंती का सांत्वना के लिए आना भी उसी षड्यंत्र का कोई रूप हो। सोचते हुए मैं अपने कक्ष में चला आया था और बैठते हुए बोला, "घबराइए नहीं। बताइए, क्या बात है?"

अब उसकी मनःस्थिति सामान्य हुई। उसने बताया कि "समस्या आचार्य द्वित के आश्रम से उठी है। वहाँ कुछ वैश्यपुत्र प्रवेश लेना चाहते थे, किंतु द्वित ने कोरा उत्तर दिया कि आश्रम में वैश्यों को प्रवेश शास्त्रविहित नहीं है।"

मैं सोच कुछ और रहा था, बात कुछ और निकली। मुझे अपने पर हँसना चाहिए था, पर मेरी विचार सरणि दूसरी ओर उलझ गई, "किंतु आचार्य द्वित ने

कहा तो ठीक ही था।''

''पर वैश्यपुत्रों का तर्क था कि आप मुझे वेद की शिक्षा भले ही न दें, अंधवीक्षिकी (तर्क विद्या) की शिक्षा भले ही न दें, पर वार्त्ता (कृषि और वाणिज्य) की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार हमें होना चाहिए।''

मैंने कहा, ''वैश्यपुत्रों का तर्क भी ठीक ही है।''

महामात्य हँस पड़ा, ''वैश्यपुत्र भी ठीक कहते हैं और आचार्य भी, दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं!''

''इसलिए हो सकती हैं कि आज का समाज संतुलन खो बैठा है।'' मैं सोचने लगा। कुछ देर तक सोचता रहा और बोला, ''प्रजा इस संदर्भ में क्या सोचती है?''

''यह तो नहीं पता चला; किंतु गणमुख्य कह रहा था कि···'' वह कहते-कहते रुक गया, जैसे वह कुछ संकोच कर रहा हो।

मैंने उसे आश्वस्त किया, ''हाँ-हाँ, कहो। निर्भय होकर कहो।''

अब वह कुछ सहमते हुए बोला, ''कुछ लोग गणमुख्य से कह रहे थे, महाराज, कि सूतपुत्र राजा हो सकता है और वणिकपुत्र आश्रम में प्रवेश भी नहीं पा सकता।''

मन की असामान्य स्थिति में भी मैं नितांत सामान्य भाव से बोला, ''प्रजा भी ठीक ही सोच रही है।''

महामात्य चकित हो मुझे देखता रह गया। मैंने गंभीर ध्वनि में कहा, ''उन वणिकपुत्रों को कहला दो कि तुम्हारी समस्या महाराज तक पहुँच चुकी है। वह उसका समाधान ढूँढ़ रहे हैं।''

□

मैं समझ नहीं पाया कि आखिर कुंती मेरे यहाँ क्यों आई थी। दुर्योधन की तो निकटता थी और माला के शब्दों में—उसका स्वार्थ खींच ले आया था; किंतु वह कौन सी डोर थी, जिससे बँधी हुई कुंती चली आई थी? अब तक मेरे लिए रहस्य ही है, एक विलक्षण रहस्य।

लगे हाथों मैं उस पत्र की भी चर्चा कर दूँ जिसे मेरे जीवन में पहला और अंतिम प्रेमपत्र कहा जा सकता है।

उस दिन हस्तिनापुर से लौटते समय रात हो गई थी। पूर्णिमा की रजत ज्योत्स्ना में वासंती बयार मादकता घोल रही थी। माधवी से मदिर मेरा मन वायु के हिंडोले पर झूलने सा लगा था। पूरी प्रकृति मैरेय में लड़खड़ाती जान पड़ी। मुझे

उद्यान पार कर दक्षिण के मुख्य द्वार की ओर जाना था; किंतु मेरी मस्ती मुझे मुख्य पथ से भटकाकर पुष्करिणी की ओर खींच लाई थी। सर जैसी इस विशाल पुष्करिणी के उत्तरी छोर पर माधवी कुंज था और मैं दक्षिण की ओर बढ़ा जा रहा था। शीतल अनिल से खेलते मेरे उत्तरीय के दोनों छोर चिड़ियों के पंख जैसे फैल गए थे।

ज्यों ही मैं आगे बढ़ा, पुष्करिणी के जल में गंभीर कंपन और कल-कल की ध्वनि हुई। मैंने मुड़कर देखा, कहीं कुछ नहीं था। कुमुदनियाँ एकटक चंद्र को निहार रही थीं। धीरे-धीरे जल शांत हो गया। सोचा, किसी मीन ने कल्लोल किया होगा। फिर चल पड़ा। पुनः वैसी ही ध्वनि हुई। इस बार नारीकंठ की मोहक खिलखिलाहट भी वातावरण में तैरने लगी। मेरी दृष्टि उधर गई। दोनों पैर पुष्करिणी में लटकाए और स्वयं को कुंज में छिपाए अवश्य ही वहाँ कोई बैठी है। अब स्पष्ट हो गया है कि वहीं अपने पगों से जल में कल-कल की ध्वनि और कंपन उत्पन्न करती है तथा मुझे भ्रम में डालती है।

''मुझे स्पष्ट नहीं हो रहा है कि तुम कौन हो!'' मैरेय में डूबी मेरी आवाज लड़खड़ाई।

उसकी हास्य तरंगें और तेज हुईं।

''क्या मैं समझूँ कि तुम कोई अप्सरा हो?''

उसने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल हँसती रही।

''लगता है, भरत के शाप से लता बनी हुई उर्वशी हो!'' मैंने कहा।

''उर्वशी हूँ नहीं, होना चाहती हूँ।'' इतना कहकर वह हड़बड़ाकर बाहर निकली। उसका उत्तरीय माधवी से उलझकर वहीं रह गया। अरे, यह तो दुःशला है।

''दुःशला, तू क्या उर्वशी होना चाहती है?'' मैंने पूछा।

''क्यों? मैं किसीके उर को वश में नहीं कर सकती?'' उत्तरीयविहीन उसका यौवन इठलाया।

दुग्ध धवल चाँदनी में सद्यःस्नात उसका मादक व्यक्तित्व किसी महर्षि की भी समाधि डिगाने में सर्वथा समर्थ था। मैं भी अपने स्थान से डिगा। उसे विस्फारित नेत्रों से देखता आगे बढ़ा। उसके उन्नत उरोजों का रस मेरे नयन जैसे चूस लेना चाहते थे। मैं अपनी आँखों से उसे छूता रहा, छूता रहा।

''क्या देख रहे हो?'' वह मुसकराते हुए बोली।

''देख रहा हूँ कि तू चाँदनी पर छा रही है या चाँदनी तुझपर।''

''हा-हा-हा!'' वह और जोर से हँस पड़ी—अपने सारे तन को मरोड़ती हुई।

यह मेरे मैरेय का प्रभाव था या कोई और बात थी। दुःशला मुझे इतनी सुंदर इसके पहले कभी नहीं लगी थी। मैं मंत्रमुग्ध था।

"कहाँ जा रहे हो?" वाणी में कादंबरी मिलाते हुए उसने पूछा।

"जहाँ यह डगर जा रही है।"

"यदि यह यहीं समाप्त हो जाए तो?"

"तो यहीं रह जाऊँगा।"

इतना सुनते ही वह विद्युत् गति से आकर मेरे डगर पर खड़ी हो गई। "लो, समाप्त हो गई यह डगर।" उसने कहा।

मानो सदा से पथराई वह डगर शापित अहल्या रही हो, जो किन्हीं अदृश्य चरणों के स्पर्श से अनिंद्य सुंदरी हो मेरे सामने खड़ी हो। मैं चकित था। अब क्या करूँ? सचमुच मैं यहीं रह जाऊँ? मेरी भावना पर बुद्धि का प्रभाव बढ़ा, "संसार की हर वस्तु गतिमान है। ये चंद्र-नक्षत्र, लताद्रुम, हम-तुम सब चल रहे हैं। समय के रथ पर निरंतर बढ़ते चले जा रहे हैं। आज जहाँ हैं, कल वहाँ नहीं रहेंगे, तो फिर मैं कैसे यहीं रह सकता हूँ?"

"लो, सुनाने लगे न दर्शन!" वह बोली।

"दर्शन ही तो जीवन का आधार है, दुःशला। चाहे मैं इसे अपना दर्शन कहूँ या तुम्हारा दर्शन कहूँ।"

यह सुनते ही वह हँस पड़ी। नागिन की तरह बल खाती हुई उसकी दोनों भुजाएँ मेरी ओर बढ़ीं। ऐसा लगा जैसे वह अपनी बाँहों का हार मेरे गले में डाल देगी। पर वह अचानक चीख पड़ी, "नहीं, नहीं! ऐसा नहीं हो सकता।" वह एकदम पीछे हट गई, जैसे किसीने बलात् उसे खींच लिया हो।

उसकी इस अचानक परिवर्तित भंगिमा पर मैं स्तब्ध रह गया, मानो एक सुंदर सपना था जो बिखर गया; एक मोहक प्रतिमा थी जो चूर-चूर हो गई; आकांक्षाओं का आकर्षक दर्पण था जो टूट गया।

वह अत्यंत भावुक स्वर में बोल पड़ी, "तुम्हें आश्चर्य हो रहा है; पर मैं तुम्हारे निकट कभी नहीं आ सकती, कर्ण! विश्वास करो, कभी नहीं आ सकती; क्योंकि हमारे चारों ओर एक लक्ष्मण रेखा है, जिसे न तो हम पार कर सकते हैं और न तुम।..."

उसकी बात समाप्त होने के पहले ही मैं बोल पड़ा, "कैसी लक्ष्मण रेखा? कहाँ है लक्ष्मण रेखा?"

"वह तुम्हें दिखाई नहीं पड़ सकती। उसे देखना है तो इसमें देखो।" उसने

अपनी कटि से एक पत्र निकालकर मुझे दिया।

मैं तुरंत पढ़ने के लिए उसे खोलने लगा।

उसने मना किया, "इसे किसीके सामने मत पढ़ना।"

"तुम्हारे सामने भी नहीं?"

"नहीं-नहीं, बिलकुल नहीं।" वह खिलखिलाती हुई चली गई।

अब मात्र उसकी मद्धिम होती खिलखिलाहट थी, सर्पाकार डगर थी, मूक प्रकृति थी और अकेला मैं था। अब चाँदनी भी जलने लगी थी।

एक रात मैं अपने शयनकक्ष में लेटा था। वातायन खुले थे। सिर की ओर जलते दीप की शिखा मंद समीर में रह-रहकर काँप उठती थी। मेरी आँखों के सामने दु:शला जैसे आकर खड़ी हो गई—'यदि तुम चाहो तो परिचारकों को हटाकर मेरा पत्र पढ़ सकते हो।'

मैं अचानक उठा और दूसरे कक्ष में पत्र लेने गया। मेरे परिचारक चकित थे। ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे लेने के लिए महाराज को स्वयं उठना पड़ा।

पत्र पाकर मैं पुन: लेट गया और परिचारकों को हटाकर पढ़ने लगा।

पत्र की शब्दावली मुझे अक्षरश: स्मरण नहीं है। इतना याद है कि पत्र संबोधनविहीन था और शायद इसी समस्या से उसका आरंभ भी होता था कि आखिर मैं तुम्हें क्या संबोधन करूँ? इसके बाद उसने मेरे प्रति अपने आकर्षण की चर्चा की थी और लिखा था कि 'जब तुम यहाँ आते थे, मैं किसी-न-किसी बहाने तुमसे मिलती अवश्य थी। बड़ा अच्छा लगता था तुमसे बातें करने में। बड़ा संतोष मिलता था तुम्हें देखने में। तुम्हारे मुसकराते कपोलों का स्पर्श करते स्वर्ण कुंडल मेरी दृष्टि उलझा से लेते थे। तुम्हारे अभाव में भी तुम्हारी संपूर्ण शरीरयष्टि मेरे सामने ही रहती थी।'

फिर उसने अपनी विशेषताओं का वर्णन किया, 'नारी-सुलभ संकोच और राजसी परंपराओं में ऐसी जकड़ी रही कि अपने मन को कभी भी तुम्हारे सामने खोल नहीं पाई और जब बड़े प्रयत्न के बाद मुँह खोलने का साहस भी जुटाया तो पाया कि मैं अपने चारों ओर खींची एक लक्ष्मण रेखा से घिरी हूँ।

'...मैं तुम्हें किसी अबूझ पहेली में उलझाना नहीं चाहती। बात स्पष्ट कर देना चाहती हूँ। जिन दिनों मेरे विवाह की बात चलने लगी थी, मैं कुछ उद्विग्न हो उठी थी। मनुष्य के लिए प्रेम उससे भिन्न वस्तु हो सकती है, पर नारी के लिए प्रेम ही उसका जीवन है। मेरे जीवन के समक्ष समर्पण का प्रश्न था। मेरा व्यग्र होना स्वाभाविक था; क्योंकि जिस छाया में मुझे स्वयं को समर्पित करना था वह छाया

बहुत ही चंचल थी। वह रनिवास से लेकर अरण्य तक फिसलती थी। मैंने सिंधुराज के संबंध में ऐसा ही कुछ सुन रखा था। ···पर कहती किससे और क्या कहती? अंततः लाचार हो अपनी माता से एकांत में मिली और बताया कि मैंने सिंधुराज के संबंध में बहुत सी बातें सुनी हैं। वह कुछ नहीं बोलीं, केवल उन्होंने मुझे अपने वक्ष से लगा लिया। मुझे बड़ी शांति मिली। थोड़ी देर बाद उन्होंने समझाया कि पुरुष की सबसे बड़ी विवशता उसकी वासना है। एक विवाहित और योग्य स्त्री का नियंत्रण पुरुष की जीवनधारा को गंदे नाले से निकालकर पतितपावनी गंगा में मिला सकता है।'

इसके बाद बड़ी काव्यात्मक शैली में उसने लिखा था, जिसका सारांश है कि 'जब सिंधुराज से विवाह के प्रति मैंने अपनी अनिच्छा प्रकट की तब उन्होंने पूछा, 'आखिर तुम किससे विवाह करना चाहती हो?' मैंने तुम्हारा नाम लिया। वे एकदम भड़क उठीं और बोलीं, 'जिस सूतपुत्र को द्रुपदकन्या दुत्कार चुकी है उसे हस्तिनापुर की राजकुमारी वरण करे! क्या कहेगा समाज?' मैं कुछ बोल नहीं पाई। उसी समय मैंने अनुभव किया कि मेरे चारों ओर एक लक्ष्मण रेखा है।

'मैं माँ की छाती से लगी रही। थोड़ी देर बाद उन्होंने मेरा सिर सहलाया और अपने हरण की चर्चा करते हुए बताया कि मेरे सतीत्व ने ही तुम्हारे पिता की वासना के उद्दाम प्रवाह को ऐसा बाँध रखा है कि अब कोई उनपर अँगुली भी नहीं उठा सकता। आखिर तुम भी मेरी ही पुत्री हो। मुझे पूरा विश्वास है कि जयद्रथ चाहे जैसा भी हो, तुम्हारा सर्वस्व समर्पण उसे अपने पाश में ले लेगा।'

फिर उसने बड़ी ही विनीत और आर्द्र भाषा में लिखा था कि 'माँ कहती थी कि कर्ण को तो तुम्हारे भाइयों ने अपना भाई मान लिया है। अब वह तुम्हारा भी भाई हुआ, वह भी बड़ा भाई। भाई के संबंध में तुम्हारे ऐसे विचार न तो समाजसम्मत हैं और न शास्त्रसम्मत ही।

'अब समझ गए होगे कि लक्ष्मण रेखा क्या है? इसे मैंने नहीं खींचा और न मेरी माँ ने ही, वरन् समाज ने खींचा है, जिसे मिटा पाने की शक्ति न मुझमें है और न तुममें। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मैं तुम्हें अपना भाई समझूँ और तुम मुझे अपनी बहन? हमारा-तुम्हारा यह संबंध जन्मना भले ही न हो, पर मनसा तो हो ही सकता है।

'मेरा शील कदाचित् इतना सबकुछ मौखिक कह नहीं पाता। इसीसे मैंने लिख दिया है। क्या यह संभव है कि मेरे पाणिग्रहण के समय तुम मेरा विधिवत् कन्यादान करो? मुझे बड़ा संतोष होगा।' पत्र का अंत भी 'तुम्हारी बहन' से हुआ था।

मैं पत्र पढ़कर सोचने लगा। प्रकंपित दीपशिखा के प्रकाश में एक दूसरी ही दु:शला उभरती हुई दिखाई दी—सौभाग्यवती दु:शला, नवलवधू दु:शला, सलज्ज नमस्कार करती हुई दु:शला; जिसे मैंने आशीर्वाद दिया, 'यावत् चंद्र दिवाकरौ, तेरा सौभाग्य अटल रहे।' साथ ही मैंने उसे आश्वस्त किया, 'यदि तुम्हारे भाइयों ने मुझे अपना भाई माना है तो मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि भ्रातृत्व के निर्वाह में मैं भी किसीसे पीछे नहीं रहूँगा। जैसा तेरा सौभाग्य अटल रहेगा वैसा मेरा भ्रातृत्व भी।' इसी बीच वायु का एक तेज झोंका आया और दीप बुझ गया। मेरी कल्पनाप्रसूत दु:शला भी वायु के साथ ही उड़ गई, ओझल हो गई।

विधि की विडंबना देखिए, मैं उसके पाणिग्रहण संस्कार में भी सम्मिलित नहीं हो सका। मनुष्य सोचता कुछ और है, नियति करती कुछ और है।

अंधकार कुछ गाढ़ा हो चला था। प्रासाद का हर प्रकोष्ठ ऊँघने लगा था। फिर भी मेरा मस्तिष्क उलझा-उलझा था कि यदि उसे भाई ही मानना था तो उस रात संपूर्ण वासना उसके व्यक्तित्व से फूट क्यों पड़ी थी? वह बुझने के पहले दीप का भभकना था या मात्र एक छलना? पता नहीं कब पुरवैया के झोंकों में उड़ते नींद के कपोत आए और पलकों पर बैठ गए।

दूसरे दिन किसी बात के संदर्भ में मैंने माला से पत्र की संक्षिप्त चर्चा की।

वह हँस पड़ी और बोली, ''मैंने उस दिन क्या कहा था? तब तो तुम मुझपर रुष्ट हो गए थे; पर मैं आज फिर कह रही हूँ कि तुम बड़े-से-बड़ा काम कर सकते हो, कर्ण, किंतु इस लक्ष्मण रेखा को नहीं मिटा सकते।''

□

अपराह्न हो चला था। मेरा रथ द्वित के आश्रम की ओर बढ़ा चला जा रहा था। मेरे पीछे महामात्य, सेनाधिपति और गणमुख्य के भी रथ थे। कदाचित् सबसे पीछे के रथ पर एक अमात्य के साथ वे दो वणिकपुत्र भी बैठे थे, जिनके प्रवेश की समस्या चिनगारी बन चुकी थी।

जब ग्रामीणों के बीच से हमारा रथ निकलता, ग्रामवासी मार्ग के किनारे खड़े होकर श्रद्धापूर्वक जय-जयकार करते; किंतु वनों में पहुँचते ही रथों की घरघराहट से वृक्षों के पक्षी उड़ चलते। मृग भयभीत हो गहन कांतार में भाग जाते। यह कितना विचित्र व्यंग्य है कि मनुष्य तो हमें राजा समझे, पूज्य समझे; पर पशु की दृष्टि में मैं एक प्राणघातक आखेटक से अधिक कुछ नहीं था। शायद पशु जगत् में कोई शासक और शासित नहीं होता। कभी पशु ने किसी पशु को दास बनाया है? वे मनुष्य की भाँति अपनी ही बनाई प्राचीरों में बंदी नहीं हैं, वरन् परम स्वच्छंद हैं।

भोग जगा, मिल लिये; भूख लगी, खा लिये और प्रकृति के आँगन में उन्मुक्त विचरते रहे।

ऐसे ही विचारों में उलझा मैं द्वित के आश्रम के निकट पहुँच चुका था। जंगल के बीच आश्रम का परिसर था। पता नहीं मेरे आगमन की पूर्व सूचना आचार्य को कैसे मिल गई थी। कुछ ब्रह्मचारी मेरी अगवानी में आश्रम के प्रवेश द्वार की ओर जानेवाली पगडंडी पर ही खड़े थे। रथ वहीं रोक दिए गए। मेरे उतरते ही सभी रथ से उतर पड़े।

मैंने उन्हें वहीं ठहरने का आदेश दिया, "आप यहीं तरु तले विश्राम करें, मैं आचार्य के दर्शन करके आता हूँ।"

आश्रम में प्रवेश करते ही आचार्य की तेजस्वी काया मुसकराती हुई आशीष देती दिखाई दी। उनकी भव्यता मुझपर ऐसी छा गई कि मैं एकदम उनके चरणों पर झुक गया।

"पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपम्!" उन्होंने आशीर्वाद दिया।

"अपने गुण और रूप के अनुसार पुत्र प्राप्त करूँ! महाराज, यह कैसा आशीर्वाद?" मेरे मुख से निकला।

आकाश को सामान्य भाव से देखने के बाद उनकी त्रिकालदर्शी दृष्टि ने मुझे देखा और वे हँस पड़े।

"आशीर्वाद तो आशीर्वाद ही है।" उन्होंने कहा।

इसके बाद वे मुझे अपनी पर्णकुटी में ले गए। मृगचर्म पर बैठाया और बड़ी विनम्रता से बोले, "कैसे कृपा की, राजन्?"

"यों ही कुशल-क्षेम की जिज्ञासावश चला आया। सोचता हूँ कि राज्य में पड़नेवाले सभी आश्रमों में एक बार स्वयं अवलोकन करूँ। देखूँ, मेरी सेवा की कोई आवश्यकता तो नहीं है।"

"यह कार्य आपका सराहनीय है, राजन्!" फिर एक कुटिल मुसकराहट उनकी झुर्रियों पर उभरी और वे बोले, "स्वयं को सेवाभाव तक ही सीमित रखिएगा। कभी भी अपने आदेश से इन आश्रमों को प्रभावित करने की कृपा मत कीजिएगा।"

मैंने समझ लिया कि मेरे आगमन के प्रयोजन का आभास आचार्य को लग गया है; क्योंकि प्रवेश की समस्या अभी पुरानी तो पड़ी नहीं है। मैं जो कुछ छिपाना चाहता था वही खुल गया। मैं सकपकाया, "राजा के आदेश में वह साहस कहाँ जो आश्रम के परिसर का स्पर्श कर सके! हाँ, मेरी विनम्र प्रार्थना तो आप तक पहुँच ही सकती है।"

''अवश्य! कहिए।'' इतना कहते ही जैसे उन्हें कुछ याद हो आया, ''आपका क्या स्वागत करूँ, राजन्?''

''आपका आशीर्वाद ही हमारा सबसे बड़ा स्वागत है, महाराज! यदि कष्ट न हो तो थोड़ा जल पिलवा दीजिए।'' मेरे मुख से निकलना था कि एक ब्रह्मचारी मृण्पात्र में जल ले आया।

फिर विनयावनत हो मैं स्वयं को खोलने लगा, ''एक जिज्ञासा है, महाराज!''

''कहिए।''

''कृषि और वाणिज्य तो इस भूखंड की मुख्य जीविका है, आचार्य! तब क्यों नहीं वैश्यपुत्रों को भी आश्रमों में वार्त्ता का ज्ञान कराया जाय?''

द्वित अट्टहास कर बैठे। उन्होंने कोई उत्तर न देकर मुझसे ही प्रश्न करना आरंभ कर दिया, ''धनुष-बाण से आखेट करना भीलों की मुख्य जीविका है कि नहीं?''

मैं उनका मुख देखता हुआ चुप था।

''बोलते क्यों नहीं? है या नहीं?''

''है।'' मैंने हँसते हुए उत्तर दिया।

''तब द्रोण ने एकलव्य को धनुर्विद्या की शिक्षा क्यों नहीं दी?''

मैं क्या उत्तर देता? खीज मिटाते हुए बोला, ''भले ही उन्होंने शिक्षा न दी, पर वह धनुःकला में पारंगत तो हो ही गया।''

''जी हाँ, इसीलिए न आचार्य ने उसका अँगूठा कटवा लिया!'' इतना कहकर वह पुनः हँस पड़े, ''आप क्या चाहते हैं? मैं वणिकपुत्रों को वार्त्ता की शिक्षा दूँ और दीक्षा के समय गुरुदक्षिणा में उनकी जीभ कटवा लूँ?''

उनके इस व्यंग्य पर मुझे भी हँसी आ गई।

''तब आपकी दृष्टि में वार्त्ता की शिक्षा के मुख्य अधिकारी कौन हैं?''

''ब्राह्मण और क्षत्रिय।''

''व्यक्ति का वर्ण ही अधिकारी होता है, उसकी योग्यता नहीं?'' मैंने पिटा-पिटाया अपना तर्क बड़ी विनम्रता से प्रस्तुत किया और वैसा ही पिटा-पिटाया उत्तर बड़ी दृढ़ता से पाया भी कि ''शास्त्रसम्मत व्यवस्था तो वर्ण को ही अधिकार देती है।''

मैं चुप रह गया; पर मेरा मन बार-बार मुझसे पूछता रहा कि शास्त्र समाज के लिए है या समाज शास्त्र के लिए? समाज के निकष पर शास्त्र को कसा जाएगा या शास्त्र के निकष पर समाज को? किंतु भीतर से उठी आवाज कंठ तक आकर

रुकती रही और एक समय ऐसा भी आया कि मैंने खखारते हुए गला साफ किया। चलने को हुआ। चरण छुए। 'मेरे योग्य कोई सेवा निस्संकोच कहिएगा' आदि ऐसे औपचारिक वाक्य कहे और आश्रम से बाहर चल पड़ा।

कुछ ब्रह्मचारी मुझे रथ तक छोड़ने आए।

मैंने उन्हें विदा कर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। फिर महामात्य से पूछा, ''वे वणिकपुत्र कहाँ हैं ?''

''यहीं तो थे।'' अब उनकी खोज होने लगी।

एक कृष्ण मृग का पीछा करते हुए वे जंगल में दूर तक निकल गए थे। शीघ्र ही खोज निकाले गए। मैंने बड़े प्रेम से उन्हें अपने पास बुलाया और बड़ी आत्मीयता से बोला, ''वत्स! तुम्हारे लिए आश्रम के द्वार सदा के लिए बंद हैं।''

वे एकटक मेरा मुख देखते रह गए।

मैंने अपने अधरों पर मुसकराहट ओढ़ ली और फिर उन्हीं के वाक्य को दुहराया, ''सूतपुत्र राजा हो सकता है, पर वणिक-पुत्र आश्रम में प्रवेश नहीं पा सकता।'' और एक कृत्रिम हँसी हँसते हुए उन्हें अपने वक्ष से लगा लिया। उन्हें कभी विश्वास भी नहीं था कि राजा हमारा आलिंगन भी कर सकता है। वे इतने गद्गद थे कि कुछ बोल भी न पाए।

सम्मान की शीतलता असंतोष के दाह को समाप्त कर देती है। अब वे शांत थे। विस्फोट की आशंका शशक शिशु-सा अपने कोष्ठ में छिप गई थी। फिर भी, रथ पर चढ़ते समय मेरे मुख से निकल पड़ा, ''समाज का शाश्वत प्रवाह शास्त्र की व्यवस्थाओं से बुरी तरह बद्ध हो गया है। अब निश्चित रूप से उसमें सड़न होने वाली है।''

□

जब हम प्रासाद में लौटे, रात्रि का प्रथम प्रहर चल रहा था। चैत्र की अमावस्या का अंधकार धूल से भरकर शुष्क और सघन हो गया था। मैं अंत:पुर की ओर बढ़ा चला जा रहा था कि प्रधान प्रतिहारी दिखाई दिया। उसने झुककर अभिवादन किया।

''कोई विशेष बात तो नहीं है ?'' मैंने पूछा।

''एक नाग अपने विष के साथ आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।'' उसने कहा।

नाग, विष लेकर, वह भी मेरी प्रतीक्षा! बात कुछ समझ में नहीं आई। फिर भी मैंने पूछा, ''कहाँ है वह ?''

''अतिथिभवन में।''

मैं क्षण भर रुककर कुछ सोचने लगा।

"कहिए तो मैं उसको यहीं बुलाऊँ!" वह बोला और मुद्रा देखकर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही उसे बुलाने चल पड़ा। मैं अंतःपुर से निकलकर सभाकक्ष के पार्श्व के प्रतीक्षा प्रकोष्ठ में बैठ गया।

थोड़ी देर बाद मैंने देखा, एक नितांत काला व्यक्ति चला आ रहा है, मानो अंधकार ही गाढ़ा होकर मेरी ओर बढ़ रहा हो। उसके हाथों में एक छोटा सा बंद ठोस पात्र था। आते ही उसने कमर तक झुककर आदिवासियों जैसा अभिवादन किया।

"तुम्हीं विषधर नाग हो?" मैंने पूछा।

उसने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

"पर न तो तुम्हारे फन है और न तुम्हारा विषदंत ही दिखाई दे रहा है। तुम तो मनुष्य जैसे मालूम हो रहे हो।"

"आप परिहास कर रहे हैं। कृपया जले पर नमक मत छिड़किए।" वह तिलमिलाया।

मैंने उसे और उधेड़ने की नीयत से कुरेदा, "किंतु तुम जलते हुए तो नहीं दिखाई पड़ रहे हो।"

"मैं भले ही न दिखाई पड़ूँ, पर भीतर से जल रहा हूँ वरन् जलकर राख हो गया हूँ।"

"हाँ, तुम्हारी कालिमा से ऐसा कुछ अवश्य लगता है।" मैंने एक व्यंग्य बाण और चुभोया।

अब वह भभक उठा, "वृद्धों ने ठीक कहा है कि आपत्ति में किसीके सामने रोना भी अपना उपहास ही कराना है।" उसका आर्द्र स्वर और अधिक गंभीर हुआ, "इस विपत्ति में कहाँ-कहाँ नहीं गया! हस्तिनापुर पहुँचा तो उन्होंने आपके पास भेजा। यहाँ आया तो आप भी मेरा परिहास करने लगे। हे भगवान्! अब तुम्हीं बताओ, मैं कहाँ जाऊँ?" निराशा के गहन अंधकार में डूबा वह स्वयं को सँभाल नहीं पाया और 'धम' से वहीं धरती पर बैठ गया।

"इतने से ही तुम घबरा गए!" मैंने उसे सहानुभूतिपूर्वक उठाया, "सचमुच तुम दुःखी मालूम होते हो।"

इतना सुनते ही उसकी आँखों का बाँध टूट गया। वह फूट-फूटकर रोने लगा, "खांडव वन जल गया। हमारा सारा परिवार भस्म हो गया। इस व्यथा की कथा सुनाने के लिए अब शायद ही कुछ जीव बच रहे हों।"

"आखिर तुम हो कौन? कैसे खांडव वन भस्म हुआ?" मेरी जिज्ञासा ने एक साथ कई प्रश्न किए।

उसने करुणार्द्र स्वर में कहना आरंभ किया, "मैं खांडव वन का आदिवासी नागवंशी हूँ। मेरा नाम अश्वसेन है। पूरे वन में मेरा ही परिवार रहता था। अपनी नई राजधानी बनाने के लिए पांडवों ने हमारे वन में आग लगा दी।"

"तुम लोगों ने इसका प्रतिरोध नहीं किया?"

"अंतिम दम तक किया। पर कृष्ण और अर्जुन के सम्मिलित प्रयत्न ने हमारे प्रतिरोध का गला ही घोंट दिया।

इतना कहते-कहते उसका कंठ भर आया। वह सिसकियों के बीच बोला, "चारों ओर से वन में आग लगा दी गई। हमारे बच्चे भाग भी नहीं सके। जंगली पशुओं की तरह भुन गए।" अंधकार में उसकी सिसकियाँ तैरती रहीं।

"आश्चर्य है कि इतना बड़ा अनर्थ हो गया, वह भी कृष्ण जैसे समझदार व्यक्ति के रहते हुए।" मैंने कहा।

"उसकी समझदारी ही तो हमारे लिए काल बन गई।" भीतर की जलन जैसे धुआँ छोड़ बैठी। वह दाँत पीसने लगा, "हम लोगों ने बड़ी प्रार्थना की कि राजधानी के निर्माण के लिए आप पूरा खांडव वन ले लीजिए, पर हमें छोड़ दीजिए; फिर भी वह नहीं माना।"

"क्या कहा कृष्ण ने?" मैंने पूछा।

"उसने अर्जुन को समझाया कि जिनकी धरती हर ली जाएगी वे कभी भी तुम्हारा भला नहीं चाह सकते। स्थायी शत्रु बनाए रखने से राजनीति उन्हें समाप्त कर देना ही उचित ठहराती है। तुम शीघ्रता करो और ऐसे अग्निबाण चलाओ कि अरण्य चारों ओर से एक साथ भभक उठे। यही हुआ, राजन्! अरण्य भी भस्म हो गया और हम भी भस्म हो गए।"

मैं सोचता रह गया। मनुष्य अपने स्वार्थ की परिधि में पशु से भी निर्मम हो जाता है। मैं बड़बड़ाया, "यह कैसी राजनीति, जो मानवता को पीसकर पी जाए!"

"यही बात मैंने कृष्ण से पूछी थी।" अश्वसेन ने कहा, तब मायावी मुसकराहट के बीच उसने कहा था, 'राजनीति के नेत्र मानवता को नहीं, मात्र अपने लक्ष्य को देखते हैं। इसीलिए मैं पांडवों की राजधानी के लिए किसी अरण्य का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं कर सकता।'

"मैंने पूछा था, 'ऐसा क्यों?' " अश्वसेन ने कहा, "तब उस मायावी ने बताया कि 'जंगल का उदर पशुओं से कहीं अधिक शत्रुओं को छिपाने में सक्षम

होता है।' "

अब कृष्ण का एक दूसरा ही चित्र मेरी आँखों के समक्ष था। इतने चतुर व्यक्ति के रहते हुए भला हमारी कौन सी चाल सफल हो सकती है। मैं सोचता रहा। मुझे लगा, कृष्ण मुसकराता हुआ मेरे सामने है। मैं उसे बाण मारे जा रहा हूँ और हर बाण उसकी मुसकराहट को छूकर फूल की पँखुड़ियों-से झरे जा रहे हैं।

मेरे मौन के लंबे अंतराल को उसने यह कहकर तोड़ा, "आप क्या सोच रहे हैं?"

मैंने उसके प्रश्न के उत्तर में दूसरा ही प्रश्न किया, "अब तुम चाहते क्या हो?"

"मैं चाहता हूँ, पांडव कुल का नाश और अर्जुन का महानाश!"

"क्यों? तुम कृष्ण का नाश क्यों नहीं सोचते? तुम्हारे अहित के मूल में तो उसीकी बुद्धि रही है?" मैंने पूछा।

वह चुप रह गया। पुनः बोला, "मनुष्य को वही सोचना चाहिए जो संभव हो सके।"

"तो तुम्हारी दृष्टि में कृष्ण का नाश असंभव है? क्या वह अनश्वर होकर आया है?"

"संसार में कोई वस्तु अनश्वर तो नहीं; पर कृष्ण से वैर लेना ठीक नहीं।" उसने कहा।

मैंने समझ लिया कि इस नाग पर यदुनाथ की माया छा गई है, इसलिए इस संदर्भ में कुछ और बातें करना ठीक नहीं। अतएव मैंने दूसरी ही बात पूछी, "तुम अर्जुन के महानाश के लिए क्या कर सकते हो?"

उसने हाथ में बंद लघु पात्र दिखाते हुए कहा, "इसमें कालकूट है।"

"तो मैं इस हलाहल का क्या करूँगा?"

"इस हलाहल से सिद्ध किया हुआ बाण जिस किसीको भी छू जाएगा, उसे यमराज भी बचा नहीं सकते।" उसने बताया।

"किंतु इस हलाहल से बाण सिद्ध करनेवाले जानकार की खोज करनी पड़ेगी।"

"यह कला मैं स्वयं जानता हूँ, राजन्!"

"ओ! तब तो अति उत्तम है। कुछ बाण सिद्ध कर डालो। तुम्हारी आकांक्षा पूरी हो जाएगी।"

"यही तो कठिन है, राजन्!" उसने वह लघु पात्र दिखाते हुए कहा, "इसमें

महाविष इतना अल्प है कि एक बाण से अधिक सिद्ध नहीं हो सकता।''

''तब तुम एक ही बाण सिद्ध करके अपने पास रखे रहो।''

''क्यों, आपको न दे दूँ?'' प्रतिशोध का उच्छ्वास कुछ गहरा हुआ।

''यदि मैंने क्रोध में इसका प्रयोग कहीं और कर दिया तो? तुम तो इससे अर्जुन का ही महानाश चाहते हो, इसलिए इसे अपने पास ही रखो। जब अर्जुन से मेरा युद्ध होगा तब देना।''

''हे भगवान्! क्या ऐसा भी हो सकता है?'' उसकी प्रतिहिंसा विह्वल हो उठी।

मैंने उसे समझाया, ''जब इतना विशाल खांडव वन राख हो सकता है, उसके जीव जीवित भस्म हो सकते हैं तब हमारा और अर्जुन का कभी-न-कभी युद्ध भी हो सकता है।''

उस अंधकार में भी अश्वसेन की आँखें प्रतिशोध की ज्वाला से चमक उठीं।

□

बारह

इतिहास स्वयं को बार-बार दुहराता है, यह उक्ति उस समय सत्य होती दिखाई पड़ी जिस समय मैं भोजनालय से भोजन कर निकल रहा था। एक परिचारिका ने अपार हर्ष में दौड़कर मुझे सूचना दी कि माला आई है। यह ठीक है कि माला बहुत दिनों के बाद आई है; किंतु इसमें इतना आह्लाद क्यों?

मैंने परिचारिका से निस्पृह होकर पूछा, "आखिर इसमें प्रसन्नता की क्या बात है?"

"पुरस्कार जो मिलेगा।" उसका अंग-अंग पुलकित था।

पुरस्कार! इसमें क्या रहस्य है? मैं विश्राम के लिए अपने शयनकक्ष की ओर बढ़ा। सोचा, वहीं माला को बुला लूँगा। किंतु वह मुसकराती हुई मार्ग में ही मिल गई। इस बार वह सदा की भाँति एकाकी नहीं थी। उसकी गोद में एक नवजात शिशु किनमिना रहा था। माला की आकृति पर वसंतश्री थी। उसके अधरों में बंधूक फूला था। निकट आते ही वह शिशु को दिखाते हुए बोली, "इसे पहचानते हो?" वह सदा की भाँति खिलखिलाई, "देखो, यह तुम्हारे गुण और रूप से कितना मिलता है!"

मेरे मन में आचार्य द्वित का आशीर्वाद कौंध उठा, 'पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपम्!'

अब वह शिशु मेरे अंक में था। लगभग एक मास का रहा होगा। उसकी चंचल आँखें कभी मुझे देखतीं और कभी अपनी माँ को, मानो वह संकेत कर रही हों कि तुम दोनों के कृत्य या कुकृत्य का ही तो मैं परिणाम हूँ।

मैंने उसके अधर छुए। वह मुसकराने लगा। मैंने कहा, "माला, यह तेरी खिलखिलाहट लेकर ही पैदा हुआ है।"

"और तुम्हारा पौरुष तथा वर्चस्व भी।" वह छूटते ही बोल पड़ी।

"किंतु इसके कानों में न तो कुंडल हैं और न इसके वक्ष पर कवच ही, तब

यह मेरा पुत्र कैसे हो सकता है ?"

"पर है तो तुम्हारा ही पुत्र।"

"और मैं न स्वीकार करूँ तो ?" मैंने हँसते हुए व्यंग्य किया।

"तुम चाहे स्वीकार करो या न करो, किंतु यह मेरा पुत्र तो है ही।" उसकी मुद्रा नाटकीय ढंग से बदली, "मैं तुम्हारी माँ की तरह थोड़े ही हूँ कि तुम इसे स्वीकार न करोगे तो मैं लोक-लज्जा के भय से इसे गंगा में प्रवाहित कर दूँगी।"

इतना सुनकर सभी परिचारिकाएँ एक साथ हँस पड़ीं। मुझे ऐसा लगा जैसे पूरा प्रासाद मेरी माँ पर हँस रहा है।

"हँसो, खूब हँसो। तुम्हें हँसना ही चाहिए मेरी माँ पर।" झुँझलाहट भरे मेरे इस परिवर्तन पर सबकी सब सहम गईं। वातावरण गंभीर हो गया।

"हमें क्षमा करें, राजन्!" एक परिचारिका विनयावनत हो बोल पड़ी।

"महामात्य को बुलाओ।" मैं पूर्ववत् गंभीरता में ही बोला। एक को छोड़कर सभी परिचारिकाएँ एक साथ उसे बुलाने के लिए दौड़ीं।

आते ही महामात्य ने कहा, "आचार्य द्वित का आशीर्वाद फलित हुआ। आपको बधाई है।"

"धन्यवाद।" मेरे स्वर में राजसी अहं उतर आया, "कोषाध्यक्ष से कहिए कि कोषागार का द्वार राजकर्मचारियों और दीनों के लिए खोल दिया जाय।"

'साधु-साधु' कहती हुई परिचारिकाएँ उछल पड़ीं। संपूर्ण प्रासाद पुलकित हो नाचने लगा।

फिर मैंने महामात्य को दूसरा आदेश दिया कि "राजज्योतिषी से बालक के जन्म की घड़ी और पल बताकर इसका भविष्य पूछिए और इसके नामकरण की व्यवस्था कीजिए।"

प्रसन्न वदन महामात्य चला गया।

अब माला अकेली रह गई थी। मैंने उसके अंदर को पुनः गुदगुदाया, "क्यों री, तेरा विवाह तो हुआ नहीं, इसके पूर्व ही यह पुत्र हो गया। क्या कहेगा समाज ?"

"कहा करे समाज!" उसकी दृढ़ता ने मुझपर प्रत्यक्ष प्रहार किया, "जैसा पिता होगा वैसा ही न पुत्र होगा।"

"तुम्हारा तात्पर्य ?"

"तात्पर्य यही कि इसका पिता भी विवाह के पूर्व ही पैदा हुआ होगा!"

"यह तुम कैसे कह सकती हो ?"

"यदि ऐसा न होता तो कोई भी माँ तुम्हारे ऐसे सुंदर बालक को कभी भी न

त्यागती।'' पल भर में ही उसकी आकृति का भाव बदला, ''अपने ही कर्मों का वह सामना न कर सकी। बड़ी दुर्बल थी तुम्हारी माँ।''

''उसने अपनी सारी दृढ़ता तो मुझे सौंप दी थी, तब भला वह दुर्बल क्यों न रहती!'' मैंने हँसकर बात टाल दी। वस्तुतः ऐसे प्रहार सहते-सहते मैं जहाँ अभ्यस्त होता गया वहीं इन प्रहारों की सीमा भी अच्छी तरह पहचान गया था।

''कितना अच्छा होता कि आज मेरे माता-पिता भी जीवित होते!'' माला वाष्प-अवरुद्ध कंठ से बोली।

''तब वे तुम्हें घर से निकाल देते।'' मैंने हँसते हुए कहा।

''घर से तो मैं उसी दिन निकल चुकी थी जिस दिन तुम्हारे संसर्ग में आई।'' उसकी हँसी बड़ी देर तक राजभवन के गंभीर वातावरण में गूँजती रही।

□

इधर कई दिनों से हस्तिनापुर में ही हूँ। उस हस्तिनापुर में जिसमें अब केवल कौरव रहते हैं। पांडवों का इंद्रप्रस्थ अलग बस गया है। मैं तो अभी तक वहाँ गया नहीं; पर सुना है, इस युग के महान् वास्तुशिल्पी मय द्वारा निर्मित यह नगर अद्भुत है। एक प्रसंग में मैंने दुर्योधन से कहा था कि गंगा के इस दक्षिण तट पर हस्तिनापुर और यमुना के दक्षिण तट पर इंद्रप्रस्थ। यह भी कैसा संयोग है!

तब दुर्योधन बोला, ''यमुना तो आगे चलकर गंगा में मिल जाती है। क्या कभी इंद्रप्रस्थ भी हस्तिनापुर में मिल सकेगा?''

''यदि मिल नहीं सकता तो मिलाया जा सकता है।''

कपटपूर्ण मुसकराहट के बीच उसने विचित्र मुखमुद्रा बनाई।

इंद्रप्रस्थ के निरंतर बढ़ते हुए प्रभाव से कौरवों की ईर्ष्या भी बढ़ती गई। ईर्ष्या भी वह वस्तु है जो कभी शांत नहीं होती। मंद अग्नि की भाँति भीतर-ही-भीतर सुलगती रहती है। उसमें दूसरे को भस्म करने की आकांक्षा अवश्य रहती है; पर वह पहले स्वयं को ही जलाती है। इसी ईर्ष्या में हस्तिनापुर का राजभवन जल रहा था। यद्यपि मैं भी उससे अछूता नहीं था, तथापि अंतर बस इतना था कि वह स्वयं जल रहा था और मैं जलाया जा रहा था।

प्रजा के संबंध में क्या कहूँ? नित्य की भाँति उस प्रभात में भी मैं गंगास्नान के बाद जल में ही खड़े होकर सूर्य की आराधना कर रहा था। रविवार था। मेरी आराधना का विस्तार बढ़ जाना स्वाभाविक था। धूप तीव्रतर होती गई। मेरा रथ मेरे आराधना स्थल से कुछ दूर एक वट की छाया में था। मैं ध्यानमग्न था। ज्यों ही मेरे नेत्र खुले, मैंने देखा कि मेरा सारथि एक व्यक्ति को पटककर मार रहा है। उसके

साथ एक व्यक्ति और था, जो मारे भय के भाग चला।

निश्चित था कि वह उसे मारते-मारते मार डालता। मैं चिल्लाया, "अरे, यह क्या कर रहे हो?"

पूजन समाप्ति की प्रतीक्षा में खड़े दो-चार ब्राह्मण भी अब उस ओर लपके।

मेरे जल से निकलने के पहले ही एक व्यक्ति मेरे सामने लाया गया। उसके मुख से रक्तस्राव हो रहा था। सामने के दो दाँत टूट गए थे। सारथि ने उसका अपराध बताते हुए कहा, "महाराज! यह बड़ा दुर्विनीत है।"

"क्षमा हो, राजन्!" वह भय से काँप रहा था।

मैंने सारथि से पूछा, "क्या किया इसने?"

"महाराज! यह कह रहा था कि पूजा-आराधना तो इतनी करते हैं, पर साथ देते हैं अधर्मियों का।" वह एक साँस में कह गया और उसे क्रोध उगलती आँखों से देखता रहा, मानो उसे चबा जाएगा। दो-तीन लंबी साँसें खींचने के बाद बोला, "वह दुष्ट तो भाग गया। उसीने इससे पूछा था कि तुम किन अधर्मियों के संबंध में कह रहे हो? तब उसने बताया—कौरवों के संबंध में।"

सारथि ने पुनः दाँत पीसते हुए कहा, "मेरे सामने ही कह रहा था कि पांडवों का राज धर्मराज है और कौरवों का अधर्मराज।"

"यदि मैं आपको महाराज का सारथि समझता तो कभी न कहता।" उस व्यक्ति ने गिड़गिड़ाते हुए कहा। मुझे हँसी आ गई।

"इसका तात्पर्य है कि तुम मुँह पीछे यही बात कहते।" मैंने पूछा।

"महाराज! मुँह पीछे तो लोग भगवान् को भी गाली देते हैं।" उसने कहा।

"क्या तुमने देखा है कि भगवान् का मुँह किधर है?" मेरे इतना कहते ही सबके सब हँस पड़े। फिर मैंने उससे पूछा, "वह व्यक्ति, जो भाग गया, तुम्हारा कौन था?"

"मेरा मित्र था, राजन्!"

"मित्र तो नहीं लगता।" मैंने हँसते हुए कहा, "मित्र कैसा जो विपत्ति में भाग जाए!"

"मैं गलती पर जो था।" उसने कहा।

"मित्रता गलत और सही नहीं देखती, युवक। मित्रता केवल मित्रता देखती है।" मेरा स्वर आदेशात्मक हुआ, "अब उसे मित्र मत समझना, स्वार्थी समझना, कायर समझना।"

"अच्छा, महाराज!" उसने करबद्ध होकर मेरा आदेश स्वीकार किया।

अब मैंने अपने सारथि से पूछा, ''तुम्हारा प्रहार क्या प्रजा का मुँह बंद कर सकता है ? वह उसका प्राण ले सकता है, पर जबान नहीं पकड़ सकता; वरन् ऐसे व्यवहार से तो उसका स्वर वायुमंडल में सैकड़ों गुना तीव्र होकर प्रतिध्वनित होता रहेगा।''

सारथि एक अपराधी की भाँति चुपचाप मुझे देखता रह गया।

मैंने उससे कहा, ''अपने किए का प्रायश्चित्त करो और रथ में रखे कोष से अंजुलि भर मुद्रा निकालकर इसे दो।''

रक्त बहते मुख पर भी संतोष की चमक आ गई। उसका रोम-रोम तुष्ट हो गया। मुद्रा उस घायल के लिए लेप का कार्य कर गई।

यह थी प्रजा की स्थिति। राजभवन एक विचित्र घुटन में जी रहा था। वह पांडवों की बढ़ती हुई शक्ति से चिंतित था, पर प्रदर्शन करता था प्रसन्नता का, मानो शीतल झरना ज्वालामुखी पर बह रहा हो। हम लोग भी उसी झरने में किल्लोल करते दिखाई देते थे; पर भीतर-ही-भीतर लावा हो रहे थे। मेरा आंतरिक संताप उस समय अवसन्न रह गया जब मुझे बताया गया कि जरासंध की हत्या कर दी गई।

''यह कभी नहीं हो सकता। असंभव है।'' मेरा मन मानने को तैयार नहीं था। ''जिस जरासंध के भय से कृष्ण को द्वारका भागना पड़ा वह भला मारा जा सकता है!'' मैंने कहा।

किंतु दुर्योधन ने बताया कि ''तुम्हें विश्वास भले ही न हो, पर यह सत्य है।''

हम लोग उद्यान में बैठे थे। ग्रीष्म की रात थी। तेज हवा वृक्षों को झकझोरती हुई राक्षसों-सा चीख रही थी।

''जरासंध मारा गया, इसका तात्पर्य है कि आर्यावर्त की एक बड़ी घटना हो गई। पर मारा किसने ?'' मैंने पूछा।

''भीम ने।'' दु:शासन ने कहा।

शकुनि ने तत्क्षण उसके कथन में संशोधन किया, ''भीम की शक्ति ने और कृष्ण की बुद्धि ने।''

''कहाँ गई थी उस समय उसकी बुद्धि जब जरासंध ने उन्हें मार भगाया था ?'' मेरे खिजलाए असंतोष ने अपनी बात दोहराई।

''उस समय वह शून्य था, अब अंक के साथ लगकर दस गुना शक्तिशाली हो गया है।''

मैं स्तंभित था। आकाश में नक्षत्र मुझे टूटते हुए से लगे। धीरे-धीरे बात खुली और मैंने जाना कि वह कैसे मारा गया। उसकी राजधानी गिरिव्रज में कृष्ण और भीम किस प्रकार ब्राह्मणों के रूप में पहुँचे।

''महान् आततायी और अत्याचारी होते हुए भी जरासंध ब्राह्मणों का भक्त था।'' दुर्योधन ने कहा, ''उसकी ब्राह्मण-भक्ति ही उसके लिए घातक हुई।'' इतना कह वह मुझे ध्यान से देखता रहा। फिर थोड़ी देर बाद वह स्वयं बोला, ''तुम भी बड़े ब्राह्मण-भक्त हो।''

''आखिर आप कहना क्या चाहते हैं ?'' मैंने पूछा।

''यही कि कहीं तुम भी ब्राह्मण वेशधारियों से ही न छले जाओ।'' शकुनि मुसकराया।

मैं सोचने लगा, ''मामा, मैंने तो सुना है कि वेश धारण करने के बाद मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ भी बदल जाती हैं।'' फिर मैंने त्रेता की पुरानी कथा सुनाई कि सीता को कैसे हरा जा सकता है।

''इसके लिए अहिरावण ने रावण को एक उपाय बताया था। उसने रावण से कहा था कि आप राम का मायावी वेश धारण कीजिए तब सीता को हरने में सफलता मिलेगी। जानते हो, रावण ने क्या कहा ?

''पहले वह अहिरावण की मूर्खता पर खूब हँसा। फिर उसने कहा कि मैं ऐसा करके कई बार देख चुका हूँ। जब-जब राम का रूप धारण करता हूँ, मुझे परस्त्री माता के समान दिखाई देती है।''

मामा जोर से हँसा और उसके साथ ही सभी हँस पड़े। उस हास्य के घेरे में मेरी मूकता मूढ़ बन गई। मामा ही बोला, ''त्रेता की बात त्रेता के साथ चली गई। उस समय मनुष्य वेश के साथ चरित्र भी धारण करता था। अब तो चरित्र फेंक देता है, मात्र वेश ओढ़ लेता है।''

वह रात भी हस्तिनापुर में ही बीती। अगला प्रभात कोलाहल लेकर जनमा था। जब मैं अपने रथ पर गंगास्नान के लिए जा रहा था, मैंने देखा, पूरा नगर पश्चिम की ओर भागा जा रहा है। नदी तट पर भी उस पार से भरी-भरी नावें उतर रही हैं।

मैंने सारथि से कहा, ''जरा पता लगाओ, मामला क्या है !''

इधर मैं स्नान और पूजन में व्यस्त हुआ और सारथि भागती हुई प्रजा के बीच घुस गया। प्रात: कर्म के बाद उसने ही मुझे बताया कि आज इंद्रप्रस्थ में शोभायात्रा निकलने वाली है। ये लोग उसीको देखने जा रहे हैं।

विस्तार से पूछने पर मालूम हुआ कि जरासंध ने अनेक राजाओं को पराजित कर गिरिव्रज में बंदी बनाकर रखा था, पांडव उन्हें छुड़ाकर लाए हैं। उन्हींके सम्मान में यह शोभायात्रा निकलने वाली है।

"मुझे ज्ञात नहीं और यहाँ की प्रजा को सारी बातें मालूम हो गईं। इसमें क्या रहस्य है?" मैंने सारथि से पूछा।

वह ठीक न बता पाया। अवश्य ही इसमें गुप्तचरों का हाथ है, जिससे जंगल की आग की तरह यह समाचार हर ओर फैल गया।

राजभवन में पहुँचते ही मैं दुर्योधन के कक्ष में पहुँचा। वह पूजा पर बैठा था। मेरी व्यग्रता की सूचना मामा को मिली। वह दौड़ा हुआ आया। उसके साथ दुर्योधन के भाई चित्राक्ष, चारुमित्र और विकर्ण भी थे।

"आप लोगों ने सुना है, आज इंद्रप्रस्थ में शोभायात्रा निकल रही है।" मैंने कहा।

"यह तो नहीं मालूम, पर भीड़ आज जा उधर अवश्य रही है।" चारुमित्र बोला।

"तब आप लोगों को मालूम क्या रहता है? प्रजा सब जानती है और आप अनजान रहते हैं! इसका तात्पर्य है कि आपके गुप्तचर भी सोते रहते हैं।" मेरी आवाज असामान्य थी। तब तक दुर्योधन भी आ गया। वह भी चिंतित दिखाई दिया। "इसके पूर्व इंद्रप्रस्थ से कोई यहाँ आया था?" मैंने पूछा।

"हाँ, जरासंध-वध के कुछ दिनों बाद युधिष्ठिर आए थे। पिताजी, महामात्य एवं पितामह से मिले थे।" दुर्योधन ने बताया।

"क्या करने आए थे?" मैंने पूछा।

"पिताजी ने तो बताया था कि जरासंध-वध की सफलता पर चरणस्पर्श करने आए थे और राजसूय यज्ञ की भी चर्चा कर रहे थे।" दुर्योधन ने कहा।

"तो महाराज, यह उसी राजसूय यज्ञ की पूर्वपीठिका है।" मैंने कहा।

दुर्योधन चिंतित दिखा। मामा की आकृति पर भी गंभीर रेखाएँ उभरीं, "इस सबके पीछे उसी कृष्ण की बुद्धि है। उन बंदी राजाओं को छुड़ाकर उसने उपकृत तो किया ही, अब उन्हें सम्मानित करने जा रहा है, जिससे वे उनके प्रभाव से कभी न निकल सकें।" मामा ने कहा।

"जरासंध के वध के बाद यदि वह चाहता तो मगध पर अधिकार कर सकता था; पर उसने उसीके पुत्र सहदेव को सत्ता सौंपी।" चारुमित्र बोला।

"कहाँ मगध और कहाँ द्वारका! वह चला लेते प्रशासन?" दुर्योधन ने कहा।

"इसीलिए तो उसने सहदेव को सिंहासन पर बैठाया और वध किए गए पिता के पुत्र को शत्रु नहीं होने दिया, वरन् सदा के लिए अपना बना लिया।" शकुनि बोला और कुछ समय तक मौन हो गया। हम सब मूक हो उसका मुख ही देखते रहे। फिर उसने बड़े विश्वास से कहा, "अच्छा, घबराने की कोई बात नहीं। अभी शकुनि का हस्त-कौशल उसने देखा नहीं है।" एक रहस्यमय मुसकराहट उसकी आकृति पर पसरने लगी।

पांडवों का प्रताप बढ़ता गया। बड़े-बड़े राजा-महाराजा उनके प्रभाव-क्षेत्र में आते गए; पर उनकी महत्त्वाकांक्षा शांत न हुई। वह तो ऐसी मृगतृष्णा है जिसके पीछे जब व्यक्ति दौड़ने लगता है तो दौड़ता ही रहता है और अंत में उसके कुछ भी हाथ नहीं आता। इस समय पांडव उसी महत्त्वाकांक्षा के पीछे दौड़ पड़े थे।

यज्ञ की तिथि भी निश्चित हो गई। चारों ओर निमंत्रण भेजे जाने लगे। यहाँ भी पांडवों का एक अमात्य निमंत्रण लेकर आया। उस समय माला बैठी थी। पुत्र के नामकरण की चर्चा चल रही थी। माला ने बताया, "ज्योतिषाचार्य ने इसका नाम वृषसेन रखा है।" मुझे हँसी आ गई।

"मेरे 'वसुषेण' नाम के आधार पर तो नहीं रखा उन्होंने?" मैं बोला।

"नहीं, ग्रह-नक्षत्रों के आधार पर रखा है।" माला ने कहा।

"इसके भविष्य के संबंध में भी कुछ बताया?" मैंने पूछा।

कुछ विशेष बात तो नहीं बताई उन्होंने। केवल इतना ही कहा कि "प्रतापी का पुत्र प्रतापी होगा।" माला ने ही आगे बताया कि "मैंने जब विशेष कुछ जानना चाहा तो उन्होंने कहा कि मैं महाराज से मिलकर बातें कर लूँगा।"

"पर मुझसे ज्योतिषाचार्य अभी मिले नहीं। कोई अशुभ बात होती तो अवश्य सूचना देते। कदाचित् आजकल जनपद में हैं नहीं।"

फिर बातें राजसूय यज्ञ के संदर्भ में चल पड़ीं। मेरा तर्क था कि निमंत्रण इंद्रप्रस्थ के अमात्य द्वारा आया है, मैं भी अपने अमात्य को भेज दूँगा। किंतु माला के विचार से मुझे स्वयं जाना चाहिए था। विचार हुआ कि इस संबंध में अमात्य परिषद् या महामात्य की भी सलाह ले ली जाए। मैंने तुरंत महामात्य को बुलवाया। वह उस समय प्रासाद में ही थे।

"आप इंद्रप्रस्थ के राजसूय यज्ञ के निमंत्रण से तो अवगत होंगे ही।" महामात्य के आते ही मैंने कहना आरंभ किया, "मैं सोचता हूँ कि पांडवों में से किसीने स्वयं आकर निमंत्रण नहीं दिया है, इसलिए मेरा स्वयं जाना कोई आवश्यक नहीं है। जैसे उन्होंने अमात्य से निमंत्रण भेजा है, मैं भी अपने यहाँ से किसीको भेज दूँ। पर

माला कहती है कि मुझे स्वयं जाना चाहिए। आपकी क्या राय है ?''

महामात्य गंभीरतापूर्वक सोचने के बाद बोला, ''मेरी भी राय यही है कि आपको स्वयं जाना चाहिए।'' उसने तर्क दिया कि ''कोई अमात्य आपकी ओर से जाएगा तो महोत्सव में आपकी उपस्थिति तो मान ली जाएगी, पर साथ ही यह भी मान लिया जाएगा कि आप पांडवों का प्रभाव स्वीकार नहीं करते हैं; क्योंकि यह सामान्य यज्ञ नहीं, राजसूय यज्ञ है।''

मैंने सोचा, यह तो सही है कि मैं प्रभाव स्वीकार नहीं करता; फिर भी महामात्य की बात मन में बैठने लगी थी।

वह पुन: बोला, ''और यह व्यावहारिक रूप से संभव भी नहीं है कि पांडव सब जगह पहुँच सकें, क्योंकि आर्यावर्त के सभी राजाओं-सामंतों के यहाँ यह निमंत्रण भेजा गया है। पांडव कहाँ-कहाँ स्वयं जा सकेंगे!''

मैं शांतभाव से महामात्य की बातें सुनता रहा, कोई भी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। संभवत: वह असमंजस में पड़ा। उसे यह अनुभव हुआ कि शायद मेरी बात महाराज को पसंद नहीं आ रही है। अतएव वह दबे कंठ से बोला, ''इस संदर्भ में आप हस्तिनापुर की नीति भी जानने की कृपा करें।''

बात यही अंतिम रही।

इसके दूसरे या तीसरे दिन ही मैंने हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया। मैं और मेरे महामात्य के केवल दो रथ ही थे। ग्रीष्म की धूसरित राका में हम रात भर चलते रहे। प्रात: एक सरोवर के किनारे स्नान और पूजन के लिए रुके ही थे कि कुछ दूरी पर रथों की घरघराहट के साथ धूल का अंबार उड़ता दिखाई दिया। मैंने समझ लिया कि कुछ लोग आ रहे हैं। मैं रथ पर ही बैठा नवागंतुकों की प्रतीक्षा करने लगा। इसी बीच सरोवर के किनारे महामात्य ने स्नान-ध्यान की व्यवस्था आरंभ की।

शीघ्र ही रथ की ध्वजा दिखाई दी। 'अरे, ये तो कौरवों के ही रथ हैं।' मैंने सोचा। उधर दुर्योधन ने भी मेरे रथ की ध्वजा देखकर अपने रथ की गति मंद कर दी थी।

''मैं तो आपके यहाँ जा ही रहा था।'' दुर्योधन ने कहा।

ठीक यही बात मैंने भी दुहराई।

''लगता है, यह पथ ही एक-दूसरे के यहाँ जाता है।'' दुर्योधन के इस कथन पर लगभग सभी हँस पड़े।

फिर मैं स्नान के लिए सरोवर पर गया। लता-गुल्मों से घिरा यह सरोवर

रमणीक था। ज्यों ही मैं जल में पैर डालनेवाला था कि पूर्व की ओर लताओं से ढकी एक गुफा से बादलों जैसी गड़गड़ाती ध्वनि टकराई, ''जल का स्पर्श मत करना। यह सार्वजनिक सरोवर नहीं है।''

मैं एकदम ठिठक गया। तब तक दुर्योधन तथा अन्य कौरव बंधु रथ से उतरकर चले आए थे। बगल में मेरा अमात्य भी खड़ा था। अब क्या करना चाहिए, मैं सोच ही रहा था कि दुर्योधन का अहं गरजा, ''कौन हैं आप हमें रोकनेवाले? यदि हम चाहें तो अग्निबाणों से सरोवर का सारा जल सुखा सकते हैं।''

अब उस कंदरा से एक तपोनिष्ठ, कृशकाय, रजतकेशी, ऋषितुल्य व्यक्तित्व बाहर आया। वह दुर्योधन को देखकर उन्मुक्त हास कर उठा। कितना गंभीर और भयप्रद था वह अट्टहास! हमारा अंतर काँप गया। उसने दुर्योधन से कहा, ''तू सरोवर ही सुखाने चला है। इतना बड़ा तेरा अहं! मूर्ख, जब तेरे सारे अग्निबाण समाप्त हो जाएँगे तब तेरा अहं सबको भस्म करके स्वयं को ही जलाने लगेगा। तब तू भागा-भागा ऐसे ही जलाशय की शरण लेगा; पर तेरी जलन वहाँ भी शांत न होगी।'' उनकी ध्वनि इतनी प्रभावशाली थी कि मैं घबरा उठा।

''हमपर अनुग्रह कीजिए, महर्षि। अपने शाप-संताप से मुक्त कीजिए।'' मैंने प्रणम्य भाव से निवेदन किया। दुर्योधन पर भी उनका प्रभाव पड़ा। उसने भी विनीत होकर सिर झुका लिया।

''मैं शाप नहीं दे रहा हूँ।'' फिर उनकी गड्ढे में बैठी नीली झील जैसी आँखों से एक शीतल प्रकाश छूटा, ''वरन् इस व्यक्ति का वह भविष्य देख रहा हूँ जो स्वयं जल रहा है, जिसमें इसका अहं जल रहा है, सारा आर्यावर्त जल रहा है, जिसके पश्चात्ताप का धूम इतिहास के पृष्ठों में अनंतकाल तक अपनी कालिमा बनाए रखेगा।'' हम सब विनयावनत हो उन्हें सुनते रहे। अब उनकी दृष्टि मेरी ओर घूमी, ''तुम क्या चाहते हो, वत्स?''

''मैं अपनी आराधना के निमित्त स्नान करना चाहता था, तात!'' मैंने कहा।

''तब तुम मेरी गुफा के निकट से जाती सीढ़ियों से सरोवर में उतर जाओ। किंतु याद रखना, कटि तक जल के आगे न बढ़ना।'' वह सावधान कर चुपचाप उसी कंदरा में चले गए।

मैं आज तक समझ नहीं पाया कि उन्होंने मुझे इतना सावधान क्यों किया था। बाद में पता चला कि महान् क्रोधी अनामक ऋषि का साधना-स्थल यही है। क्रोध में साधना और अग्नि में बैठकर तपस्या करनेवाला व्यक्ति यदि भस्म नहीं होता तो असामान्य अवश्य होता है। उस तपोनिष्ठ का असामान्य व्यक्तित्व आज तक मेरे

मानस पर अंकित है।

हस्तिनापुर पहुँचते-पहुँचते दिन ढल चुका था। वातावरण गुमसुम था। वृक्ष कंपविहीन हो समाधिस्थ लग रहे थे। संतप्त लौह-सा आकाश अरुणिम होकर धूमिल होता जा रहा था। संध्या कुपित हो मौन थी। हो सकता है, वह छैला उठे। गंभीर झंझावात की आशंका थी।

संध्या-कर्म से निवृत्त होकर महाराज के कक्ष में ही उपस्थित होने की योजना थी। मैं तैयारी में था। रंग बदलते आकाश को देखने के लिए मेरी दृष्टि अचानक वातायन की ओर गई। मैंने उद्यान से होकर एक नारी को आते देखा। राजप्रासाद में एक नटी! वह भी इस समय! कुतूहलवश मैं बाहर निकल आया। उसके निकट पहुँचते ही अवाक् रह गया।

''अरे, समीची, तू! वह भी इस समय!''

उसने अधरों पर तर्जनी रखकर चुप रहने का संकेत किया और मेरे निकट आकर धीरे से बोली, ''इंद्रप्रस्थ से आ रही हूँ।''

समीची का मद भरा सौंदर्य एक लघुकथा से लिपटा है। पहले वह राजभवन की परिचारिका थी, पर गान और नृत्यकला में भी निपुण थी। फिर वह प्रासाद के विष्णु मंदिर की देवदासी बना दी गई। कुछ दिनों बाद ही दु:शासन के साथ इसके संबंधों की अनेक अफवाहें उद्यान के लता-द्रुमों में चिपकने लगीं। विवश हो उसे इस कार्य से भी मुक्त होना पड़ा। फिर भी राजपरिवार से इसका संबंध-विच्छेद नहीं हुआ। वेश बदलने की अपनी निपुणता के कारण इसे गुप्तचर विभाग में रख लिया गया।

''क्या ले आई है इंद्रप्रस्थ से?'' मैंने उससे पूछा।

पर वह खुले में कुछ भी कहना नहीं चाहती थी। वह मुसकराती हुई युवराज के कक्ष में आने का संकेत कर आगे बढ़ गई। उससे कुछ ही पीछे मैं भी वहाँ पहुँचा। वह दुर्योधन से कह रही थी, ''अब किसी प्रकार की गुप्तचरी इंद्रप्रस्थ में संभव नहीं है।''

हम कुछ पूछें, इसके पहले ही वह बताने लगी, ''उनका गुप्तचर विभाग हमसे कहीं अधिक सुगठित है। चार बार तो मुझे स्वयं अपनी परीक्षा देनी पड़ी। मैंने कहा, 'मैं नटी हूँ। राजभवन में 'करतब' दिखाना चाहती हूँ।' पहले तो मुझे अनुमति नहीं मिली। मुझे सीधे पट्टमहिषी के समक्ष ले जाया गया।''

''कौन पट्टमहिषी?'' मेरे मुख से निकल पड़ा।

''आप इतना भी नहीं जानते? वह हँस पड़ी, ''अरे, वही पांचाली!''

पर मेरे मस्तिष्क में तो कुंती थी। मन मानने को तैयार नहीं था कि सबकुछ बदल चुका है।

"हाँ, तो आगे क्या हुआ?" दुर्योधन की जिज्ञासा उतावली हो उठी।

"वह अंत:पुर की संतरणी में पैर लटकाए बैठी थी। उसका आधा अंग जल में भीगा था।"

उसकी बात समाप्त होने के पहले ही दुर्योधन बोला, "अंत:पुर में संतरणी!"

"हाँ, युवराज!" उसकी मुद्रा से आश्चर्य टपक रहा था, "ऐसी वास्तुकला की आपने तो कल्पना भी नहीं की होगी। मय ने तो उसे इंद्रपुरी बना दिया है। आप स्वयं देखेंगे तो चकित रह जाएँगे कि प्रासाद के भीतर कितनी संतरणियाँ हैं और संतरणियों जैसा भ्रम उत्पन्न करनेवाली कितनी उपशालाएँ!"

ईर्ष्या का यदि कोई रंग होता तो वह अवश्य ही दुर्योधन की आकृति पर उभर आता। पर वह बड़े सामान्य भाव से बोला, "आगे क्या हुआ?"

"हुआ क्या! उसने मुझे बड़ी कुटिल दृष्टि से देखा और बोली, 'तुम करतब दिखाने आई हो या गुप्तचरी करने?' एक बार तो मैं भयभीत हुई, फिर स्वयं को सँभाला। मेरे सारे तन पर कृत्रिम निर्भयता इठला उठी। इसपर भी उसने मेरे सारे वस्त्र उतरवा लिये। यह तो कहो कि वहाँ सभी परिचारिकाएँ ही थीं।"

"यदि परिचारक होते तो क्या होता?" मैंने परिहास किया।

"वह भी वही देखता जो उन महिलाओं ने देखा।" वह बड़ी निर्लज्जता से बोली।

"आखिर जो मैंने दिया था उसका क्या हुआ?" दुर्योधन की ध्वनि उतावलेपन में तीव्र हुई।

"क्या कर सकती थी, युवराज! यह तो कहिए कि वह महाविष अत्यंत छोटे पात्र में था। निर्वसन होने पर भी मैं नारी थी, छिपाने में समर्थ हो गई।" निर्वस्त्र नारी अपने तन का उद्घाटन करती है, पर निर्लज्ज अपने मन का। उसने मुसकराते हुए अश्लील संकेत किए।

मुझे स्वयं लज्जा आ गई।

"तो क्या किया तुमने उसका?" दुर्योधन ने पूछा।

"ले आई हूँ।" इतना कहकर उसने कटि से निकालकर दिखा दिया।

अब दुर्योधन का क्रोध आँखों में उतर आया। वह तड़पा, "यदि तू इसका अभीष्ट प्रयोग न कर पाई तो क्यों नहीं इसे किसी संतरणी में घोल दिया! कम-से-कम दो-चार मर तो जाते! यह राजसूय यज्ञ तो टलता!" वह लगभग आपे से

बाहर था, ''ले जा, तू ही इसे खाकर मर! निकल जा मेरी आँखों के सामने से!''

वह छुईमुई सी संकुचित होती चली गई।

''जो भी योजना बनाओ, वह बेकार चली जाती है।'' दुर्योधन का क्रोध पश्चात्ताप के तल पर आया।

''तब तुम क्यों षड्यंत्र में विश्वास करते हो? वीरों की भाँति बाहुबल पर विश्वास करो।'' मैंने उसे समझाया, ''यदि हम आरंभ से ही कुचक्रों का दूषित मार्ग छोड़कर पराक्रम का पथ पकड़ते तो बहुत संभव था, यह राजसूय यज्ञ इंद्रप्रस्थ में न होकर हस्तिनापुर में होता।''

यों तो हम महाराज के कक्ष की ओर जा रहे थे, पर मेरे मन में यह प्रश्न बार-बार उठ रहा था कि कौरवों ने अपनी शक्ति और प्रतिभा का कुचक्रों के निर्माण में इतना दुरुपयोग क्यों किया? महत्त्वाकांक्षा की निष्ठुरता पराक्रम का अंचल क्यों नहीं पकड़ती?

दुर्योधन समीची की असफलता पर दुःखी था; किंतु इसकी जानकारी मेरे अतिरिक्त और किसीको नहीं थी। वह अत्यंत गंभीर था। इस वार्त्तालाप में तो वह एक शब्द भी नहीं बोला। बातें आरंभ कीं मामा ने, ''तो इस यज्ञ में हमारी भूमिका क्या होनी चाहिए?''

''हमें उनका सहयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते हैं?'' धृतराष्ट्र की वाणी में एक निस्सहाय की असमर्थता थी। उन्होंने भी लगभग मेरी ही बात दोहराई, ''हम कुचक्रों का जाल बुनते रहे और नियति उस जाल को छिन्न-भिन्न करती रही। दूसरी ओर वे अपनी शक्ति बढ़ाते गए। जरासंध को मारा, भगदत्त का अहं चूर किया। किंपुरुष, हाटक तथा उत्तर कुरु पर अर्जुन ने विजय पाई। पूर्व दिशा पर भीम ने अपनी पताका फहराई। दक्षिण में सहदेव और पश्चिम में नकुल को विजयश्री ने वरण किया। अब क्या रह गया उन्हें पराजित करने के लिए!'' एक साँस में वह इतना कह गए जैसे पहले से ही उनके हृदय में यह मंथन चल रहा था। मौन होकर वे सोचते रहे।

एक घुटन भरी स्तब्धता हमें चुभती रही। इसी बीच सुवर्चा और महामात्य भी आ पहुँचे। ''क्षमा कीजिएगा। पूर्व सूचना के बिना ही आ गया।'' इतना कहते हुए महामात्य ने हम सबको बड़े ध्यान से देखा। उसे लगा कि कोई गुप्त मंत्रणा हो रही है।

''महामात्य के लिए पूर्व सूचना की औपचारिकता क्या!'' महाराज बोले।

''केवल दो सूचनाएँ देने आया हूँ, महाराज!'' विदुर ने कहा, ''पहली तो

यह कि इंद्रप्रस्थ से समाचार आया है कि कल पूर्वाह्न धर्मराज आ रहे हैं और दूसरी यह कि अनेक राजाओं ने आपको बधाई भेजी है।''

''बधाई किस बात की?''

''अरे, आपके परिवार में राजसूय यज्ञ हो रहा है। यह कम महत्त्व की बात नहीं है। कुछ लोगों ने तो इसे महान् ऐतिहासिक उपलब्धि की संज्ञा दी है।'' उनकी मुखाकृति से स्पष्ट लग रहा था कि महामात्य परम गद्गद हैं। उसके बाद वे अभिवादन कर चले गए। सुवर्चा बैठे रहे।

''लगता है, कल विधिवत् निमंत्रण देने के लिए युधिष्ठिर आ रहे हैं।'' महाराज ने कहा।

''हाँ, कृष्ण ने पांडवों को सलाह दी है कि जहाँ तक संभव हो, तुम लोग अधिक-से-अधिक लोगों से मिलकर उनसे व्यक्तिगत आग्रह करो।'' प्रधान सेनापति ने कहा।

''यह आपको कैसे मालूम?'' महाराज ने पूछा।

''गुप्तचर विभाग की सूचना है। इस यज्ञ की मंत्रणा परिषद् में कृष्ण ने व्यक्तिगत आग्रह की भी बात कही थी और यह भी कहा था कि इससे तुम्हारा व्यक्तिगत संपर्क तो बढ़ेगा ही, साथ ही तुम्हारा विनय वह सबकुछ प्राप्त करेगा जिसे तुम्हारी असि नहीं कर सकती।'' सेनापति ने बताया।

दुर्योधन मेरे कान में बड़बड़ाया, ''अरे, आज समीची असफल हो गई, नहीं तो विनय धरा रह जाता।''

मैंने अनुभव किया कि ईर्ष्या की अग्नि पर कभी राख नहीं जमती।

''चलिए, कृष्ण ने उन्हें स्थापित कर दिया।'' फिर महाराज ने एक गहरी साँस भरी और बोले, ''युधिष्ठिर का सम्मानपूर्वक आप स्वागत कीजिए और यज्ञ में चलने की तैयारी कीजिए।''

वार्त्ता का उपसंहार हुआ।

तब तक संभावित चक्रवात भी आ गया। वायु प्रबल वेग से बहने लगी। वृक्षों को झकझोरता प्रभंजन भयानक रूप से चीखने लगा। खुले वातायन और द्वार घायल पक्षियों की भाँति अपने पट फड़फड़ाने लगे। एक ही झोंके में मंत्रणाकक्ष के सभी दीप बुझ गए।

''लीजिए, प्रकाश चला गया। हम सब तूफान की चपेट में आ गए।'' कई लोग एक साथ ही कुछ ऐसी बात कह उठे।

''प्रकाश के जाने की मुझे कोई चिंता नहीं, क्योंकि वह कभी मेरे जीवन में

आया ही नहीं। मैं मात्र तूफान का अनुभव कर रहा हूँ।'' धृतराष्ट्र बोले।

तड़पती वायु हमारी वाचालता भी उड़ा ले गई थी। हम लोग शांत बैठे थे। महाराज अचानक बोल पड़े, ''सुवर्चाजी, हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ के संबंध में आपके ग्रह-नक्षत्र क्या कह रहे हैं?''

''ग्रह-नक्षत्र से कहीं अधिक इस समय की प्रकृति कह रही है, महाराज!'' सुवर्चा की गंभीर हँसी को वायु उड़ा न सकी। वह बहुत देर तक गूँजती रही।

रात उसी तूफान में डूब गई।

दूसरे दिन पांडव अपने महामात्य के साथ पधारे। बड़ी आत्मीयता एवं शालीनता थी उनके व्यवहार में। उन्होंने धृतराष्ट्र, विदुर, पितामह और गांधारी के चरणस्पर्श किए, समवयस्क कौरवों को गले से लगाया। वय में छोटे भाइयों को सिर सूँघकर आशीर्वाद दिया।

जब उन्होंने मुझे देखा तो उनकी बाँछें खिल गईं। धर्मराज बोले, ''बड़ा अच्छा हुआ कि आपसे यहीं भेंट हो गई। आप भी अवश्य कष्ट कीजिए।'' तब तक भीम ने मुझे छाती से लगा लिया और जोर से दबाया। ''मित्र, तुम्हारा यह कवच बड़ा गड़ता है। यह तुम्हारी निकटता में बाधक है।'' उसने हँसते हुए कहा।

''तो क्या करूँ? इसे निकालकर फेंक दूँ?'' मैंने भी हँसते हुए पूछा।

''निकटता में कवच नहीं, हृदय बाधक होता है।'' धर्मराज बोले और हँसने लगे।

इसी प्रकार हम मिट्टी में खेलते बच्चों की भाँति एक-दूसरे पर हँसी की धूल उड़ाते रहे।

□

ब्राह्म मुहूर्त में ही चलना था; किंतु मेरे लिए यह संभव नहीं था। सूर्योदय के बाद ही मेरी पूजा समाप्त होती थी, अतएव मैंने सबसे कहा कि आप लोग चल दीजिए, मैं बाद में आऊँगा। मेरे लिए केवल ज्योतिषाचार्य को छोड़ दीजिएगा।

''क्यों? क्या तुम मुहूर्त देखकर चलोगे?'' जानते हुए भी दुर्योधन ने व्यंग्य किया।

मैं मुसकराकर रह गया। यदि कुछ कहता तो शायद सुवर्चा न रुकते। मैंने ऐसा निर्लोभी ब्राह्मण नहीं देखा था।

आकाश अब भी अंधकार में डूबा था। ध्रुव ज्योति मंद पड़ने लगी थी। सभी के रथ इंद्रप्रस्थ की ओर बढ़ चुके थे। मैं सुवर्चा को लेकर महामात्य के साथ गंगातट की ओर बढ़ा।

"मुझे क्यों रोक रखा, अंगराज?" सुवर्चा ने पूछा।

"बस, पूजन के बाद ही आपको ज्ञात हो जाएगा।" मुसकराते हुए मैंने रहस्य बनाए रखा।

मेरे स्नान-ध्यान के साथ ही सुवर्चा ने भी अपने नित्य कर्म संपन्न किए। सूर्यदर्शन के बाद जब मैंने सुवर्चा के चरण छुए तो उसने झट से मुझे उठाकर वक्ष से लगा लिया।

"इस युग में भी क्या ऐसे राजा हैं जो ब्राह्मण का चरण छूते हों?" सुवर्चा गद्‌गद कंठ से बोला। लगा जैसे उसे इसकी कल्पना तक नहीं थी।

मैंने महामात्य से मंजूषा लाने के लिए संकेत किया और सुवर्चा को दक्षिण मुष्टिका भर स्वर्णमुद्रा देने लगा।

"यह क्या?" वह चकित हो बोला।

"बिना ब्राह्मण को दान दिए मैं अपना दिन आरंभ नहीं करता।"

"और मैं बिना किसीसे कुछ लिये ही अपना दिन आरंभ करता हूँ।" वे हँसते हुए बोले, "ब्राह्मण वह है जो कम-से-कम लेने की आकांक्षा करे।"

"और राजा वह है जो ब्राह्मण को अधिक-से-अधिक देने की इच्छा करे।" मैंने तत्क्षण कहा और निवेदन किया कि "इसे ग्रहण कर उपकृत कीजिए। समय से पूर्व होने के कारण आज कोई और ब्राह्मण उपस्थित नहीं है। इसकी आशंका कल से ही मुझे थी, इसीलिए आपको रोक रखा है।"

"यदि मैं इसे न ग्रहण करूँ तो?" सुवर्चा हँसते हुए बोले।

"तो मैं यहीं खड़ा रहूँगा, जब तक कोई ब्राह्मण नहीं आ जाता।" मैंने कहा।

"तुम्हारे खड़े रहने से दिन तो नहीं खड़ा रहेगा।" इतना कहते हुए उसने बड़े संकोच से अपनी अंजलि फैला दी।

अब इंद्रप्रस्थ का मेरा मार्ग प्रशस्त हुआ। मेरा रथ जब नाव पर चढ़ाकर पार उतारा जाने लगा तब सुवर्चा ने कहा, "अब युग बदल गया, अंगराज। वे मान्यताएँ और मूल्य इतिहास में सो गए, जिन्हें आप छाती से चिपकाए बैठे हैं। अब का ब्राह्मण आर्थिक आकांक्षा से मुक्त होकर एकाकी जीवन जीने से कहीं अच्छा क्रीत दास होना पसंद करता है। जहाँ का बुद्धिजीवी स्वर्णखंडों पर खरीदा जाता रहेगा। वहाँ का शासन निरंकुश हो जाए तो आश्चर्य क्या!" चेतना का विचित्र स्पंदन आज सुवर्चा में दिखाई दिया। मेरे सामने वह इतना कभी नहीं खुला था। उसने एक ऐसा फलक दिखाया, जिसके एक ओर कृप एवं द्रोण की बिकी हुई आकृतियाँ थीं और दूसरी ओर था हस्तिनापुर का निरंकुश शासन। फलक के इन दोनों पक्षों में मैं

अपनी आकृति खोजता रहा, पर देख न पाया।

वह आवेग में ही था। उसकी आँखों में अनुभव की तिक्तता जरा भी कम नहीं हुई और वह यहाँ तक कह गया, ''जिस दिन मैं यहाँ चाकर समझा जाने लगूँगा उसी दिन हस्तिनापुर को अंतिम प्रणाम कर चला जाऊँगा।''

''अंतिम प्रणाम करके नहीं वरन् 'अंतिम आशीर्वाद देकर' कहिए, आचार्य!''

वे हँस पड़े। बातों का क्रम टूटा। रथ की घरघराहट अब कानों से टकराने लगी। हम इंद्रप्रस्थ की ओर बढ़े चले जा रहे थे।

अब मैंने ज्योतिष के संबंध में बातें छेड़ीं, ''ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव जीवन पर पड़ता है?''

''यदि नहीं पड़ता तो तुम्हारा शिशु रूप गंगा की उन्मत्त धारा से कैसे बचा लिया जाता? तुम क्षण भर में सारथि-पुत्र से अंगराज कैसे हो जाते?'' इसी प्रकार के मेरे जीवन संबंधी उन्होंने अनेक प्रश्न एक साथ कर डाले। मैं नियति की इयत्ता में जीता दिखाई दिया।

मैंने अपने पुत्र के संबंध में पूछा, ''मेरे ज्योतिषाचार्य ने उसका नाम वृषसेन रखा है; किंतु उसके संबंध में कुछ बताया नहीं।''

''देखिए, यह कितनी बड़ी विडंबना है कि वह आपके असंतुष्ट होने के भय से कुछ बता नहीं पाया।...न जान पाना अज्ञता है। जानकर भी न कह पाना विवशता या दासता है और सत्य की अनुभूति करना और उसे निस्संकोच कहना एक ऐसा साहस है जिसे आज का ब्राह्मण छोड़ चुका है।'' वे कुछ क्षणों तक गंभीरतापूर्वक सोचते रहे, फिर बोले, ''आपने एक बार पहले भी मुझसे इस संबंध में पूछा था। तो सुनिए, आपका पुत्र प्रतापी तो है ही, किंतु उसका राजयोग भ्रष्ट हो गया है। वह नीच मंगल के नक्षत्र में आ गया है। इसका तात्पर्य है कि वह युद्ध में मारा जाएगा।''

''तब पितृयज्ञ कौन करेगा, आचार्य?'' मेरा व्यामोह तड़प उठा।

''यह तो ज्योतिष नहीं बता सकता।'' उनकी हँसी के साथ ही बात भी उड़ गई।

इंद्रप्रस्थ अद्भुत धवलता लपेटे था। हर भवन श्वेत था, दुग्ध-धवल हंसों जैसा। आगंतुकों की चहल-पहल, रथों की घरघराहट तथा अश्वों की हिनहिनाहट की मिली-जुली ध्वनियाँ उद्वेलित थीं, मानो बहुत सारी नदियाँ एक साथ महासागर में मिल रही हों। मुझमें भी ऐसा लगा जैसे मैं इस समुद्र में खो जाऊँगा।

तब तक श्रीकृष्ण दिखाई पड़े; वरन् उन्होंने मुझे देख लिया। वे मेरी ओर

पैदल बढ़ आए। मैंने रथ से उतरते हुए कहा, ''विलंब के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।''

''नहीं-नहीं। आप तो सही समय और सही स्थान पर आए हैं।'' 'सही स्थान' कहते-कहते उनके नेत्रों की मीन मुसकराहट में डूबते हुए कई बल खाए। फिर उन्होंने ज्योतिषाचार्य को प्रणाम किया और मुझसे बोले, ''कवच और कुंडल के साथ तो थे ही, अब आप ज्योतिषाचार्य के साथ भी रहने लगे।''

हँसी की लहर में बह जाने के अतिरिक्त मेरे लिए कोई चारा भी नहीं था।

मुझे एक बहुत अच्छे आवासगृह में ठहराया गया। व्यवस्था उच्च कोटि की थी। संजय को राजाओं की देखभाल का काम सौंपा गया था। वह मेरा भी कुशल-क्षेम पूछने आया। मुझे हँसी आ गई। हस्तिनापुर में तो सीधे मुँह बात नहीं करता था, यहाँ बड़ी आवभगत कर रहा है।

उसीसे पता चला कि भोजन का दायित्व दुःशासन को सौंपा गया है। अश्वत्थामा ब्राह्मणों की सेवा-शुश्रूषा में लगा है। धृतराष्ट्र, सोमदत्त, बाह्लीक और जयद्रथ इंद्रप्रस्थ में भी घर के स्वामी की ही भाँति हैं। कृपाचार्य को सोने, चाँदी और रत्नों की देखभाल का कार्य सौंपा गया है। राजकर्मचारियों का निरीक्षण पितामह और द्रोण कर रहे हैं। कहीं पर जरा भी शिथिलता नहीं है।

अनुष्ठान की पूर्व संध्या थी। मैं दुर्योधन तथा अन्य कौरव बंधुओं से मिला। वहीं धृतराष्ट्र भी मिल गए। चरणस्पर्श करते ही उन्होंने पहचान लिया। मैंने व्यवस्था की प्रशंसा की और पूछा, ''लगता है, सारी व्यवस्था आप ही लोगों के हाथ में है। आखिर पांडव क्या कर रहे हैं?''

धृतराष्ट्र के मुख पर एक रहस्यमय हँसी उभरी, ''यह सब उसी मुरलीवाले की माया है।'' फिर उनकी अंधी आँखें मात्र आहट से मामा की ओर मुड़ीं, ''क्यों शकुनि, तुम समझते थे कि राजनीति की सारी कलाएँ तुम्हारे ही पास हैं! अब तुम्हें अच्छी तरह पता चल जाएगा कि राजनीति वस्तुतः है क्या!''

''पर मुझे तो कोई विशेष बात दिखाई नहीं देती।'' मामा ने कहा।

''तुम भी अपनी आँखें फोड़ लो और मेरी तरह हो जाओ तो दिखाई देने लगेगी।'' वह हँस पड़े। मैं निकाल नहीं पाया कि महाराज के कथन में व्यंग्य और यथार्थ का प्रतिशत क्या है। वे बोलते रहे, ''क्योंकि राजनीति इन आँखों से नहीं, भीतर की आँखों से देखी जाती है।'' अचानक उनका स्वर गंभीर हो गया, ''सौंप तो दी गई है दुःशासन को भोजन-व्यवस्था। अब देखूँ, दुर्योधन की समीची क्या करती है! कुछ भी होगा तो सारा अपयश तुम्हीं लोगों के माथे आएगा।''

मैंने तो समझा था कि समीची के विष प्रसार की योजना महाराज को नहीं

मालूम है, पर वह सब जानते थे। मैंने दुर्योधन की ओर देखा। वह बुझ रहा था या भीतर-ही-भीतर जल रहा था। जलन की चरम परिणति भी तो बुझना ही है।

वे कहते रहे, "और संपूर्ण व्यय-भार अपने महामात्य को नहीं वरन् मेरे महामात्य को दे दिया है, जहाँ कोई कुछ कह भी नहीं सकता और आप लोगों की दाल भी नहीं गल सकती।" फिर लगता है, हम लोगों को सुनने के लिए वह कुछ समय के लिए रुके।

प्रतिक्रियाशून्य उस मौन को स्वयं उन्होंने ही भंग किया और बोले, "उपहार-संग्रह कृपाचार्य कर रहे हैं और इन सबके ऊपर हैं पितामह और द्रोण। कहिए, कुछ दिखाई पड़ा आपको ?" उनकी प्रश्नवाचक दृष्टि मामा की ओर घूमी।

वह झुँझलाकर बोला, "मैं तो यह देखना चाहता हूँ कि कृष्ण क्या करते हैं !"

"जो करेंगे वह भी सुन लो। वह मात्र ब्राह्मणों का पग पखारेंगे। कितने सूझबूझ का वह व्यक्ति है ! जरासंध को मरवाकर उसने क्षत्रियों को वश में किया और अब सम्मानपूर्वक ब्राह्मणों को अपने प्रभाव में कर लेगा। फिर क्या रह जाता है आर्यावर्त में उसके लिए!"

"क्षत्रिय शक्ति से और ब्राह्मण श्रद्धा से जीता जा सकता है।" अचानक सुवर्चा बोल पड़े।

"क्या यह माना जाय कि यह राजसूय यज्ञ युधिष्ठिर के नाम पर कृष्ण कर रहे हैं ?" अब तक चुप दुर्योधन ने कहा।

"क्या इसमें भी कोई संदेह है ?" धृतराष्ट्र के अधरों पर एक फीकी मुसकराहट अब भी जीवित थी।

तब तक कुछ परिचारक मैरेय का पात्र और चषक लेकर आ गए थे। बातें जहाँ थीं वहीं गाड़ दी गईं।

गंभीर होती रात मैरेय में डूबकर रंगीन होने लगी।

□

प्रभात उत्साह से थिरक रहा था। इंद्रप्रस्थ जन-सन्निवेश का महाकेंद्र हो गया था। शूद्र तक निमंत्रित थे। अपनी परंपरागत वेशभूषा में लोग एकत्र होते जा रहे थे और सामर्थ्य के अनुसार उपहार दे रहे थे। पहले राजाओं का क्रम चला। किसीने भी एक सहस्र स्वर्णमुद्रा से कम नहीं दिया। लगता था कि हर नरेश की यही आकांक्षा थी कि संपूर्ण यज्ञ मेरे ही उपहार से संपन्न हो जाए। मैंने भी महामात्य से सहस्र मुद्रा लाने को कहा।

वह घबराया हुआ लौटकर आया और कान में धीरे से बोला, "महाराज! दो दिनों के उषादान में मंजूषा आधी रिक्त हो गई है।"

अब क्या करूँ? सोचने लगा। कम देना मेरी प्रतिष्ठा के विरुद्ध था। हर स्थान पर हाथ खोलकर देनेवाला कर्ण यहाँ हाथ दबा बैठे, यह नहीं हो सकता। अब मेरी दृष्टि दुर्योधन को खोजने लगी। वह यज्ञस्थल के निकट बैठ चुका था। वहाँ तक पहुँच पाना भी सरल नहीं था। मैं एक व्यग्र लहर-सा जन-जलाशय को चीरता बढ़ा। अचानक लोगों की दृष्टि मेरी ओर खिंची, तब मैंने दुर्योधन को संकेत से बुलाया। ज्यों ही वह मेरे पास आया, मैंने उससे सहस्र मुद्रा की व्यवस्था करने के लिए कहा।

"अरे मित्र, बड़े कुसमय में तुमने कहा। विदुरजी तो पांडवों के लिए धन एकत्र करने में लगे हैं।"

"तब जाने दो, मैं अपने कुंडल नोचकर दे देता हूँ।"

'नहीं, ऐसा मत करना।' जैसे किसीने मेरे कान में कहा। मैं रुक गया। समझ नहीं पाया कि यह आवाज किसकी थी। ऊपर देखा तो सूर्य अपनी पूरी तेजस्विता से चमक रहा था।

इसी बीच दुर्योधन अपने पिता से मिलकर वांछित मुद्रा ले आया। यह कार्य भी उसकी उस सच्ची मित्रता का प्रतीक था जो हर स्थिति में मेरे साथ रहने का संकल्प कर चुकी थी। बरबस मेरी आँखें कृष्ण की ओर घूमीं। वे ब्राह्मणों का पद पखारते हुए भी बड़ी सतर्कता से हम लोगों पर दृष्टि रखे हुए थे।

मैंने मुद्राकोष को मंजूषा में ही उड़ेल दिया और वह रत्नजटित मंजूषा कृपाचार्य को समर्पित की। उसे देखते ही वे अवाक् रह गए। बोले, "अरे, इतनी स्वर्ण-मुद्राएँ! ...और यह रत्नजटित मंजूषा भी!"

मेरा अहं दिनकर-सा तपता हुआ बोला, "किसी और का नहीं, यह कर्ण का दान है।" ऐं, यह क्या कह गया मैं? मेरा विवेक सँभला, "यह कर्ण का दान नहीं, मात्र तुच्छ उपहार है।"

कृपाचार्य मेरी परिवर्तित मुखाकृति देखते रह गए। दुर्योधन हँस पड़ा। वह मेरी बाँह पकड़कर यज्ञस्थल पर ले आया और मुझे अपनी बगल में बैठाया।

मेरे बैठते ही अंत:पुर में कुछ कुड़बुड़ाहट होने लगी; पर इससे मुझे क्या लेना-देना। मैं शांत बैठा रहा। थोड़ी देर बाद एक परिचारक ने आकर पुरोधा महर्षि धौम्य से कहा, "पट्टमहिषी आपको स्मरण कर रही हैं।"

दुर्योधन ने मेरे कान में कहा, "लगता है, वह आफत की पुतली धधक रही

है।'' उसका स्पष्ट संकेत पांचाली की ओर था। किंतु मैं अब भी शांत बैठा था।

धौम्य भीतर से निकलते हुए बोले, ''यज्ञकुंड के निकट वे ही लोग बैठें जिन्हें कुल और गोत्र का ज्ञान हो।''

इतना सुनना था कि मुझे ऐसा लगा जैसे मैं शिखर से गिरकर चूर-चूर हो गया। छिपकली की कटी पूँछ की भाँति मेरे तन का प्रत्येक कण छटपटाने लगा। मैंने बड़ी कठिनाई से अपने बिखराव को बटोरा और वहाँ से एकदम उठ खड़ा हुआ। मेरे साथ मेरा मित्र दुर्योधन भी चल पड़ा।

''कहाँ चले, कर्ण?'' कृष्ण की नाटकीय ध्वनि ने मुझे रोकने की चेष्टा की।

मेरे उबलते रक्त का तूफान स्वर में फूटा, ''मेरे गोत्र का पता नहीं, मेरे कुल का पता नहीं। मैं मात्र राधेय जो ठहरा!'' क्रोध में झुँझलाकर मैंने अपनी वास्तविकता स्वयं से नोचकर सभा पर फेंक दी।

कृष्ण की आवाज अब भी सुनाई पड़ी, ''मेरे लिए राधेय और कौंतेय में कोई अंतर नहीं है।''

किंतु मैं प्रत्यंचा से छूट चुका था।

''देखा, यह कृष्ण अब तुम्हें भी 'कौंतेय' कहकर मिलाना चाहता है। सोचता है, संसार की आधी बुद्धि इसके पास है और आधे में संसार है।'' दुर्योधन ने मुझसे कहा। निश्चित है कि आसपास के लोगों ने भी सुना होगा।

अब यज्ञकुंड से बहुत दूर मैं यज्ञमंडप के उस छोर पर पहुँच गया था, जहाँ कृपाचार्य उपहार ग्रहण कर रहे थे। वहीं द्रोणाचार्य भी खड़े थे; पर मेरी दृष्टि उनकी ओर बिलकुल नहीं थी। अहं के टूटे दर्पण में मैं अनेक बनते-बिगड़ते बिंब देख रहा था।

तभी कृपाचार्य की आवाज सुनाई पड़ी, ''भीलराज ने आने का कष्ट किया, यही हमारा सौभाग्य है; पर आप अपना उपहार अपने ही पास रखिए।''

''हम लोग भीलों से कुछ भी लेना पसंद नहीं करते।'' यह आवाज आचार्य द्रोण की थी।

''आप कुछ भी लेना पसंद नहीं करते!'' इतना कहकर उसने हँसते हुए अपना कटा अँगूठा दिखाया। कितना तीखापन था उसकी खिलखिलाहट में, मानो वह पूछ रहा हो कि अँगूठा लेते समय आपके ये विचार कहाँ थे। इस समय तो मात्र धनुष-बाण दे रहा हूँ।

''अरे भाई, यह एकलव्य यहाँ भी आ गया।'' दुर्योधन ने मुझसे मुसकराते हुए कहा, ''अद्‌भुत है! जैसे यह आचार्य का पीछा छोड़ना ही नहीं चाहता।''

"मनुष्य हर वस्तु से छुटकारा पा सकता है, मित्र, किंतु अपने पाप से नहीं।"

अब तक मैं मंडप के बाहर जा चुका था। एक क्षण के लिए भी वहाँ रुकना मैं नहीं चाहता था। मानो उस जनसमूह का हर व्यक्ति मुझसे कह रहा हो—इसके गोत्र का पता नहीं है, इसकी माँ का पता नहीं है, इसके पिता का पता नहीं है, इसके···

मैं अपने कक्ष में आकर शय्या पर ढुलक गया। पश्चिम की ओर झुके सूर्य की किरणें वातायन से आकर मेरा सिर सहलाने लगीं। मुझे झपकी आ गई। कब तक सोता रहा, पता नहीं; किंतु तंद्रिल अवस्था में ही मुझे लगा जैसे कुछ लोग एक साथ चीत्कार कर रहे हों। मैं हड़बड़ाकर उठा। सचमुच चारों ओर अपूर्व कोलाहल था। चीखें, दहाड़ें और रौद्र हुंकारें। इस आंदोलित स्वर-संगम में मेरी व्यग्रता तैरने लगी; पर कोई किनारा न पा सकी।

कुछ क्षणों बाद एकदम शांति हो गई; जैसे तूफान के बाद समुद्र थम गया हो, भूकंप के बाद सन्नाटा रेंगने लगा हो। तभी मेरा महामात्य दौड़ा-दौड़ा हाँफता हुआ आया।

"महाराज, महाराज! शिशुपाल का वध हो गया!" वह घबराया हुआ बोला।

मैं सन्न हो उसका मुख देखता रहा।

वह बताता गया, "समस्या उत्पन्न हुई कि अग्रपूजा किसकी की जाय। युधिष्ठिर ने इसका निर्णय पितामह पर छोड़ दिया। पितामह ने व्यवस्था दी कि अग्रपूजा के योग्य श्रीकृष्ण ही हैं। उनकी पूजा आरंभ हुई। शिशुपाल ने विरोध किया। उस विरोध में और कुछ लोगों ने स्वर मिलाया। पितामह ने समझाया, युधिष्ठिर ने समझाया; पर उनका विरोध उग्र होता गया। शिशुपाल ने कृष्ण को स्वयं युद्ध के लिए ललकारा।"

"उस परमवीर को आखिर मारा किसने?" मेरी व्यग्रता उतावली हो उठी।

"अग्रपूजा पर बैठे कृष्ण ने चक्र घुमाकर फेंका। देखते-देखते उसका सिर धड़ से अलग हो गया। अद्‌भुत दृश्य था। एक ओर अग्रपूजा चल रही थी और दूसरी ओर रक्त उगलता शिशुपाल का धड़ पड़ा था।" उसके नेत्रों में भय की लालिमा उभर आई।

मैं दोनों हाथों से सिर पकड़कर बैठ गया। मेरे मानस पर अपरिमित क्रूरता छिपाए कृष्ण की मुसकराहट उभर रही थी और मैं उसमें राजनीति और नीति का गुणनफल खोज रहा था।

थोड़ी देर बाद दुर्योधन अपने भाइयों और मामा के साथ आया। "कुछ सुना

तुमने ?'' वह आते ही बोल पड़ा।

''हाँ, सुना। इतना बड़ा कांड हो गया और सभी मौन बैठे रहे। शिशुपाल के साथ जिन राजाओं ने कृष्ण का विरोध किया था, आखिर वे क्या करते रह गए ?'' मैंने पूछा।

''उसके मरते ही भीगी बिल्ली बन गए।'' दुर्योधन बोला, ''और हम लोगों की स्थिति स्वयं बड़ी विचित्र थी। पांडवों ने हमें अपने घर का बनाकर कर्तव्य और अनुशासन की कृत्रिम जंजीरों में जकड़ दिया था। हम कुछ करने योग्य ही नहीं रह गए थे।''

इसी बीच अश्वत्थामा भी आ गया। उसकी आकृति से दावाग्नि फूट रही थी।

''अरे, तुम भी यहाँ आ गए! अब ब्राह्मणों का सत्कार कौन करेगा ?''

''वह तो अग्रपूजा करा रहा है।'' मामा बोला।

''इन बूढ़ों की तो मति मारी गई है। जब युधिष्ठिर ने अग्रपूजा के लिए अंतिम निर्णय लेने का अधिकार पितामह को दे दिया था तब क्या आवश्यकता थी कृष्ण का नाम लेने की ?'' दुर्योधन बोला।

''यही तो मेरे पिताजी ने शिशुपाल के विरोध के समय धीरे से पितामह से पूछा था।'' अश्वत्थ ने बताया, ''तब उन्होंने कहा कि यदि मैं किसी और का नाम लेता तो युधिष्ठिर कभी उसे स्वीकार न करता।''

''इसका तात्पर्य है कि बूढ़ा वही करने को बाध्य था जिसे युधिष्ठिर स्वीकार करे।'' दुर्योधन की वाणी तिरस्कार से भर उठी, ''वयोवृद्ध होकर भी वह मुँहदेखी करता है।''

''इस बूढ़े से तो मुझे भी घृणा हो गई है।'' अश्वत्थ ने कहा, ''कैसा विचित्र व्यक्ति है यह पितामह, जैसा अवसर देखता है वैसा बोल देता है!''

अवसर पर तो कोई कुछ कह नहीं पाया, पर मेरे यहाँ आकर सभी गुबार निकाल रहे थे। लगभग घड़ी भर तक इसी प्रकार बड़बड़ाते रहे।

जब उफान कुछ थमा तो मैंने कहा, ''यहाँ बैठे रहने से क्या लाभ है ? आप लोग जाइए और परिस्थिति का अध्ययन कीजिए।''

''क्या तुम नहीं चलोगे ?'' दुर्योधन ने पूछा।

''जिन आँखों ने शिशुपाल को जीवित देखा है वे आँखें अब उसका शव नहीं देख सकतीं।'' मैंने कहा।

''अब तक उसका शव हटा दिया गया होगा।'' अश्वत्थ बोला।

"वह नहीं हटाया गया होगा। विश्वास करो, आतंक बनाए रखने के लिए उसे ज्यों-का-त्यों पड़ा रहने दिया गया होगा।" मैं आवेश में बोलता रहा, "तुम जानते नहीं, अश्वत्थ, महत्त्वाकांक्षा की मदिरा किस पाशवता के चषक में रहती है।"

कुछ देर के बाद ही सब चले गए। मैं पड़ा ही रहा।

यज्ञ आरंभ हो गया था। मंत्रों के समवेत स्वर के साथ साकल्य धूम गगन में बढ़ चला था, मानो शिशुपाल की छटपटाती आत्मा चीखती चली जा रही हो। मेरा मन इस परिस्थिति से बुरी तरह ग्रस्त था। मुझे एक ओर पांडवों के अभियान का शिखर कंजूस की धन की भाँति निरंतर बढ़ता और दूसरी ओर खूसट बूढ़ों द्वारा हस्तिनापुर की प्रतिष्ठा पदाक्रांत होती दिखाई दी। मेरा मस्तिष्क चकराता रहा। सूर्य डूबने लगा। शिशुपाल का रक्त सारे आकाश पर फैल गया।

दीप की पहली लौ के साथ-ही-साथ मैंने मैरेय का एक चषक कंठ के नीचे उतारा।

महामात्य ने सूचना दी, "समीची आई है।"

"कह दो कि चली जाए इस समय।" मेरी उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी, क्योंकि निर्लज्ज नारी और पका हुआ व्रण दुर्गंध ही फेंकता है।

किंतु महामात्य ने बताया कि वह कुछ आवश्यक सूचना देना चाहती है। तब मैंने उसे बुलाया। आते ही उसने अपनी प्रकृति के अनुसार अश्लील भंगिमाएँ बनाईं।

मैंने उसे डाँटते हुए कहा, "जो कहना चाहती हो, कहो और चली जाओ।"

अब वह कुछ सहमी और बड़े सादे ढंग से बोली, "आपने बड़ा अच्छा किया जो यज्ञमंडप से हट आए—और मेरी सलाह तो यह है कि आप राजप्रासाद में कभी जाने की चेष्टा मत कीजिएगा।"

"क्यों?"

"पट्टमहिषी आपसे अप्रसन्न हैं। जब आप यज्ञकुंड के निकट बैठे तो उन्होंने ही आपको वहाँ से हटाया था।"

"यदि मैं पुरोधा धौम्य के कहने पर न हटता तो क्या होता?" मैंने पूछा।

"पांचाली अर्जुन से कह रही थी कि 'यदि वह न हटे तो उसे बलात् उठाकर फेंक दो।' किंतु राजमाता ने उसे समझाया, 'बेटी, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।' तब वह बोली, 'आपको नहीं मालूम है, माँ, कि इसने मेरे स्वयंवर में कैसी गड़बड़ी की थी। यह बड़ा ही दुर्विनीत और हठी व्यक्ति है। इसको अविलंब बाहर

निकाल देना चाहिए।' " इतना कहकर वह शांत हो गई।

नारी की नीयत और समुद्र की मन:स्थिति का कोई विश्वास नहीं। पता नहीं कब क्या कर बैठे। हो सकता है, समीची ही मुझे धोखा दे रही हो। मैंने उसकी परीक्षा लेते हुए पूछा, "तुझे यह सब कैसे मालूम?"

"आजकल मैं पांडवों के प्रासाद में पहुँच गई हूँ। यदि परिस्थिति अनुकूल हुई तो शीघ्र ही पट्टमहिषी की परिचारिका हो जाऊँगी।" उसने मुसकराते हुए कहा।

"यदि अवसर मिला तो अपनी पट्टमहिषी से कहना कि आपने कर्ण का दुर्विनय और हठ अभी देखा नहीं है।" मेरा क्रोध उबल पड़ा, "जिस दिन वह मेरा दुर्विनय और हठ देखेगी, उसे उस दिन स्वयं को देखते हुए भी लज्जा आएगी।"

अचानक किसीके आने की आहट लगी। समीची ने अपनी मुद्रा तुरंत बदल ली और नाटकीय विनय से पूछने लगी, "आपका स्वास्थ्य तो ठीक है? आप यज्ञमंडप में नहीं थे, यही देखने चली आई।"

वह रात मेरे जीवन की व्यग्र रातों में एक थी। रात भर अँधेरा मेरी आँखों में घूमता रहा और नींद सिरहाने टहलती रही। ब्राह्म मुहूर्त में जब मैंने शय्या का त्याग किया, मेरे मन ने कहा—अब एक पल भी तुम्हें रुकना नहीं चाहिए। मैंने उसी क्षण महामात्य को लिया और चल पड़ा।

भोर के तारों के साथ सन्नाटा बुनता मेरा रथ चला जा रहा था।

□

तेरह

धुंध भरा आकाश रात भर बड़बड़ाता रहा; किंतु सवेरा होते-होते वायु के प्रहार ने मेघों की धज्जियाँ उड़ा दीं और मुझे बड़ी सरलता से सूर्य-दर्शन मिल गया। अपनी राजधानी के बाहर मुझे कई दिन हो गए थे। आज चल पड़ने की योजना कार्यान्वित करने के लिए मैंने महामात्य से कहा।

किंतु हस्तिनापुर आज शांत, गुमसुम और कुछ विचित्र सा लग रहा था। जब महादंडनायक ने सुना कि मैं जा रहा हूँ तब उसने आग्रह किया कि अच्छा हो, आज भर और रुक जाएँ। संभावना है कि हमारे स्वामी इंद्रप्रस्थ से आते हों। निदान, मुझे रुक जाना पड़ा।

मध्याह्न का भोजन कुछ पहले ही करके आज मैं विश्रामकक्ष में चला आया था। उमड़ते हुए मेघों के साथ-साथ उमस बढ़ती जा रही थी। वातायन और द्वार खुले थे। अचानक प्रकृति की मुद्रा बदली और हवा का तेज झोंका कक्ष में आया। वातायनों के पंख फड़फड़ाने लगे। सामने दीवार पर लगा उर्वशी का चित्र फड़फड़ाकर स्थिर हो गया। मेरी दृष्टि स्वाभाविक रूप से खिंच गई। यह चित्र दुःशला का बनाया था।

थोड़ी देर की तेज हवा के साथ ही नभ फट पड़ा। जोर की वर्षा होने लगी। प्रकृति की मादकता धीरे-धीरे भीतर घुसने लगी। सामने उर्वशी हवा के झोंकों में हिल रही थी और मन में स्मृतियों के हिंडोले पर दुःशला। एक बाहर, एक भीतर; एक कल्पना, एक सत्य। पर इन दोनों के बीच एक व्यक्तित्व और उभरता था, जिसकी ईर्ष्या इन दोनों चित्रों को दूर फेंक देने की असफल चेष्टा करने में व्यक्त थी। यह व्यक्तित्व था माला का।

माला, दुःशला और उर्वशी; भार्या, भगिनी और अप्सरा; वर्षा, मेघ और बिजली—इन्हीं स्मृतियों ने मुझे सहलाकर सुला दिया।

वर्षा होती रही। वृक्ष मादकता में झूमते रहे। वातायन फड़फड़ाते रहे और मैं सोता रहा। जब पवन के उमंत प्रहार ने उस चित्र को एक विस्फोटक ध्वनि के साथ धराशायी कर दिया, तब मेरी आँखें खुलीं। सामने वह मुसकराती हुई खड़ी थी। वर्षा ने उसे अच्छी तरह भिगोकर उसके तन और वस्त्र की दूरी समाप्त कर दी थी। मुझे लगा, चौखटा तो टूट गया है, पर चित्र सजीव हो सामने है।

"तुम भीगी हुई क्यों खड़ी हो?"

"आपके जागरण की प्रतीक्षा में।" वह संकुचित होती हुई लज्जा ओढ़ बैठी। वह मेरी प्रकृति जानती थी, नहीं तो समीची! वह भी किसी पुरुष के सामने संकुचित हो, उसका स्वभाव नहीं था।

"कौन सी ऐसी बात है जो भीगकर मेरे जागरण की प्रतीक्षा की जा रही है?"

"लोग इंद्रप्रस्थ से आ गए हैं।" संक्षिप्त उत्तर देकर वह चुपचाप चली गई और मेरे लिए सोचने को छोड़ गई कि आखिर बात क्या है कि सभी लोग लौट आए और प्रासाद इतना निस्तब्ध है। कहीं कोई चहल-पहल नहीं, कहीं कोई कोलाहल नहीं। केवल बादल गरज रहे हैं। कोई बात अवश्य है।

मैं एकदम उठा और कक्ष के बाहर आया। मैंने देखा, चारुमित्र गंभीर मुद्रा में टहल रहा है।

मैंने पूछा, "क्या बात है, चारुमित्र?"

"भैया को अपमानित किया गया। उनकी हँसी उड़ाई गई।"

दुर्योधन का अपमान न तो मेरी बुद्धि सह सकती थी और न मेरी संकल्प भावना। मैं तड़प उठा, "क्या इसीलिए राजसूय यज्ञ किया गया था?"

"लगता तो कुछ ऐसा ही है।" इतना कहकर चारुमित्र ने जो कुछ बताया वह रोमांचित कर देनेवाला था। उसने कहा, "आप तो महोत्सव की रात को ही चले आए थे, पर हम लोग तो कई दिनों तक रह गए। जब सभी अतिथि जा चुके तब हमें प्रासाद को भीतर से देखने के लिए आमंत्रित किया गया। हममें से कुछ लोग इस आमंत्रण को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे; पर भैया का विचार था कि हमें अवश्य देखना चाहिए। वह हम लोगों को लेकर प्रासाद के भीतर गए। इसमें संदेह नहीं कि प्रासाद की रचना अद्भुत है। पग-पग पर भ्रम होता था। एक स्थान पर स्फटिक का ऐसा आँगन था कि भैया ने जलाशय समझकर अपने वस्त्र उठा लिये। बस इतने पर वह खिलखिला पड़ी।"

मैंने बीच में ही टोका, "कौन?"

''अरे, वही पांचाली! पिशाचिनी! इस समय तो पांडवों पर छाई हुई है।'' इसके बाद वह बताने लगा, ''कुछ आगे बढ़ने पर हम लोग उपशाला में निकले, तब तल के बराबर ही एक संतरणी थी। देखते ही धरातल का भ्रम होता था। दुर्योधन भैया उसीमें गिर पड़े। फिर क्या था! उसकी हँसी का ज्वालामुखी फूट पड़ा। पांडव भी उसके साथ हँसने लगे। एक ओर भैया जल में पड़े थे, दूसरी ओर वे नीच हँस रहे थे। किसी तरह हम लोगों ने उन्हें निकाला। दु:शासन भैया ने अब भी शालीनता बरती। वे बोले, 'भाभी, आपको हँसना नहीं चाहिए।'

'' 'क्यों नहीं हँसना चाहिए?' वह हँसते हुए एक बल और खा गई, 'अंधे की संतानें आँखें होते हुए भी अंधी होती हैं।' ''

''ऐसा कहा उसने और तुम लोग मर नहीं गए!'' मैंने दाँत पीसते हुए कहा।

''कुछ-न-कुछ अवश्य ही हो जाता, यदि युधिष्ठिर न आते। उन्होंने तत्क्षण वस्त्र मँगवाए, भैया को बदलने के लिए दिए। उस समय भी वह दुष्टा चुप न रह सकी। बोली, 'लो, केंचुल बदल दो।' हम लोग तो खून का घूँट पीकर रह गए। पर कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। अब कोई भी वहाँ एक क्षण के लिए भी रुकना नहीं चाहता था। बड़े आवेग में भैया बाहर निकलने के लिए स्फटिक निर्मित भीत की ओर द्वार समझकर बढ़े और जोर से टकरा गए। अचेत होकर गिर पड़े। वह फिर हँस पड़ी, 'मैंने कहा था न कि अंधे की संतान अंधी ही होती है।'

''कितना अपमानजनक था! एक ओर भैया के अचेत सिर से रक्त फूट पड़ा था और दूसरी ओर उस चांडालिन के मुख से हँसी।'' इतना कहकर चारुमित्र क्रोध में काँपने लगा।

मैं भी आपे में नहीं था। आकाश गड़गड़ाता रहा, जैसे फट पड़ेगा। ''कहाँ हैं तुम्हारे भैया?'' मैंने पूछा।

''वह अपने कक्ष में पड़े हैं।''

मैं कई उपशालाएँ पार करता हुआ बड़े वेग से उस ओर बढ़ा। मैंने देखा, परिचारक के कंधे का सहारा लिये धृतराष्ट्र वहाँ से निकले चले जा रहे हैं। कक्ष के पहले ही पड़नेवाले वातायन से मेरी दृष्टि गई। दुर्योधन अपनी शय्या पर पड़ा करवटें बदल रहा था, बड़बड़ाता हुआ दोनों हाथों से विचित्र मुद्राएँ बना रहा था। उसके वस्त्र भीगे थे, फिर भी वह अपरिमित दाह से छटपटा रहा था।

मुझे देखते ही वह एक झटके के साथ उठा और पागलों-सा बकने लगा, ''अरे, तुम आ गए! उस समय कहाँ थे, जब मेरी हत्या की जा रही थी? तुम मेरे मित्र हो न? और मेरी हत्या के समय ही भाग खड़े हुए!'' फिर वह मुझे एकटक

देखने लगा।

मैं उसीके बगल में बैठ गया।

पास में गांधारी और दुर्योधन की पत्नी भी बैठी थीं। सभी चिंतित थे, क्योंकि इतना बड़ा आघात दुर्योधन को अपने जीवन में कभी नहीं लगा था। उसका अहं घायल हुआ था और वह छटपटा रहा था। इसी बीच फिर मेघ गड़गड़ाए। वह चीख पड़ा, ''देखो, देखो! वह हँस रही है। बिजली बनकर वह हमारे ऊपर गिरेगी और फिर मेरी हत्या की जाएगी। मारे जाने के बाद मैं पुनः मारा जाऊँगा। कर्ण, मुझे बचाओ, कर्ण, मुझे बचाओ!'' वह एकदम मुझसे चिपक गया।

''कौन है, जो तुम्हें मार सकता है?'' मैंने उसे शांत करने की चेष्टा की, ''जब तक हमारी धमनियों में रक्त है, जब तक हमारी अंतिम साँस शेष है तब तक इस धरती पर कौन जनमा है, जो तुम्हारी हत्या कर सके?''

''क्यों? तुम्हें दिखाई नहीं देता? तुम अंधे की संतान तो हो नहीं, फिर भी नहीं देख पा रहे हो! मेरी हत्या हो चुकी है। अब मैं शव मात्र हूँ। केवल उसकी अंत्येष्टि शेष है।'' इसी बीच मेघ पुनः गरजते हैं। बिजली चमकती है। दुर्योधन अचानक भभक उठा है, ''देखो, देखो! यही आग है जो मेरे शव को भी जलाकर भस्म कर देगी।''

''भस्म करने के पहले वह आग स्वयं भस्म हो जाएगी।'' मैंने बड़ी दृढ़ता से कहा। उसने मुझे चिहुँककर तेजी से दबा लिया, मानो अथाह गहराई में डूबता हुआ मुझे पकड़ रहा हो। ''तुम इतने व्यग्र क्यों हो रहे हो? जीवन में मान-अपमान तो लगा ही रहता है।''

''तो क्या मैं सदा ऐसा ही अपमानित होता रहूँगा?'' उसका कंठ आर्द्र हो उठा।

''नहीं, नहीं। ऐसा कभी नहीं होगा।'' मैंने उसकी दोनों हथेलियाँ अपनी हथेली से दबाई और बोला, ''मित्रता के इस बंधन की शपथ लेकर कहता हूँ कि जिस भी परिस्थिति में होगा, तुम्हारे अपमान का बदला लेकर रहूँगा।''

आंतरिक ज्वाला से उठे मेघ दुर्योधन की आँखों से बरस पड़े। वह लगभग रोने लगा। रुदन मन की सारी कालिमा को धो देता है। मैंने उसे छेड़ा नहीं। वह मुझसे लिपटकर सिसकता रहा। बाहर बादल बरसते रहे। मेने मन पर द्रौपदी का दुर्दांत व्यक्तित्व अपनी संपूर्ण क्रूरता में बार-बार तड़ित तरंग की तरह आया और गया। मैं मन-ही-मन अपने संकल्प दोहराता रहा।

जब संताप का अधिकांश उसके नेत्रों से बह गया, उसने आँखें पोंछीं। पहले

की अपेक्षा कुछ सामान्य होते हुए बोला, ''लगता है, मैं अकिंचन हूँ, निरीह हूँ। कोई मेरे साथ नहीं है।'' फिर अचानक उसकी मुद्रा बदली, ''क्या मैं ऐसा ही अपमानित होता रहूँगा? क्या इंद्रप्रस्थ का वैभव मुझे सदा चिढ़ाता रहेगा?''

''यह सब क्या कह रहे हो तुम? तुम कैसे समझते हो कि अकिंचन हो? मैं तुम्हारे साथ हूँ। तुम्हारे भाई तुम्हारे साथ हैं। सोमदत्त तुम्हारे साथ हैं। सिंधुराज और बाह्लीक तुम्हारे साथ हैं। आर्यावर्त की इतनी महान् शक्तियाँ तुम्हारे साथ हैं। तब तुम निरीह कैसे हो?'' मैंने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से उसे समझाया, ''रह गई इंद्रप्रस्थ के वैभव की बात, तो जब वैभव ही नहीं रहेगा तो वह तुम्हें चिढ़ाएगा क्या!''

''वैभव नहीं रहेगा! इंद्रप्रस्थ का वैभव नहीं रहेगा! ऐसा कैसे हो सकता है?'' उसकी ईर्ष्या बच्चों जैसी विह्वल हो उठी।

''हो सकता है, बड़ी सरलता से हो सकता है। लगता है, अब मुझे अपने हस्त-कौशल का ही सहारा लेना पड़ेगा।'' शकुनि इतना कहकर विचित्र ढंग से हाथ हिलाते हुए हँसा। उस आर्द्र वातावरण में उसकी हँसी देर तक गूँजती रही।

सांत्वना और समय हृदय के बड़े-से-बड़ा घाव भर देते हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, दुर्योधन प्रकृतिस्थ होता गया।

□

पुराने मूल्यों और आदर्शों से चिपकी बूढ़ी पीढ़ी किसी समस्या का आधुनिक समाधान खोज पाएगी, इसका विश्वास हम नई पीढ़ी के लोगों को नहीं था। परिणाम यह हुआ कि हम उनसे दूर हटते गए और हमारे तथा उनके बीच की खाई बढ़ती गई। हमारी बैठकें भी अलग होने लगीं। घृणा और अपमान के घुटन भरे धुएँ के बीच हम ऐसी किरण खोजने लगे जिसके धुँधले प्रकाश में ही सही, हम अपने प्रतिशोध की तलवार ढूँढ़ सकें।

मामा ने कहा कि पांडवों से युद्ध करने की बात सोचनी ही नहीं चाहिए। पर मेरा मन यह मानने के लिए तैयार नहीं था। मामा का तर्क था कि पांडवों से युद्ध करना विनाश को आमंत्रित करना है। इस समय उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई है।

''शक्ति बढ़ने से क्या होता है? हमारे आक्रमण करते ही युधिष्ठिर युद्ध से विरत हो जाएँगे।'' मामा का ब्राह्मण सचिव कर्णिक बोला।

''तुम भी सुवर्चा की तरह भविष्यवाणी करने लगे।'' शकुनि ने मुसकराते हुए कहा। दुर्योधन का कक्ष कुछ समय के लिए तनावमुक्त हुआ।

''यह भविष्यवाणी नहीं है, महाराज, वरन् युधिष्ठिर का संकल्प दुहरा रहा हूँ।''

"क्या यही संकल्प किया है युधिष्ठिर ने कि कोई आक्रमण करेगा तो मैं भाग जाऊँगा?" मैंने व्यंग्य किया।

अब कर्णिक ने विस्तार से बताया, "उस समय आप लोग नहीं थे। यज्ञ की समाप्ति पर महर्षि व्यास को विदाई देते समय युधिष्ठिर ने उनसे इंद्रप्रस्थ के भविष्य के संबंध में पूछा था। तब उन्होंने बड़ी गंभीरता से बताया था कि 'आगामी तेरह वर्ष बड़े ही संकटापन्न हैं। हो सकता है, तुम आर्यावर्त के विनाश के कारण बन जाओ।' इतना सुनते ही युधिष्ठिर पसीने-पसीने हो गए थे। उन्होंने उनका चरणस्पर्श करते हुए बड़ी व्यग्रता से पूछा, 'फिर मुझे क्या करना चाहिए, तात?' तब उन्होंने कहा, 'ग्रह-नक्षत्रों की गति तो हम बदल नहीं सकते। जहाँ तक हो सके, तुम युद्ध से विरत ही रहना, राजन्।' "

कर्णिक ने बताया कि "उसी समय युधिष्ठिर ने किसी भी स्थिति में युद्ध न करने का संकल्प किया था।"

इतना सुनना था कि शकुनि प्रसन्नता से उछल पड़ा, "अब काम बन गया। तुम सब चिंतामुक्त हो। केवल मामा के हस्त-कौशल प्रदर्शन की व्यवस्था करो।"

हम सब मामा का आह्लाद देखते ही रहे। यह नहीं समझ पाए कि वह क्या कहना चाहता है।

"युधिष्ठिर के संकल्प से क्या होगा! वह पिशाचिका जब तक जीवित है, ऐसे हजारों संकल्पों को निगलती रहेगी।" द्रौपदी के प्रति दुर्योधन का कोप पुनः फनफनाया।

"इससे उस पिशाचिका से क्या मतलब?" शकुनि बड़े सामान्य भाव से बोले, "इसका सीधा संबंध युधिष्ठिर से है।"

"इसका तात्पर्य यह है कि आप चाहते हैं कि जो युद्ध से विरत रहने को संकल्प कर चुका है उसी पर आक्रमण किया जाय!" हमारी दम तोड़ती नैतिकता कभी-कभी साँस ले लेती थी।

"न लड़नेवाले से लड़ना नहीं बल्कि खेलना चाहिए।" शकुनि ने रहस्यमय हँसी हँसते हुए अपने दाहिने हाथ से पासा फेंकने की मुद्रा पुनः बनाई और कहा, "और ऐसे खेलना चाहिए।"

उसका संकेत हम लोग समझ गए थे। फिर भी मामा ने स्पष्ट किया कि युधिष्ठिर को चौसर खेलने का बड़ा शौक है, पर वे खेलना नहीं जानते। क्यों नहीं उन्हें चौसर खेलने के लिए आमंत्रित किया जाए और उनका सारा वैभव जीत लिया जाए!

''मान लो, हम हार गए तो? तब तो कहींके न रह जाएँगे।'' दुर्योधन बोला।

''अब तक हर बाजी हम हारते ही रहे हैं।'' यह आवाज दुःशासन की थी।

''पासे यदि मेरे हाथ में रहेंगे तो यह बाजी कभी नहीं हारी जाएगी।'' शकुनि का विश्वास दुर्योधन के विवेक को छू नहीं पा रहा था। उसी समय मामा ने अपने सचिव से कहा, ''कर्णिक! जा, मेरे पासे तो ले आ। अभी मैं अपना हस्त-कौशल दिखाता हूँ।''

कर्णिक क्षण भर में पासे लेकर आ गया और मामा ने दो-चार हाथ फेंककर दिखाए। जो कहता था वही आता था। मैंने देखा, राजसूय यज्ञ के बाद दुर्योधन की आकृति पर पहली बार मुसकराहट उभरी।

मामा ने कहा, ''हमारी बाजी कभी बाएँ नहीं जाएगी। शर्त बस इतनी ही है कि इन्हीं पासों से खेल होगा और आप लोगों की ओर से मैं ही खेलूँगा।''

गहन अंधकार के सागर में डूबते हुए हम एक हलकी सी किरण पा गए थे। उसे अधरों पर चिपकाकर संतोष का अनुभव कर रहे थे। निष्कर्ष स्पष्ट था कि हमें चौसर खेलने के लिए युधिष्ठिर को आमंत्रित करना चाहिए। पर कौन आमंत्रित करे और कैसे करे?

हम युवकों को विश्वास था कि बूढ़े हमारा प्रस्ताव नहीं मानेंगे। वे युग की मरी हुई नैतिकता को छाती से चिपकाए उसके जीवंत हो उठने की आशंका में लिपटे स्वयं जी रहे थे। उनसे कुछ आशा करना ही व्यर्थ था।

''किंतु युधिष्ठिर हमारा निमंत्रण स्वीकार भी तो नहीं करेंगे, जब तक पिताजी उन्हें राजकीय स्तर पर न भेजें।'' दुःशासन ने कहा।

''और पिताजी से कहने का तात्पर्य है कि वे विदुर और पितामह से इस संदर्भ में अवश्य पूछेंगे!'' दुर्योधन बोला।

''यही लोग तो हमारी गाड़ी के आगे काठ हो जाते हैं।'' शकुनि बोला, ''विदुर ने नीचता न की होती तो लाक्षागृह के साथ ही कहानी समाप्त हो जाती।''

''अब अतीत में जीने से क्या लाभ? वर्तमान की चिंता कीजिए।'' मैंने कहा।

संक्षिप्त विचार-विमर्श के बाद यह निश्चय हुआ कि हमें सारी स्थितियाँ धृतराष्ट्र से मिलकर बतानी चाहिए और उन्हें स्पष्ट संकेत दे देना चाहिए कि यदि इस संदर्भ में आपने पितामह, विदुर या किसी अन्य की बात हमारी इच्छा के विरुद्ध मानी तो हम विद्रोह कर देंगे।

मैं उस समय तो कुछ नहीं बोला, किंतु मन कह रहा था कि तुम्हें वार्त्ता के

समय धृतराष्ट्र के समक्ष नहीं रहना चाहिए। इसका कारण दुर्योधन के साथ मेरी मित्रता में कमी नहीं थी और न मेरी आस्था में ही किसी प्रकार की शिथिलता ही आई थी, वरन् चौसर की बात मेरे मन में बैठती न थी।

मैं एकांत में दुर्योधन से मिला और उससे कहा, "मैं चाहता हूँ कि पिताजी से आप ही लोग बात करें। मेरे रहने से उन्हें संदेह होगा।"

"कैसा संदेह?" उसने पूछा।

"यही कि इस सारी योजना के पीछे कर्ण का हाथ है। वही मेरे पुत्रों को बहकाता है।" मैंने उससे कहा, "आप लोग पारिवारिक स्तर पर बातें कीजिए और जैसे भी हो, उन्हें राजी कर लीजिए।" मैंने देखा कि वह अत्यंत गंभीर हो गया। मैंने फिर उसे समझाया, "पारिवारिक बातचीत में जब कोई बाहरी व्यक्ति रहता है तब बातें खुलकर नहीं होतीं—और मैं चाहता हूँ, इस समय दो टूक हो जाए, इधर या उधर।"

अब वह भी गंभीर था, "इसका तात्पर्य है कि तुम नहीं रहोगे!"

"मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। वचन दे चुका हूँ। कर्ण के वचन अंगद के चरण से भी दृढ़ हैं, मित्र।" मैंने हँसते हुए उसे छाती से लगा लिया। एक संतोष की मुसकराहट उसके अधरों पर रेंग गई। मैंने पुनः कहा, "मैं जानता हूँ कि मेरी उपस्थिति तुम्हारे कार्य में बाधक होगी, इसीलिए जाना चाहता हूँ।"

किसी तरह उसने मुझे जाने की अनुमति दे दी।

जब मेरा रथ हस्तिनापुर के पिंजरे से निकलकर उड़ा जा रहा था तब शिवपुरी के निकट एक वृद्ध ने संकेत कर मुझे रोका। आज शिवपुर में हाट का दिन था। कदाचित् हाट में वह कुछ बेचने ही आया होगा, मैंने सोचा।

"क्या बेचना चाहते हो, बाबा?" मैंने पूछा।

"कुछ बेचना नहीं, तुम्हें देखना चाहता हूँ।" वह जर्जर वृद्ध एक युवक के सहारे धीरे-धीरे मेरे रथ के निकट आया और मेरे कुंडल छूकर मुझे देखने लगा। "यह अब भी उतना ही बड़ा है।" वह बोला और बड़ी आत्मीयता से मेरे तन पर हाथ फेरता रहा। उसकी आँखें दूर क्षितिज की ओर थीं, जैसे वह कोई सुखद स्वप्न देख रहा हो।

मैंने फिर पूछा, "क्या बेचना चाहते हो, बाबा?"

"जो बेचना था, वह तुम्हारी माँ को बेच चुका हूँ।" वह एक गूढ़ हँसी हँसने लगा। उसकी आकृति के झूल गए मांस में विचित्र कंपन था। मुझे लगा, वह और किसी भ्रम में मुझसे बातें कर रहा है।

"तुम मुझे पहचानते हो, बाबा?"

"तुम्हें तो नहीं, पर तुम्हारे कवच और कुंडल को अवश्य पहचानता हूँ।" कुतूहल बिखेरती उसकी हँसी पुनः बरस पड़ी।

फिर उसने संतोष की साँस ली और बोला, "बड़ा अच्छा हुआ कि इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर अलग हो गए हैं। अब दोनों शांतिपूर्वक रह सकेंगे।"

यह संदर्भविहीन वृद्ध कहाँ से आ टपका? बिना किसी आवश्यकता और आग्रह के उसने क्यों रोक लिया? मैं सोचता रह गया कि उसने कहा, "अब जाओ, बेटा, जाओ। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें।" मेरा रथ चलने को हुआ। मैंने उसे एक निष्क (स्वर्णमुद्रा) देना चाहा; किंतु उसने नहीं लिया और बोला, "इस झगड़े की जड़ से मुझे दूर ही रखो।"

"क्या यह झगड़े की जड़ है?" मैंने मुसकराते हुए पूछा।

वह हँसा, "यदि यह झगड़े की जड़ न होती तो तुम लोग इतने कुचक्र में क्यों पड़ते? स्वयं को अग्नि में क्यों झोंकते?" बूढ़े की ध्वनि में वैभव के प्रति विराट् वितृष्णा थी। साथ ही वह जनमानस का भी प्रतिनिधित्व कर रही थी, जो कलह नहीं चाहता। पेट भरे चाहे न भरे, पर हर रात वह शांति से लिपटकर सो जाना चाहता है।

उसकी आशीर्वाद देती ध्वनि स्वयं मुखरित हुई, "जाओ बेटे, जाओ।" मेरे मन पर उसका सम्मोहन जैसे छा गया था। मेरा रथ आगे बढ़ा, जैसे वह कोई भूली बात बड़बड़ाने लगा, "मैं काष्ठशिल्पी हूँ। मंजूषा बनाता हूँ। बड़ी-से-बड़ी मंजूषा मैंने बनाई है। मेरी बनाई मंजूषा एक बार गंगा में बहाई गई थी।" इतना कहकर वह व्यक्ति हँसता हुआ भीड़ में खो गया।

मेरा रथ घड़घड़ाता बढ़ा चला जा रहा था। अचानक गंगा में तैरती मंजूषा मेरी आँखों के सामने आने लगी। मैं एकदम व्यग्र हो उठा। मैंने सारथि से कहा, "रथ लौटाओ।" और फिर शिवपुरी की हाट में आकर रुका।

मैंने अपने महामात्य से उस बूढ़े को खोजने के लिए कहा। प्रहर भर तक महामात्य और सारथि खोजते रहे, पर बूढ़ा कहीं दिखाई नहीं दिया।

एक स्वप्न था जो टूट गया, एक अतीत था जो पूरी तरह चमकने के पहले भविष्य में लुप्त हो गया।

□

अपनी राजधानी में आए कई दिन हो गए।

पुराने काम निबटाता रहा; पर हर क्षण वह बूढ़ा मेरी आँखों के सामने बना

रहता—मुसकराता, आशीर्वाद देता। मुझे अब भी लगता है कि उसकी हँसी संसार के वैभव पर धूल उड़ा रही है। वय की इतनी लंबी सीमा पार कर लेने के बाद भी उसकी मंद होती आँखें उस जगत् के लिए तरस रही हैं जिनमें न युद्ध हो, न घृणा हो; न द्वेष और न दाह हो। लगता है, शांति ही सामान्य मनुष्य की सबसे बड़ी आकांक्षा है। तभी तो वह चिरशांति में विलीन हो जाने को ही मुक्ति समझता है।

कैसी विचित्र थीं उसकी आँखें और कितना तीखा था उससे टपकता व्यंग्य, जो कह रहा था कि तुम्हारे जीवन से कहीं अधिक अच्छी है हम साधारण की मृत्यु, जो किसीकी शांति में खलल नहीं डालती।

आप सोचते होंगे कि मैं प्रकृत्या भावुक होता जा रहा हूँ; किंतु बात ऐसी नहीं है। अद्रष्ट ने मेरे साथ कुछ ऐसी भूमिका निभाई है कि मैं नियति के हाथ का मात्र खिलौना रह गया हूँ। वह मुझे जैसे नचाती है, नाचता चला जाता हूँ। जब मुझे उठाकर भावुकता के प्रवाह में फेंक देती है तो मैं उसीमें तैरने लगता हूँ।

मैं अपने विश्रामकक्ष में पड़ा हूँ। वृषसेन को लिये माला चली आ रही है। क्यों नहीं मैं बूढ़े की चर्चा उससे करूँ!

मैंने सारी बातें उसे बता दीं।

वह आश्चर्यचकित सुनती रही। फिर बोली, ''विचित्र था वह वृद्ध! कभी यहाँ भी नहीं आया। उसे तो ज्ञात ही होगा कि उसका प्रवाहित बालक राजा हो गया है।''

''इसीलिए तो वह नहीं आया, क्योंकि वह वैभव से घृणा करता है।''

''किंतु तुमसे तो घृणा नहीं करता।'' वह हँसी, ''यदि वह वृद्ध मुझसे मिलता तो मैं उससे एक बात पूछती।''

''क्या?''

''यही कि बालक को मंजूषा में रखकर बहाते समय तुमने उसकी माँ को भी एक बड़ी मंजूषा में रखकर बहा क्यों नहीं दिया?'' वह हँसती रही।

''यदि ऐसा होता तो मेरे साथ ही मेरी माँ भी पकड़ ली जाती और सारा रहस्य खुल जाता।'' मुसकराते हुए मैं कहता रहा, ''जो आनंद रहस्य बने रहने में है वह उसके खुल जाने में नहीं।''

''तब तुम जातीय अपमान के क्षोभ का क्यों अनुभव करते हो?''

''जातीय अपमान का क्षोभ अपने स्थान पर है और अनुद्घाटित रहस्य का आनंद अपने स्थान पर। दोनों को मिलाया नहीं जा सकता।'' मैंने सामान्य भाव से कहा और वृषसेन को गोद में उठा लिया। फिर उसे चूमते हुए पूछा, ''क्यों बेटे,

यदि तेरी माँ को मंजूषा में रखकर बहा दिया जाए तो?''

''तो माँ पानीदार है, डूब मरेगी और तुम्हारे पिता को चरने-खाने के लिए खुला क्षेत्र छोड़ देगी।''

उसकी उन्मुक्त हँसी मुझसे टकराकर बिखर ही रही थी कि हस्तिनापुर से कर्णिक के आने की सूचना मिली। मैं स्वयं विश्रामकक्ष से उठकर सभाभवन के पार्श्व के प्रतीक्षाकक्ष में चला आया।

कर्णिक प्रसन्न था। उसने बताया कि चौसर खेल का निमंत्रण युधिष्ठिर ने स्वीकार कर लिया है। फिर उसने इस प्रयत्न में बाधाओं की लंबी चर्चा की और बताया कि हम युवक विद्रोह करने के लिए तैयार थे। हम लोगों ने बूढ़ों से स्पष्ट कह दिया कि इंद्रप्रस्थ में युधिष्ठिर सम्राट् घोषित कर दिए गए हैं। वे हमारी पीढ़ी के हैं, तो हस्तिनापुर में भी हमारी पीढ़ी को ही शासन सँभालना चाहिए।

''युवा पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष लगता है, बड़ा प्राचीन है; किंतु आप लोगों ने इसका उपयोग खूब किया!''

मेरे साथ ही वह भी हँस पड़ा और बताया कि ''धृतराष्ट्र ने इसे स्वीकार कर लिया। वे सिंहासन पर रहेंगे अवश्य, पर सारी सत्ता दुर्योधन के हाथ में आ गई है। अब हस्तिनापुर में एक पत्ता भी उनकी इच्छा के विरुद्ध हिल नहीं सकता।''

''इस सफलता के लिए आपको बधाई।'' मैंने कहा।

''और आपको भी।'' वह बोला।

''किंतु दूसरी सफलता हमें मिलनी चाहिए, नहीं तो पहली सफलता किसी काम की नहीं होगी।''

''कौन सी दूसरी सफलता?'' कर्णिक ने पूछा।

''यही कि चौसर में हमें जीतना चाहिए।''

''इसमें भी आपको संदेह है?'' उसने बड़े विश्वास से कहा, ''यदि महाराज शकुनि स्वयं खेलेंगे और अपने पासे से खेलेंगे तो संसार में कोई भी उन्हें हरा नहीं सकता।''

''किंतु यह बात खुलनी नहीं चाहिए, नहीं तो शकुनि से खेलना पांडव कभी स्वीकार नहीं करेंगे।''

''यह तो मैंने आपसे कह दिया न! कौरवों को छोड़कर यह रहस्य कोई नहीं जानता।''

''तुम रहस्य ही बनाए रहते हो और वह इंद्रप्रस्थ पहुँच जाता है।'' मैं हँसते हुए बोला, ''जरा गुप्तचरों से सावधान रहना।''

"अब यह सब कुछ होनेवाला नहीं है, अंगराज!" बड़ी दृढ़ता थी कर्णिक की आवाज में, "हम लोग बड़ी सावधानी बरत रहे हैं। देखिए, आपके यहाँ किसी अन्य को भी भेजा जा सकता था; किंतु लोगों ने मुझे ही भेजा और कहा कि तुम्हीं सारी स्थिति से अवगत करा सकते हो।" उसकी मुखमुद्रा अचानक बदली, "आजकल इंद्रप्रस्थ के गुप्तचर तो समीची को खोज रहे हैं।"

"क्यों ?" मेरी जिज्ञासा उतावली हो उठी।

"कुछ ठीक तो मालूम नहीं हो सका। इतना सब जानते हैं कि वह पांचाली के बहुत निकट आ चुकी थी। फिर उसे अचानक मृत्युदंड दे दिया गया। वह कारागार में डाल दी गई। सुना है, वह वहाँ से भी लुप्त हो गई।" इतना कह वह हँसने लगा। जल्दी में था। फिर उसने चौसर के खेल की निश्चित की हुई तिथि बताई और कम-से-कम एक दिन पूर्व पहुँचने का आश्वासन ले चल पड़ा।

अब रह गई थीं समीची की मेरे मन पर बनती-बिगड़ती अनेक मुद्राएँ।

□

संध्या काले सागर में डूबने को तैयार थी। मैं सुनसान पथ पर चला जा रहा था। अकेला था। महामात्य को अपने प्रमुख पारिषदों के साथ कल आने के लिए कह आया था। हस्तिनापुर लगभग आधा योजन रह गया होगा। कुछ दूरी पर एक मंदिर होने का आभास हुआ। मैं नियमतः मंदिर के निकट रथ से उतरकर देवता को प्रणाम करता था। यदि जल्दी में रहा तो उसपर बैठे-ही-बैठे मस्तक झुका लेता था।

इस समय भी मैंने केवल रथ की गति मंद कराई और देवालय की ओर प्रणाम करने के लिए उन्मुख हुआ कि मुझे किसी वृद्धा के कराहने की आवाज सुनाई पड़ी। मैं रथ से उतर पड़ा। भग्न मंदिर की जगत पर एक बूढ़ी स्त्री पैर में पट्टी बाँधे पड़ी थी। पीड़ा से छटपटा रही थी। मुझे देखते ही राजाओं को शाप देने लगी, "इन राजाओं का विनाश हो। धरती पर उनका कोई नामलेवा न रहे। ये नरपिशाच सबके सब जल मरें…' आदि-आदि।

मैंने राजाओं के प्रति उसके क्रोध का कारण पूछा। वह कुछ न बोली, केवल शाप देती रही। बाद में बड़ी कठिनाई से बताया कि आखेट पर जाते हुए किसी राजा या सामंत ने उस भिखारिणी को रथ से दबा दिया और उसे वहीं छोड़कर चला गया। तब से वह निरंतर शाप दिए जा रही है।

मैंने उससे कहा, "चलो, मैं तुम्हें राजधानी ले चलता हूँ।"

"तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी। तुम भी तो राजा ही मालूम पड़ते हो। कौन जाने, रथ से ही फेंक दो।"

“सभी राजा एक जैसे नहीं होते।” मैंने कहा।

“पर मुझे सब राजा और पर्वत दूर से एक जैसे ही दिखाई देते हैं।” फिर उसने मेरे पीछे खड़े सारथि की ओर संकेत करते हुए कहा, “यह कौन है? इसे यहाँ से हटाओ। मुझे भय लग रहा है।”

मैंने समझ लिया कि यह विक्षिप्त भी है। फिर भी मैंने सारथि को रथ पर चले जाने का संकेत किया।

अब उसका स्वर अप्रत्याशित रूप से बदला। मैं अवाक् रह गया। उसने कहा, “अंगराज! मैं समीची हूँ। तीन दिनों से यहाँ इसी तरह पड़ी हूँ, भूखी हूँ। यह तो मैं दैवी कृपा ही समझती हूँ कि आप यहाँ आ गए, नहीं तो जाने कब तक पड़ी रहती। आप किसी तरह मुझे प्रासाद में ले चलिए। वहाँ मेरे जीवन की रक्षा हो जाएगी।”

एक स्त्री इतनी माया फैला सकती है, रूप के साथ ही वय भी बदल सकती है, मुझे विश्वास नहीं था। सोचने लगा, ऐसी ही स्त्रियों की छाया पड़ने पर भुजंग अंधा हो जाता होगा। मैं कुछ क्षणों तक विस्फारित नेत्रों से उसे देखता रहा।

“आप देख क्या रहे हैं? जल्दी कीजिए। मेरे प्राण संकट में हैं।”

“तो क्या तू प्रासाद में प्रवेश नहीं कर पाई?” मेरा आश्चर्य पूछ बैठा।

“यदि कर पाती तो यहाँ क्यों पड़ी रहती! संपूर्ण प्रासाद इंद्रप्रस्थ के गुप्तचरों से घिरा है। आपके साथ रहूँगी तो कोई कुछ नहीं बोलेगा।”

“तो चल, रथ पर बैठ जा।”

“नहीं। सारथि को बुलाइए। वह मुझे उठाकर ले चले।”

मैंने अनुभव किया कि वह कितनी सतर्क है। मैं मन-ही-मन हँसता और उसके कृत्यों पर आश्चर्य करता लौट पड़ा।

सारथि जब उसे उठाकर रथ पर ले आया तो वह पूर्ववत् कराहने लगी। सोचता हूँ, उस मनुष्य का ऐसी ही स्त्री से पाला पड़ा होगा जिसने ‘त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं’ वाली बात कही होगी।

प्रासाद के अतिथिगृह में पहुँचते-पहुँचते अंधकार ने अच्छी तरह हाथ-पैर फैला लिये थे। तम को पी डालने की महत्त्वाकांक्षा लिये दीपदानों में भोलेभाले दीप झिलमिला रहे थे। लोगों ने मेरी अगवानी तो की, पर सबने समीची पर प्रश्नवाचक दृष्टि डाली।

मेरा नपा-तुला उत्तर था, “बेचारी भिखारिणी है। किसी आखेटक का रथ इसे दबाता हुआ चला गया। उपचारार्थ ले आया हूँ।”

संप्रति वह मेरे ही कक्ष में लिटाई गई। जिससे मैं दूर भागा था वह इतने निकट आ गई। मुझे अच्छा नहीं लगा। शीघ्र ही बगल के कक्ष में भेज दी गई।

दुर्योधन ने आकर मुसकराते हुए सूचना दी कि पांडव सपरिवार आ चुके हैं। वे नगर के बाहरी उप-प्रासाद में ठहराए गए हैं। सारी व्यवस्था हो चुकी है। कल बाजी खेली जाएगी।

"द्रोण, कृप, विदुर, पितामह सबसे सलाह कर ली गई है?" मैंने पूछा।

"तुम इसकी चिंता मत करो, मित्र।" उसका स्वाभिमान उफान पर था, "अब हस्तिनापुर का शासक मैं हूँ। मेरा ही आदेश चलेगा। यों प्रत्येक के पीछे मैंने एक-एक को लगा दिया है। जैसे द्रोण कुछ बोलेंगे तो अश्वत्थ उन्हें धर दबाएगा। कृपाचार्य के लिए मेरी एक वक्र दृष्टि ही पर्याप्त है। पिताजी मौन रहेंगे। रह गए विदुर, बस उन्हें ही सँभालना है।" कुछ सोचते हुए उपेक्षा भाव से वह पुनः बोला, "कोई बात नहीं, देखा जाएगा।"

"और पितामह का क्या होगा?" मैंने पूछा।

वह जोर से हँसा और बोला, "तुम उन्हें जानते नहीं हो। जो इंद्रप्रस्थ में युधिष्ठिर की मुँहदेखी कह सकता है वह हस्तिनापुर में हमारा मुँह देखता रहेगा।" मैंने दुर्योधन के आत्मविश्वास से अनुमान लगा लिया कि अब वह अच्छी तरह छा गया है।

फिर बगल के कक्ष में लेटी समीची के संबंध में बातें चल पड़ीं। उसने बताया कि मुझे सब ज्ञात हो गया है। उसने विस्तृत जानकारी देते हुए कहा, "वह भी अद्‌भुत कलाकार है। वह पांचाली की सबसे अधिक विश्वस्त बन गई थी। ऐसे मौके पर पकड़ी गई कि क्या कहूँ!"

मैं उसका मुख देखता रहा।

उसने बात आगे बढ़ाई, "एक दिन वह पार्थ को मैरेय पिला रही थी। इसी बीच उसने बड़ी चतुराई से विष मिलाया। किंतु इसे संयोग ही कहिए कि पांचाली ने उसे देख लिया। फिर क्या था! मृत्युदंड के लिए उसे कारागार में डाल दिया गया। पर चिड़िया वहाँ से भी उड़ निकली।" इसके बाद वह हँसने लगा।

बात कैसे शुरू करूँ? जुए का खेल कहूँ या चौसर यज्ञ?

समय होते-होते सभाभवन खचाखच भर गया था। उन्हीं लोगों को आने दिया गया था जो दुर्योधन के प्रभाव में थे, औरों के लिए प्रवेश निषिद्ध था। कारण भी दे दिया गया था कि यह पारिवारिक खेल है। खेल में अधिक भीड़ हो जाने से झगड़े की आशंका बनी रहती है।

मुझे दो आकृतियाँ अनजानी सी दीख पड़ीं, पर दोनों मामा के पास ही थीं। मैंने उनके संबंध में जानने की कोई विशेष इच्छा व्यक्त नहीं की।

मेरा मन उस सभा की मरणासन्न शांति पर अवाक् था। सैकड़ों मुख थे, पर जबान एक भी नहीं। मैंने आँखें बंद कर अनुभव किया कि दुर्योधन की भयप्रद मुद्रा अपने अधरों पर अँगुली धरे उस सन्नाटे के ऊपर छाई है। मानो कह रही है कि जरा भी चूँ किया तो ठीक नहीं होगा। अश्वत्थ मेरे पार्श्व में ही था। मेरे ऊपर की ओर कृप और द्रोण बैठे थे।

सूचना मिली कि पांडव आ रहे हैं। विदुर उनकी अगवानी के लिए बाहर गए। दूसरी ओर दुःशासन उन दोनों अपरिचित व्यक्तियों को उठाकर भीतर ले गया।

मैंने अश्वत्थ से पूछा, "तुम इन्हें पहचानते हो?"

"ये विविंशति और चित्रसेन हैं। इस समय आर्यावर्त में इनके समान द्यूत-क्रीड़ा में निपुण कोई दूसरा नहीं है।" अश्वत्थ ने मेरे कान में कहा।

"फिर इन्हें भीतर क्यों ले गए?" मेरा दूसरा प्रश्न था।

"यही तो आश्चर्य है।" इतना कह वह दुर्योधन के पास गया और पूछकर आया। फिर धीरे से बोला, "उन लोगों को देखकर शायद युधिष्ठिर खेलने के लिए तैयार न हों। इसी आशंका से उन्हें हटा दिया गया है।"

अपराध स्वयं में जितना सतर्क और भयभीत होता है उतना अपराधी नहीं। दुर्योधन और शकुनि दोनों प्रसन्न और सामान्य लग रहे थे।

क्षण भर में ही विदुर पांडवों को लिये सभाकक्ष में आ गए। पितामह और धृतराष्ट्र को छोड़कर सभी ने खड़े होकर उनका अभिवादन किया। अब मेरी बगल में आकर दुर्योधन भी बैठ गया।

"तुमने विदुर को फिर इनके साथ लगा रखा है। कहीं पर गड़बड़ न करे।" मैंने शंका व्यक्त की।

वह गंभीर हुआ, "मैंने ओषधि तो कर दी है। देखो, क्या होता है! आखिर यही तो द्यूत का निमंत्रण लेकर पांडवों के यहाँ गया था। यदि गड़बड़ करना होता तो कर देता।" उसने सहजभाव से कहा।

अतिथियों के बैठते ही शकुनि बोला, "हमारा सौभाग्य है कि आप द्यूतक्रीड़ा के निमित्त पधारे हैं। पासे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

बड़े असमंजस में युधिष्ठिर खड़े हुए। उन्होंने सबका अभिवादन करते हुए कहा, "श्रद्धेय गुरुजन, पितामह, महाराज, महामात्य विदुरजी एवं मान्य बंधुओ! मैं

अपने वरेण्य एवं प्रणम्य के आदेश-पालन मात्र के लिए यहाँ चला आया तो हूँ, पर मैं द्यूतकर्म को अच्छा नहीं समझता। यह पाप से भरा है, दूसरों को ठगने का व्यापार है। नीतिशास्त्र भी इसका विरोध करता है। असित और देवल जैसे ऋषियों ने इस खेल की निंदा की है। क्षत्रियों का पराक्रम जुए की बाजी जीतने में नहीं वरन् युद्धक्षेत्र में अपना शौर्य दिखाने में है।" इतना कहकर युधिष्ठिर बैठ गए। आश्चर्य था कि किसी व्यक्ति ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की।

दुर्योधन ने मेरे कान में कहा, "लगता है, इस विदुर ने अवश्य कोई खोया कूटा है, नहीं तो युधिष्ठिर जैसा चौसर में रुचि लेनेवाला व्यक्ति इस तरह की बातें न करता।"

शकुनि बड़े शांतभाव से बोला, "राजन्! आप व्यर्थ ही युद्ध की चर्चा छेड़ रहे हैं, हम तो खेल के निमित्त यहाँ उपस्थित हुए हैं। यह स्पर्धा मात्र मनोरंजन के लिए है—और स्पर्धा कहाँ नहीं होती? युद्ध में भी स्पर्धा ही है। जो अधिक पराक्रमी होता है वह बाजी मार ले जाता है। ब्राह्मणों के शास्त्रार्थ में भी यही बात होती है। जो अधिक ज्ञानी होता है, जीत उसीकी होती है। इस पासे के खेल में भी जो अच्छा खेलेगा वही जीतेगा। बस इतना ही न होगा। फिर आप क्यों डरते हैं? यदि धन से बहुत अधिक लोभ हो तो बात दूसरी है।" शकुनि ने बड़ी योग्यता से मन के दुर्बल तारों को छेड़ा।

वे कुड़बुड़ाए। पितामह और विदुर की जड़ता को छूकर उनकी दृष्टि लौट गई। हाँ, द्रोण कुछ कहना चाहते थे; किंतु अश्वत्थ ने हाथ पकड़कर उन्हें दबाया, "आपको इस बीच में पड़ने से क्या लाभ?"

उनका मुख खुलते-खुलते रह गया।

अंत में जुए के लिए निर्मित ऊँचे मंच की ओर युधिष्ठिर बढ़े। तुमुल करतल ध्वनि हुई।

"आइए।" उन्होंने दुर्योधन को संबोधित करते हुए पासे हाथ में लेकर कहा।

"मेरी ओर से मामा खेलेंगे।" वह बोला।

"यह तो द्यूत के नियम के विरुद्ध है।" युधिष्ठिर ने कहा, "जो खेल के लिए आमंत्रित करता है, उसीको खेलना चाहिए।"

"दाँव तो मैं दूँगा, पर पासे मामा फेंकेंगे।" दुर्योधन ने पुनः कहा। इस बार उसकी आवाज में वह तेजी नहीं थी। स्पष्ट लगा कि द्यूत के साधारण नियम के समक्ष वह आत्मबल खो रहा है।

किंतु मामा ने तुरंत स्थिति सँभाली, "कभी आप नीति की आड़ लेते हैं और

कभी नियम की। अरे, यह कहिए कि आप खेलना नहीं चाहते।'' फिर उसने दार्शनिकों जैसी मुद्रा बनाकर कहा, ''संपत्ति सुरा है। जैसे-जैसे कंठ के नीचे उतरती जाती है तैसे-तैसे प्यास बढ़ती जाती है। यह नियम या नीति नहीं वरन् संपत्ति का मोह है, मित्र! आपको खेलने से रोकता है।'' वह एक नाटकीय हँसी हँसने लगा, ''यदि आपको खेलना नहीं था तो निमंत्रण क्यों स्वीकार किया? इतनी दूर से आने का कष्ट क्यों उठाया?''

अब मामा ने दुर्योधन को बुलाया। पासे उसे थमाते हुए बोला, ''लो भाई, यदि युधिष्ठिर खेलना नहीं चाहते तो कोई उन्हें बलात् तो खिलाएगा नहीं।''

शकुनि के कहने के ढंग में तीखापन था। युधिष्ठिर तिलमिलाए और खेलने के लिए तैयार हो गए। अब प्रश्न उठा कि पासा पहले कौन फेंके। युधिष्ठिर का कहना था कि मैं आमंत्रित किया गया हूँ। द्यूत नियम के अनुसार मुझे फेंकना चाहिए। दुर्योधन फिर घबराया। यदि कहीं पासे युधिष्ठिर के हाथ में चले गए तब भगवान् ही जाने क्या होगा। उसने कहा कि तुम कहो कि पासा पहले मामा को ही फेंकना चाहिए, क्योंकि वह हम लोगों में बड़े हैं। पर यह कोई तर्क नहीं था।

मामा ने ही स्थिति फिर अपने हाथ में ली, ''भाई, इसमें विवाद क्या है? आइए, पासे से ही निश्चित कर लिया जाय कि कौन पहले खेलेगा!'' युधिष्ठिर कुछ बोलें, इसके पहले ही शकुनि ने पासे फेंक दिए और निश्चय करा लिया कि पासे उसीके हाथ में रहेंगे।

खेल आरंभ हुआ। युधिष्ठिर बाजी लगाते गए, मामा जीतता गया। धीरे-धीरे रत्न, कोषागार, सेना, हाथी-घोड़े, दास-दासियाँ युधिष्ठिर सब हारते चले गए। हर हार के बाद जुए का नशा उनपर जोर मारता गया। वे इस प्रतीक्षा में थे कि कभी तो पासे मेरे हाथ में आएँगे; पर उन मायावियों पर नियति का नहीं, शकुनि का अधिकार था।

स्थिति यहाँ तक आई कि पांडव अपने उत्तरीय और आभूषण तक हार गए। इसके बाद युधिष्ठिर ने खीझकर नकुल और सहदेव को बारी-बारी से दाँव पर लगा दिया। यह बाजी भी उनके प्रतिकूल पड़ी। गंभीर कोलाहल हुआ। कौरव पक्ष प्रसन्नता से उछल पड़ा था। विदुर पसीने-पसीने हो रहे थे। पितामह की आँखें मुँदी थीं। लगता था, वह धृतराष्ट्र बन गए थे। अंत:पुर की खिलखिलाहट के छींटे इस कोलाहल-सागर में गिरते स्पष्ट मालूम हो रहे थे।

युधिष्ठिर गंभीर थे।

शकुनि ने मुसकराते हुए पूछा, ''कहिए, कुछ और लगाना चाहते हैं?''

युधिष्ठिर चुप हो रहे।

मामा हँसा, "नकुल और सहदेव माद्री के पुत्र हैं न! शायद इसीलिए उन्हें दाँव पर लगाते हुए आपको संकोच नहीं हुआ। अब तो सगे भाई ही बचे हैं, उन्हें भला आप दाँव पर कैसे लगा सकते हैं!"

मैंने अनुभव किया कि आज मामा की बैखरी मुखर हो उठी है।

यह जले पर नमक था। मैंने पहली बार युधिष्ठिर को क्रोध में लाल होते देखा, "तू मुझमें और सहदेव में अंतर करता है! विजय से तेरी बुद्धि नष्ट हो गई है। मैं पराजय के परिताप में भी धर्म नहीं छोड़ सकता। ले, अपने अन्य भाइयों को भी लगाता हूँ।" इतना कह उन्होंने अर्जुन, भीम और अंत में स्वयं को भी दाँव पर लगाया और हार बैठे।

पागल हो उठा समूचा सभाकक्ष। दुर्योधन खिलखिलाकर मुझसे लिपट गया। "आज मेरी दाह शांत हो रही है।" उसने कहा।

"पर मैं तो अब भी जल रहा हूँ। पांडव बेचारे तो दास हो गए, पर उस पिशाचिका का तो कुछ नहीं हुआ। वह धीरे से पांचाल चली जाएगी और वहीं से विष उगलती रहेगी।"

इतना सुनते ही दुर्योधन ने मुद्रा बदली। वह एकदम मामा की ओर लपका और उसके कान में कुछ कहने लगा। पांडव मात्र अधोवस्त्र पहने सिर नीचा किए मूर्तिवत् बैठे रहे। उनकी व्यग्रता ने इंद्रियों के द्वार बंद कर दिए थे। वह न कहीं कुछ देख पा रहे थे और न कहीं कुछ सुन पा रहे थे।

तब तक शकुनि बोला, "अभी भी युधिष्ठिर, तुम जीत सकते हो। यदि पासों ने अपनी चाल बदल दी तो तुम पूर्ववत् हो जाओगे।"

युधिष्ठिर काष्ठवत् शांत थे।

"कोई बात समझ में नहीं आ रही है क्या? अरे, द्रौपदी को लगाओ, द्रौपदी को।" शकुनि ने कहा।

विदुर किनमिनाए, "अब इसकी नीचता नग्नता पर उतारू है।"

एक खीझ के साथ युधिष्ठिर द्रौपदी को भी दाँव पर लगा बैठे और हार गए। एक ओर आह्लाद का उद्गार और दूसरी ओर हाहाकार। वासंती वन में ज्वालामुखी फूटने की स्थिति।

एक कड़कती आवाज पीछे से उठी, "यह अनर्थ है!"

मैंने अपने स्थान पर खड़े होकर देखा, वह दुर्योधन का छोटा भाई युयुत्सु था। दुर्योधन ने उसे डाँटकर बैठा दिया। मैंने अनुभव किया कि सभी वृद्ध घबराए हुए

हैं। पितामह सिर पर से पसीना पोंछ रहे हैं। यहाँ तक कि द्रोण के मुख से निकल पड़ा, "यह तो अनर्थ हो रहा है।"

किंतु तत्क्षण अश्वत्थ ने दबाया, "उस समय अनर्थ नहीं था जिस समय द्रुपद ने आपका अपमान किया था!"

"क्या पिता का प्रतिशोध पुत्री से लिया जाएगा? यह कहाँ का न्याय है?" द्रोण की आवाज अश्वत्थ के कानों से टकराई; पर सभा में न फैली।

अश्वत्थ ने उन्हें तीखा उत्तर दिया, "यदि न्याय और अन्याय देखना हो तो कृपा कर आप बाहर चले जाइए।"

द्रोण फिर ऐसे चुप हुए कि अंत तक मुँह न खोल सके।

वृद्धों में यदि कोई सबसे प्रसन्न था तो धृतराष्ट्र। जब भी करतल ध्वनि होती थी, उनकी प्रसन्नता पूछ बैठती थी कि क्या जीता। द्रौपदी की जीत के बाद भी ऐसा ही हुआ। उनकी प्रसन्नता ने पूछा, "क्या जीता?"

विदुर एकदम झल्ला उठे, "अपना दुर्भाग्य जीता!"

महाराज को कभी ऐसे कठोर उत्तर की अपेक्षा न थी। फिर भी विदुर कहते गए, "मैं समझता हूँ कि इस समय हमारा वचन आपको अच्छा नहीं लगेगा, जैसे मरनेवाले रोगी को ओषधि अच्छी नहीं लगती। पर आप निश्चित समझिए, यह दुर्योधन कुल-कलंक जनमा है। यह कुरु वंश का नाश करके ही दम लेगा।" कहते-कहते वे आवेश में आ गए। उनकी आवाज तेज होती गई।

धृतराष्ट्र तो कुछ नहीं बोले, पर दुर्योधन ने विदुर को एक चाकर की तरह फटकारना आरंभ किया, "हम आपको अच्छी तरह जानते हैं। आप अन्न खाते हैं हमारा और भला सोचते हैं पांडवों का। क्या आपकी यही नैतिकता है? आप अभी जाइए और द्रौपदी को पकड़ ले आइए। वह आज से अंत:पुर में झाड़ू लगाएगी।"

विदुर कंपित अग्निशिखा हो गए, "मेरी नैतिकता मत देख! पहले अपनी नैतिकता निहार! सूर्य पर थूकने का दुस्साहस मत कर! द्रौपदी को बुलाकर तेरी मूर्खता स्वयं मृत्यु का आमंत्रण कर रही है।"

"उस समय उसने 'अंधे की संतान अंधी होती है' कहकर किसका आमंत्रण किया था?" इस बार मैंने दहाड़ा। द्रौपदी का नाम लेते ही मेरे शरीर में आग लग जाती थी। मेरा क्रोध फुफकार रहा था।

प्रतिशोध का अवसर वह सुखद क्षण होता है जिसका पश्चात्ताप जीवन भर भोगना पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि भविष्य मुझपर थूकेगा। आनेवाली पीढ़ियाँ मुझे कोसेंगी। मेरा यश-चंद्र कलंकित हो जाएगा। फिर भी मैं प्रसन्न था। उस दुष्टा

से बदला लेने का अवसर मिला था जिसने अनेक बार मेरा तिरस्कार किया था, मुझे भरी सभा में अपमानित किया था। मुझे अपने संकल्प भी याद आए।

अमर्ष मेरे विवेक को कुचलते हुए दुर्योधन से बोल पड़ा, ''विदुर नहीं जाते तो जाने दो। अपने सारथि प्रतिकामी को भेजकर उसे बुलाओ। उसका फन तो कुचलना ही चाहिए।''

मेरे इतना कहते ही भीम दाँत पीसने लगा। उसकी आकृति पर रक्त उतर आया। वह उठकर कुछ कहना चाहता था कि युधिष्ठिर ने उसे रोक दिया।

प्रतिकामी ने आकर सूचना दी कि पांचाली नहीं आ रही है। उसने कहा है कि धर्मराज से जाकर पूछो कि स्वयं को हारने के बाद मुझे हारे हैं या मुझे हारने के बाद स्वयं को हारे हैं।

''जब कहा है तो पूछ क्यों नहीं लेते युधिष्ठिर से!'' दुर्योधन चीख पड़ा। पर युधिष्ठिर अवाक् थे।

अब मेरे क्रोध ने दूसरी अँगड़ाई ली, ''जा, कह दे कि तेरे पतियों की जिह्वाएँ गलकर गिर गई हैं।''

प्रतिकामी चला गया और लौटकर वैसा ही आया। बोला, ''पांचाली ने कहा है कि यदि मेरे पति उत्तर नहीं देते तो तुम सभा के बड़े-बूढ़ों से मेरे प्रश्न का उत्तर पूछकर आओ।''

इस बार दुर्योधन एकदम झल्ला उठा, ''तू मेरा चाकर है या उसका? मैंने उसे ले आने को तुझे भेजा था या उसका समाचार ले आने के लिए?''

मैं एक क्षण के लिए भी रुकने को तैयार नहीं था, क्योंकि परिस्थिति कुछ भी हो सकती थी। बूढ़े हमसे कुपित थे ही। कौरव बंधुओं में से युयुत्सु और विकर्ण भी विरोध कर रहे थे। मैंने दुर्योधन से कहा, ''लगता है, प्रतिकामी अब भी भीम की मुद्रा से डरता है। तुम किसी और को क्यों नहीं भेजते?''

इस बार दुर्योधन ने दुःशासन को भेजा और कहा कि किसी भी स्थिति में उसे ले आओ।

सभा-सागर क्षुब्ध था। उसीमें एक उत्ताल तरंग सी द्रौपदी खींचती हुई लाई गई। दुःशासन ने उसे द्यूत मंच के निकट ही लाकर एक झटके के साथ छोड़ दिया। वह फूत्कार करती खड़ी हो गई।

''अंधे की संतानों ने तुझे जीत लिया है। अब तू उनकी दासी है। तुझे दास धर्म का पालन करना चाहिए।'' मेरा स्वर व्यंग्य से भीगा था।

इतना सुनते ही भीम क्रोध से कंपित हो उठा। उसने युधिष्ठिर से कहा, ''यह

सूतपुत्र अपनी नीचता से बाज नहीं आएगा। जो जीवन भर दूसरे के टुकड़े तोड़ता रहा, आज आपके ही कारण हमें दास धर्म की शिक्षा दे रहा है।''

युधिष्ठिर बिलकुल चुप थे। उनकी मूकता मुझे बड़ी निरीह लगी; किंतु भीम के स्वर ने मेरी क्रोधाग्नि में घी डाला। मैं भभककर जल उठा।

वह भी अद्भुत नारी थी। इस परिस्थिति में भी वह चोट खाई, किंतु बँधी हुई सिंहनी की भाँति दहाड़ रही थी और अपने प्रश्न बार-बार दुहरा रही थी।

विकर्ण को मौका मिला। वह उसके प्रश्न ले उठ खड़ा हुआ और पूरी सभा को संबोधित करते हुए बोला, ''महान् अन्याय हो रहा है और आप सब मौन होकर देख रहे हैं। इतिहास आपको कभी क्षमा नहीं करेगा। आपत्तियाँ मुख्यतः चार थीं। पहली यह कि युधिष्ठिर जब स्वयं को हार गए तब उन्हें द्रौपदी को हारने का क्या अधिकार था। दूसरी यह कि युधिष्ठिर के साथ नियमतः भैया (दुर्योधन) को खेलना चाहिए था, मामा को नहीं। तीसरी यह कि द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की ही पत्नी नहीं है, वरन् पाँचों भाइयों की है। इसलिए उसे केवल युधिष्ठिर को हारने का अधिकार नहीं है। और चौथी यह कि द्यूत के नियम के अनुसार बाजी खिलाड़ी को स्वयं लगानी चाहिए, अपने प्रतिद्वंद्वी के कहने पर नहीं। मामा ने कहकर द्रौपदी को दाँव पर लगवाया है। इन तर्कों के आधार पर द्रौपदी का हारा जाना नियम-विरुद्ध तो है ही, धर्म-विरुद्ध भी है।''

विकर्ण के प्रभावशाली भाषण के बाद ही सभी की मुद्रा बदलने लगी। लोग कहते सुने गए कि अभी भी कौरवों के रक्त में धर्म शेष है। मैंने देखा, द्रौपदी बड़े विश्वास के साथ विकर्ण को देख रही थी, जैसे डूबते को तिनका मिल गया हो।

किंतु तत्क्षण दुर्योधन अट्टहास कर बैठा, ''लगता है, सारे धर्म का ठेका दो ही व्यक्तियों ने ले रखा है—एक विकर्ण ने और दूसरे धर्मराज ने।''

इस कथन का बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। मैंने अनुभव किया कि विकर्ण के तर्कों का उत्तर तर्क से ही देना चाहिए। मैं विकर्ण को डाँटते हुए बोला, ''अभी तुम बच्चे हो। तुम्हें क्या मालूम कि धर्म और न्याय क्या होता है! पहले तो तुम्हें इतने बड़े-बूढ़ों के बीच में बोलना नहीं चाहिए था और यदि बोलना ही था तो बोलने के पहले अनुमति ले लेते। परंतु वैसा तुमने नहीं किया। स्वयं नियम का पालन न करनेवाले व्यक्ति को नियम की शिक्षा देने का क्या अधिकार है? और तुमने इस चौसर के खेल के संबंध में जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वह मात्र तुम्हारी वाचालता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सीधी सी बात यह है कि जब युधिष्ठिर अपनी पहली बाजियों में ही सारी संपत्ति हार गए तो उसी क्षण उन्होंने स्त्री पर से

भी अधिकार खो दिया। तुम धर्म की बातें करते हो, पर तुम तो धर्म के साधारण नियम से भी अनभिज्ञ हो। पत्नी पुरुष की अर्द्धांगिनी होती है। उसके पाप और पुण्य की वह भागीदार है। तब भला युधिष्ठिर के खेल की वह भागीदार क्यों नहीं होगी!''

मेरे भाषण के बाद ही कौरव पक्ष तालियाँ बजाकर उछल पड़ा। द्रौपदी अब भी अपने तर्क पर अड़ी रही। सबकी ओर वह बड़े विनीत भाव से देखती; पर ज्यों ही उसकी दृष्टि मेरी ओर मुड़ती, वह आग उगलने लगती थी। मैंने भी मन-ही-मन कहा कि यदि तेरी इस आग को ठंडा नहीं किया तो मैं भी कर्ण नहीं।

''तू अपने पति युधिष्ठिर से ही क्यों नहीं पूछती कि वे तुझे जुए में हारे हैं या नहीं?'' दुर्योधन ने हँसते हुए द्रौपदी से कहा।

फिर भी युधिष्ठिर चुप थे। एक चुप, हजार चुप। भीम क्रोधित बनैले साँड़-सा हुंकार रहा था; किंतु इससे भी भयानक था अर्जुन का मौन।

अंत में निराश हो द्रौपदी ने पितामह को ही संबोधित करते हुए अपने प्रश्न दुहराए, ''आप ही प्रश्न का निराकरण कीजिए। इस घर की कुलवधू न्याय की भीख माँगते हुए अर्धनग्न स्थिति में खड़ी है।''

वाह रे पितामह! तू भी कितना विचित्र है! जिसने राजसूय यज्ञ के अवसर पर कृष्ण की अग्रपूजा के लिए कहकर युधिष्ठिर को प्रसन्न किया था वही इस अवसर पर बड़ी शालीनता से बोला, ''जब तुम्हारे पति ही कुछ नहीं कह पा रहे हैं, तुम्हें हारा हुआ समझते हैं तब भला मैं क्या कह सकता हूँ!''

पितामह के मुख से इतना सुनते ही सभा सन्न रह गई।

इसके बाद जो कुछ हुआ वह आप जानते ही हैं। हमारी प्रतिहिंसा नग्न तांडव कर उठी। दुःशासन ने उसे दुर्योधन की जाँघ की ओर धकेला।

वह पुनः फूत्कार उठी, ''खबरदार, जो मेरे तन पर हाथ लगाया!'' इतना कहते ही वह अंतःपुर की ओर दौड़ी। लगता है, गांधारी से मुक्ति की भिक्षा माँगने गई होगी।

कहीं नारी का हृदय नारी के लिए पिघल न जाए, मैंने शीघ्र ही दुःशासन को उसे लाने के लिए भीतर भेजा। वह पुनः घसीटकर लाई गई। आते ही मुझपर बरस पड़ी, ''नीच! इस स्थिति में भले ही तू अपना प्रतिशोध ले ले, किंतु तूने द्रौपदी की तेजस्विता देखी नहीं है।''

मेरा क्रोध दहक उठा, ''खींच ले इसके वस्त्र और देख ली जाए इसकी तेजस्विता!''

अब क्या था! दु:शासन ने उसका वस्त्र खींचना आरंभ किया और वह वस्त्र पकड़कर दहाड़ती रही, "नीच! जहाँ नारी की लज्जा का हरण होगा, विनाश हो जाएगा उस राज्य का। मेरी आह से जल उठेगा आर्यावर्त।...गोविंद, तुम इस नीच को कभी क्षमा मत करना।"

सभी तो उद्वेलित थे ही। प्रासाद के बाहरी उद्यान में गधों के रेंकने, शृगालों के बोलने और सहस्त्रों चीलों व कौओं के चीखने-चिल्लाने की अशुभ ध्वनियाँ आने लगीं। विदुर ने इसकी ओर ध्यान दिलाकर महाराज का कान भरना आरंभ किया। धृतराष्ट्र भयभीत हो उठे और सारा खेल बिगड़ गया।

□

विजय का उन्माद और पराजय का क्षोभ दोनों व्यक्तित्व को असंतुलित कर देते हैं। निश्चित रूप से मैं संतुलन खो चुका था। सभा से लौटकर मैं अतिथि-कक्ष में आकर हारे हुए जुआरी की भाँति निराश हो ढुलक गया था। मुझे स्वयं पर क्रोध आ रहा था। यदि मेरी व्यग्रता और बढ़ती तो शायद मैं अपने ही हाथों अपने गाल लाल करने लगता। मैंने क्यों इतनी बढ़-चढ़कर भूमिका निभाई ? यह ठीक था कि मुझे पांचाली से प्रतिशोध लेना था और मैंने कुछ हद तक ले भी लिया। फिर भी सब ज्यों-का-त्यों हो गया। वह इंद्रप्रस्थ की पट्टमहिषी रहेगी और मैं सूतपुत्र ही। इस स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। मैं सोचने लगा, सारा आर्यावर्त मुझे कोसेगा और बाद में इतिहास मेरे नाम पर थूकेगा कि इसने एक निरीह नारी को भरी सभा में नग्न करने की कुचेष्टा की। किंतु अब इसके लिए मैं क्या करूँ ? दुर्योधन की जिस व्यवस्था को मैंने कठोर पाषाण समझा था, वह चिपचिपा दलदल निकला। उसीमें मैं फँस गया। अब उसकी किसी भी योजना में आगे नहीं आऊँगा।

मैं सोच ही रहा था कि समीची मेरे कक्ष में आकर रोने लगी। बोली, "अब मैं निश्चित मारी जाऊँगी, राजन्! निश्चित मारी जाऊँगी।"

मैंने जब उससे कारण पूछा तो उसने बिलखते हुए बताया कि जिस समय आप लोगों से त्रस्त होकर पांचाली अंत:पुर में भाग गई थी, गांधारी से मुक्ति की भिक्षा माँग रही थी, तब मैंने उसे चषक में जल भरकर देते हुए चिढ़ाया था कि 'इसे पी लीजिए, पट्टमहिषी! आपकी मुक्ति हो जाएगी।'

मैं इस चिढ़ाने का संदर्भ समझ नहीं पाया। उसने ही बताया था कि "जब द्रौपदी ने पार्थ के मैरेय में मुझे विष मिलाते देखा था तब बड़े प्रेम से अपने पास बुलाया था और अत्यंत आत्मीयता से कहा था, 'इसे तुम्हीं पी लो, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी। जिस मुक्ति के लिए बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तरसते हैं, वह तुम्हें प्राप्त हो

जाएगी।' मैं उसकी मुद्रा की नकल उतार रही थी और उसे चिढ़ा रही थी। मुझे क्या मालूम था कि नागिन छूटकर निकल जाएगी। अब तो वह चोट खाई हुई है, ऐसा काटेगी कि लहर नहीं आएगी।'

मृत्यु से अधिक मृत्यु की आशंका भयावह होती है। वह अपना विकराल मुँह बाए समीची के समक्ष खड़ी थी। उस निरीह के पास रोने और चीखने के अतिरिक्त अब कोई चारा नहीं था।

इसी बीच कर्णिक मुझे बुलाने आया।

"अब मैं कहीं नहीं जाऊँगा।" मैंने झुँझलाकर कहा।

"पर सभी लोग महाराज धृतराष्ट्र के कक्ष में एकत्र हो रहे हैं।" उसने बताया।

"होने दो। अब मैं इन लोगों के किसी काम में सहभागी नहीं होऊँगा।"

उसने मेरे क्रोध को सहलाते हुए सारी स्थिति समझाई और कहा कि "आप ही नहीं, सभी लोग महाराज धृतराष्ट्र के इस निर्णय से दुःखी हैं।"

इच्छा न होते हुए भी कर्णिक का वाक्-कौशल मुझे ले गया। उस समय दुर्योधन और दुःशासन दोनों बुरी तरह से धृतराष्ट्र से उलझे थे। महाराज सफाई दे रहे थे, "मैं क्या करता? अपशकुन होने लगे। विदुर ने भयभीत कर दिया कि अनिष्ट हो जाएगा। तुम लोगों के कल्याण के लिए मुझे क्षमा करना पड़ा।"

"हमारे कल्याण के लिए या हमारे विनाश के लिए? क्या आपने सुना नहीं कि भीम ने हमारा रक्त पीने की प्रतिज्ञा की है? और पांचाली ने मेरे रक्त से अपनी वेणी धोने की?" क्रोध में लंबी-लंबी साँसें भरते हुए दुःशासन ने कहा।

"और मेरी भी जाँघ तोड़ने की उसने प्रतिज्ञा की है।" दुर्योधन दाँत पीसते हुए बोला, "आपने तो उन्हें क्षमा कर दिया, पर उनका संकल्प हमें थोड़े ही क्षमा करेगा।"

"अरे, इतने संकल्प तो सुनाई पड़े हैं, उस अर्जुन ने मौन ही रहकर न जाने कितने संकल्प कर डाले होंगे, किसीको क्या मालूम!" मैंने कहा।

"इससे अधिक मेरा कल्याण और क्या देखा जा सकता था!" दुर्योधन ने एक बाण और चुभोया।

"मैं केवल घबराया उन अशुभसूचक ध्वनियों से।" धृतराष्ट्र ने कहा।

"उन ध्वनियों से आप क्यों घबरा गए? क्या वे ध्वनियाँ पांडवों के लिए अशुभ नहीं थीं? उन्हें तो महर्षि व्यास ने भी बताया था कि आगामी तेरह वर्ष आपके लिए अनिष्टकारी हैं।" मेरे इस कथन पर महाराज एकदम गंभीर हो गए।

घटना ने इसके मन में बने मेरे सारे चित्र धूमिल कर दिए हैं।

कक्ष में आते ही विहँसते हुए समीची ने बताया कि युधिष्ठिर मान गए हैं। आज फिर एक बाजी खेली जाएगी। पर मुझे इससे क्या लेना-देना था।

मेरा रथ महामात्य को लेकर गंगातट की ओर चल पड़ा। आज वहाँ अप्रत्याशित भीड़ थी। हर आँख मुझे घूर रही थी। हर अधर बुदबुदा रहा था। उस जनसमूह में मुझे एक तिरस्कार रेंगता सा लगा, 'बड़ा पूजा-पाठ करता है, दानी और महान् बनता है! पर उस समय तेरी महानता कहाँ थी जब तू एक निरीह अबला को भरी सभा में निर्वसन करने में लगा था?'

मैं घबरा गया। जी में आया कि हाथों से दोनों कान ढक लूँ। आँखें बंद कर लूँ और जोर से चिल्लाऊँ, 'प्रतिशोध की अग्नि में महत्ता की ध्वजा खोजने की कुचेष्टा मत करो।'

□

चौदह

समय उड़ता हुआ निकल गया। तेरह वर्ष बीत गए और हम जहाँ के तहाँ खड़े रहे। इस बीच की सारी घटनाएँ हमारे स्मृति-पटल पर तो नहीं हैं और यदि होतीं भी तो आपसे इसको क्या मतलब। जीवन के हर क्षण न तो प्रभावी होते हैं और न इतिहास में ही अपने चिह्न छोड़ते हैं। किंतु विराट की इस घटना ने मेरे अहं को झकझोरकर रख दिया।

पांडवों का अज्ञातवास चल रहा था। अचानक सूचना मिली कि कीचक मारा गया। किसी युद्ध में नहीं वरन् एक रात वह अपने शयनकक्ष में मारा गया। मारनेवाले ने उसका गला ऐसा दबोचा कि उसकी चीख भी न निकल सकी। उसके दोनों पैर दबाकर उसके पेट में घुसेड़ दिए गए थे। वह एक बड़े गट्ठर जैसा लुंड-मुंड मरा पड़ा था। अद्‌भुत मल्ल योद्धा की यह दुर्गति! जो सुनता था, स्तब्ध रह जाता था। जब हस्तिनापुर में यह समाचार पहुँचा, दुर्योधन के कान खड़े हो गए। शकुनि ने सोचा कि भीम के अतिरिक्त कीचक की यह गति किसी और ने नहीं की होगी।

यदि यह आशंका सत्य निकलती है तो अज्ञातवास के पूर्व ही पांडव पहचान लिये जाएँगे और शर्त के अनुसार उन्हें फिर एक युग के लिए वनवास भोगना पड़ेगा। हस्तिनापुर ने तत्काल अपने गुप्तचर विराट भेजे।

मेरी उत्कंठा भी मुझे हस्तिनापुर ले आई। विश्वास से बोझिल शांति वहाँ आशंका के धुएँ में घुटन का अनुभव कर रही थी। मेरे पहुँचते ही वह धूमपुंज एक बार फिर काँप उठा।

पितामह मुझे देखते ही बोल पड़े, ''लगता है, कुछ होने वाला है।''

''तो क्या मैं ही यहाँ के सभी कार्यों की जड़ हूँ?'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''कर्मों की नहीं वरन् कुकर्मों की।'' अत्यंत गंभीरता से पितामह ने कहा और अपने प्रासाद की ओर बढ़ गए।

मुझे यह अच्छा नहीं लगा। मेरे साथ और कौरव बंधु थे। उन्होंने मेरी मन:स्थिति समझ ली और बहुत कुछ सँभाला भी। फिर भी मैं बोल पड़ा, ''इस प्रकार की बातें सुनने का मैं आदी नहीं हूँ। यदि पितामह मुझे अपना दास समझते हों तो यह उनकी भूल है।'' रुक्षता से मैंने स्पष्ट कर दिया कि मैं किसी भी क्षण खुलकर आ सकता हूँ।

मैंने पितामह की नैतिकता को अच्छी तरह परख लिया था। हम दोनों कौरवों के पक्ष में थे; पर अंतर यही था कि उनका व्यक्तित्व सत्तोन्मुख था और मैं दुर्योधन के प्रति समर्पित था। सत्ता परिवर्तन या उसकी संभावना के साथ ही वे बदल सकते थे, पर मेरी मित्रता चट्टान की तरह दृढ़ थी। इसीसे दुर्योधन उसपर बड़े विश्वास के साथ पैर जमाता था।

उस रात मैं जग रहा था। दीप बुझ गया था। प्राची के वातायन से त्रयोदशी का चंद्र झाँक रहा था। किसीने धीरे से मेरे कक्ष का द्वार खोला। मुझे लगा कि यह कोई स्त्री है।

''कौन?'' मैं शय्या पर बैठते हुए बोला।

''अभी आप जाग रहे हैं?'' उसकी सहज ध्वनि ने बता दिया कि वह समीची है और अभी-अभी राजभवन में आई है। किंतु वह आते ही मेरे कक्ष में क्यों चली आई? घृत यदि स्वयं अग्नि के निकट पहुँचे तो उसकी नीयत पर संदेह करना स्वाभाविक है।

किंतु समीची ने ऐसा उत्तर दिया कि उसके संबंध में मेरी समूची धारणा ही ध्वस्त हो गई। उसने कहा, ''मैं ऐसा जीवन जी रही हूँ, राजन्! जहाँ हर ओर अग्नि-ही-अग्नि है। प्रत्येक क्षण पिघलने के पहले ही मेरे नारीत्व को जलने की आशंका बनी रहती है; पर आपकी छाया में मुझे जाने कैसी शीतलता का अनुभव होता है कि मैं जमकर संकुचित होने लगती हूँ।'' कहते-कहते वह वातायन के निकट आ गई थी। चंद्रिका में धुलकर उसकी मुखाकृति अत्यंत निरीह और सरल लगी। वह कहती गई, ''मैंने अनेक बार आपकी परीक्षा ली है, पर कभी भी आपको स्खलित होते नहीं देखा। शायद इसीलिए आपकी छाया मुझे बरबस खींच लेती है।'' अचानक उसकी मुद्रा बदली, ''चाकरी ही ऐसी है कि लड़खड़ाते वृक्षों की उन भयानक छायाओं के बीच से गुजरना पड़ता है जो हर समय निगलने के लिए फैली रहती हैं।''

मैंने अनुभव किया कि वह समीची नहीं वरन् कुकर्मों की कई परतों के नीचे दबा उसका सहज नारीत्व बोल रहा है। मुझे अपने चरित्र के संबंध में इससे अच्छा

प्रमाणपत्र आज तक नहीं मिला था। नारी की अपेक्षा एक भ्रष्ट नारी के पास पुरुष के चरित्र के सही मूल्यांकन की क्षमता भले ही अधिक न हो, पर अवसर अधिक होते हैं।

वह वहीं धरती पर ढुलक गई और धीरे-धीरे बताती रही। उसके अनुसार विराट के यहाँ एक सैरंध्री है। उसीके गंधर्व पतियों ने कीचक की हत्या की है। कीचक उसी सैरंध्री पर आसक्त था।

''सैरंध्री कोई अप्सरा है क्या?'' मैंने पूछा।

''नहीं, वह तो मानवी है।'' उसने कहा।

''फिर मानवी के गंधर्व पति कैसे?'' मुझे शंका हुई। ''तुमने उसे देखा है?'' मैंने पूछा।

''नहीं, मैं तो राजभवन में जा नहीं पाई।'' उसने कहा और शीघ्र ही अपना निष्कर्ष बताया, ''मुझे लगता है कि वह द्रौपदी ही है और उसके गंधर्व पति पांडव। वे भी वहीं अज्ञातवास कर रहे हैं।'' शकुनि की शंका को समर्थन मिला। मैं भी सोचने लगा। थोड़ी देर बाद समीची के मुख से निकला, ''पर पुरुष के लिए सैरंध्री का स्पर्श भी धर्म-विरुद्ध है।''

''यदि वह द्रौपदी है तो उसे चबा जाना भी धर्म है।'' मेरा क्रोध भभका। वह चुप हो गई। मुझे और उत्तेजित करना उसने ठीक नहीं समझा। मैं थोड़ी देर बाद सो गया।

जब मैं उठा, रात्रि मद्धिम पड़ चुकी थी। मैंने वातायन से ही नक्षत्र-दर्शन किए। भूमि पर पड़ी समीची खर्राटे भर रही थी। निरीह, विवश, लाचार समीची।

मैं गंगा से लौटा ही था कि दुर्योधन मुझे देखते ही बोला, ''कब से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।'' और मुझे लेकर सीधे धृतराष्ट्र के कक्ष में पहुँचा।

लगता है, उन्हें सारी सूचना पहले से मिल चुकी थी। मेरी आहट से ही पहचानकर उन्होंने मुझसे पूछा, ''क्या करना चाहिए?''

''मैंने अपने मन से कुछ न करने का संकल्प कर लिया है। आप वृद्धगण जो भी आदेश देंगे वही करूँगा।''

''अधिक सोचने का समय नहीं है। अज्ञातवास के कुछ ही दिन अब शेष हैं। हमें यथाशीघ्र आक्रमण कर देना चाहिए।''

''आक्रमण के लिए तैयारी भी तो आवश्यक है।'' धृतराष्ट्र बोले।

''मेरे विचार से तैयारी की कोई आवश्यकता नहीं। गुप्तचरों से सूचना मिली है कि दक्षिण से मत्स्यराज पर सुशर्मा आक्रमण करने वाला है। ठीक उसी समय

हम चलकर विराट की गायें हर लाएँ। यदि पांडव वहाँ छिपे होंगे तो अवश्य सामने आएँगे।''

''किंतु इतने के लिए भी तो कुछ तैयारी होनी चाहिए।''

''हस्तिनापुर की आपात सेना पर्याप्त है। पितामह और कृपाचार्य तो रहेंगे ही। केवल आप अहिच्छत्र से द्रोणाचार्य और अश्वत्थ को बुला लीजिए।'' फिर मामा ने मेरी ओर देखा और मुसकराते हुए बोला, ''क्योंकि वहाँ लड़ने की अपेक्षा पहचाननेवालों की अधिक आवश्यकता है।''

कैसी विडंबना है कि इस समय मामा हारने के लिए भी तैयार था।

फिर भी प्रयाण की व्यवस्था में कुछ दिन तो लग ही गए।

□

वृषसेन भी विचित्र बालक है। मैंने उसे अनेक बार मना किया कि आखेट पर अकेले मत जाया कर, पर आज भी एकाकी निकल गया। अभी उसकी अवस्था ही क्या है। यही चौदह-पंद्रह वर्ष की ही। जंगल में पथ भटक जाए या हिंस्र पशु घेर लें तो क्या होगा? एक तो पौष का छोटा दिन, दूसरे मेघों से भरा। रात होते ही हाथ को हाथ नहीं सूझेगा।

मैंने पहले अमात्य को डाँटा, फिर माला से भिड़ गया।

उसने कहा, ''मैंने तो उसे बहुत मना किया, पर वह मानता ही नहीं। आखिर तुम्हारा ही पुत्र है न! तुम किसीकी बात सुनते हो!'' उसकी हँसी मेरी झुँझलाहट पर छाने लगी।

''किसीका भी दोष हो, पर तू मढ़ती है मेरे ही माथे पर। लगता है, तेरे-मेरे नक्षत्र मिलते नहीं हैं।''

''नक्षत्रों को मिलाने के पहले ही नियति ने हम दोनों को मिला दिया।'' उसने कहा।

मुझे हँसी आ गई। फिर मैंने उसके दोनों कंधे झकझोरते हुए पूछा, ''अच्छा बता, कौन सी ऐसी बात है जिसे मैंने नहीं माना?''

''यदि मेरी बात मानते तो विराट पर चढ़ाई करने न जाते।''

''चढ़ाई करने थोड़े ही गया था, वह तो रहस्य उद्घाटित करने गया था। और उसमें सफलता भी मिली।'' पराजय को निर्लज्जता की ओट में छिपाते हुए बोलता रहा, ''आखिर पांडव पहचान तो लिये ही गए।''

''पांडव पहचान भले ही लिये गए हों, पर उन्होंने तुम्हारा पानी तो उतार ही लिया। पानी ही नहीं, वस्त्र भी उतार लिये।'' माला विचित्र ढंग से हँसती हुई

बोली, "आप सबके जीवन का अंत उनके हाथ में था; किंतु उन्होंने अपमानित कर जीने के लिए आप लोगों को छोड़ दिया। छिह!"

माला व्यंग्य करते-करते गंभीर हो गई। मेरा पराजित अहं अपनी मौन परिधि में ही छटपटाता रहा। वह कहती गई, "अतीत में कदाचित् ही ऐसा युद्ध हुआ हो, जब विजेता ने विजित के वस्त्र उतारकर छोड़ दिया हो।"

"इतिहास में कदाचित् ही कभी ऐसा आक्रमण हुआ हो जो जीत की आकांक्षा से नहीं वरन् पहचानने की लालसा से किया गया हो।" मेरे पास इसके अतिरिक्त दूसरा उत्तर नहीं था।

"आपका पराक्रम पहचाना गया और उनकी आकृति पहचानी गई। वास्तव में दोनों की पहचान हो गई।" वह एक प्रगल्भ हँसी हँस पड़ी, "किंतु असली बात तो मैंने पहचानी।"

"क्या?"

"यही कि आप लोग भरी सभा में भी एक विवश नारी के वस्त्र उतार न सके और उसने आप सबको युद्धक्षेत्र में नंगा कर दिया।" माला ने संपूर्ण नारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए जो कुछ कहा उसपर मैं अभी तक सोच भी नहीं पाया था। यह सत्य था कि इस युद्ध में अर्जुन ने एक ऐसा आग्नेय अस्त्र मारा था जिसके धूम ने हम सबको अचेत कर दिया था। उसी अचेतावस्था में किसीने हमारे अधोवस्त्र छोड़कर सारे वस्त्र उतार लिये। इस कार्य के पीछे उसकी क्या मंशा थी, हमने कभी जानने की चेष्टा नहीं की। हम तो इसीमें प्रसन्न थे कि अवधि के पूर्व ही पांडव पहचान लिये गए। उन्हें पुन: वनवास भोगना पड़ेगा।

किंतु माला ने हमारे अंदर के जिस तार को छुआ उससे सारा तन झनझना उठा। फन काढ़ती पांचाली मेरे मानस में उतर आई। शायद उसीने माला के माध्यम से व्यंग्य बाण मारा था। मेरी आंतरिक तिलमिलाहट झल्लाहट बन निकली, "अनर्गल बातें बंद करो। संध्या डूबने को आई, पर अभी तक वृषसेन का पता नहीं है। तुमने उसे नियंत्रण के बाहर कर रखा है।" माला मेरी प्रकृति को खूब समझती थी। उसने समझ लिया कि कहीं का क्रोध कहीं निकल रहा है। वह चुपचाप खिसक चली। मैं अंत:पुर के ऊपरी कक्ष में था। उसीके वातायन से पसीजते आकाश के उमड़ते बादलों को देखता रहा। अँधेरा बढ़ता गया। जब बिजली चमकती, मुझे द्रौपदी चिढ़ाती और जब बादल गरजता, मुझे भीम दहाड़ता-सा लगता। आर्द्रता से बोझिल हिमानी समीकरण के स्पर्श के बाद भी मेरी धमनियों में उष्णता बढ़ती गई।

आज वृषसेन के लिए कुशल नहीं, इसका आभास लगभग सभी अधिकारियों को हो गया था। उसमें से कई राजपथ पर दूर-दूर तक खड़े हो कुमार की प्रतीक्षा कर रहे थे। उसी समय मुझे कई रथ एक साथ आते दिखाई दिए। संभव है, ये कहीं दूसरी ओर जा रहे हों; पर जब सभी ने मेरे उद्यान में ही प्रवेश किया तब मेरा चकित होना स्वाभाविक था।

आश्चर्य कितनी सरलता से क्रोध को निगल गया। वृषसेन को देखते ही बिना उसे डाँटे मैंने पूछा, ''और कौन लोग तुम्हारे साथ हैं?''

''हस्तिनापुर के पितृव्य पधारे हैं।'' इतना कह वह चुपचाप मेरे सामने से हट गया। लगता है, मार्ग में ही अधिकारियों ने उसे बता दिया था कि मैं नाराज हूँ।

मेरी उत्कंठा मुझे उद्यान तक खींच ले आई। मैंने देखा, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और कई अमात्य भी आए हैं।

''लगता है, जैसे आप लोग युद्ध का निमंत्रण देने पधारे हैं।'' मैंने व्यंग्य किया और अतिथिभवन में उनकी व्यवस्था के लिए आदेश दिया।

''तुम लगभग मेरे निष्कर्ष के निकट हो। इसे युद्ध का ही निमंत्रण समझो।''

दुर्योधन के इस कथन पर मैंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, ''एक युद्ध में तो तुमने हमें अर्धनग्न करा दिया था। अब क्या चाहते हो, हमारे अधोवस्त्र भी उतरवा लिये जाएँ?'' इस ठहाके को शीघ्र ही अंधकार पी गया। स्पष्ट था कि तनाव में ही लोग पधारे हैं।

शीत की यह रात जमती गई, आकाश टपकता गया। भोजनोपरांत अतिथि-भवन में ही बातें आरंभ हुईं। आरंभ में दुर्योधन ने उन गतिविधियों की चर्चा की जो गत दिनों हुई थीं। उसने बताया कि पांडवों का कहना है कि अर्जुन ने जिस समय अपना गांडीव उठाया था उस समय अज्ञात की अवधि समाप्त हो चुकी थी।

''किंतु तुम्हारे विचार से क्या है?'' मैंने दुर्योधन से पूछा।

''मेरे विचार से तो वह अवधि कुछ घड़ी शेष थी।'' दुर्योधन बोलता रहा, ''पर पितामह का कहना है कि पांडव ठीक कहते हैं।''

''अरे, यह शुद्ध ज्योतिष का प्रश्न है। इस संबंध में आपने सुवर्चा से क्यों नहीं पूछा?''

''उस खुर्राट ब्राह्मण ने भी पांडवों का ही समर्थन किया।'' बड़ी उपेक्षा से उसने कहा।

मैं मौन हो सोचता रहा। सुवर्चा का निर्भीक व्यक्तित्व एक तड़ित तरंग-सा हमारे सामने आया और लुप्त हो गया। दुर्योधन बोलता गया, ''अब पांडव उपप्लव्य

नगरी में रह रहे हैं। विराट की पुत्री उत्तरा से अभिमन्यु का विवाह हो गया है। पांचाल और विराट की संपूर्ण सैन्य शक्ति उनके साथ है। द्रुपद ने अन्य राजाओं से भी संपर्क स्थापित करा दिया है।''

''किसलिए?'' मेरी उत्सुकता जागी।

''लगता है, वे युद्ध की तैयारी कर रहे हैं।'' शकुनि ने कहा, ''साथ ही संधि के लिए द्रुपद का पुरोहित भी आया था। हम लोग तो दो टूक उत्तर दे देना चाहते थे, पर हमारे वृद्धजन यह संधिवार्त्ता समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने पुरोहित से कहा, 'आप पधारें, महाराज। हम लोग संधिवार्त्ता के लिए संजय को भेजेंगे।' ''

''तो क्या संजय गए थे?'' मैंने पूछा। इसी बीच शीत पर फिसलता प्रभंजन कक्ष में आया और दीपदान की एक शिखा बुझ गई। पर हमारी बातों के क्रम में बाधा नहीं पड़ी। दुर्योधन ने संजय के उपप्लव्य जाने और संधिवार्त्ता का विस्तृत विवरण दिया और अपनी इच्छा बताई कि हम संधि के पक्ष में नहीं हैं।

''तब उनसे स्पष्ट कह देना चाहिए।'' मैंने कहा।

''हम लोगों ने कह दिया है; किंतु हमारे वृद्ध नहीं मानते। इससे पांडवों का मन बढ़ता जा रहा है।'' मामा का स्वर थोड़ा उग्र हुआ, ''यह क्या बात है कि एक ओर संधि की भी चर्चा की जाए और दूसरी ओर युद्ध की तैयारी भी! अब कुछ ही दिनों में कृष्ण भी संधि का प्रस्ताव लेकर आने वाले हैं।''

मेरे मन पर कृष्ण का आतंक था! उनका नाम सुनते ही मैंने अपना सिर थाम लिया।

''क्या सोच में पड़ गए?'' मामा बोला।

''कुछ नहीं। सोचता हूँ, उस व्यक्ति की बुद्धि से पार पाना कठिन है।''

''बस, उसके नाम से ही डर गए!'' मामा ने मेरी पीठ पर हाथ रखा, ''तुम्हारे तैयार होने की देर है। कृष्ण का सारा आतंक मिट्टी के ढेले की तरह चूर हो जाएगा।'' मामा के कहने से ऐसा लगा कि उसने कोई योजना फिर बना ली है।

''मामा ठीक कहते हैं, कर्ण। यदि तुम अंत तक साथ देने का संकल्प करो तो कोई भी वस्तु हमारे प्रतिकूल नहीं हो सकती।'' दुर्योधन ने कहा।

मुझे हँसी आ गई, ''तुम्हें मेरी नैतिकता को इतना ठोंकने-बजाने की आवश्यकता क्यों पड़ रही है? अरे, कर्ण ने एक बार जो संकल्प कर लिया सो कर लिया। वह जय-पराजय की चिंता नहीं करता।'' यह मैं नहीं वरन् मेरा चरित्र बोला था। सभी 'साधु-साधु' कर मेरी प्रशंसा करने लगे।

हस्तिनापुर में कृष्ण कल या परसों पधारने वाले हैं और मैं आज ही आ गया हूँ। मेरी प्रतीक्षा और पहले की जा रही थी। संजय उपप्लव्य से लौट आया है। उसके समाचार से धृतराष्ट्र व्यग्र हो उठे हैं। सुना, कल रात भर वे विदुर से विचार-विमर्श करते रहे। नींद स्वयं उनकी प्रतीक्षा करती रह गई और सवेरा हो गया। इस समय वे सो रहे हैं; जबकि एक घड़ी बाद ही मंत्रणा परिषद् बुलाई गई है।

आज की मंत्रणा परिषद् की उपस्थिति लगभग पूर्ण थी। विदुर, द्रोण, कृप, पितामह तथा कौरव बंधुओं के अतिरिक्त सभी अमात्य एवं सेनाधिपति उपस्थित थे। संजय ने अपनी संधियात्रा का विवरण दिया और कहा कि अर्जुन ने कुछ विशेष बातें दुर्योधन और कर्ण के लिए कही हैं। इतना उनके मुख से निकल तो गया, पर आगे कहने में वे सकपकाने लगे।

"कहिए-कहिए, आप निस्संकोच कहिए। हम अर्जुन की हर बात सुनने को तैयार हैं।" दुर्योधन ने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा, जैसे मेरी ओर से भी वही बोल रहा हो। और बात भी ठीक थी।

"हमारा काम आग लगाना नहीं है।" संजय बोले।

"यदि दूसरे लगाना चाहते हैं तो आप क्या करेंगे?" दुर्योधन ने कहा।

"धधकती आग पर उत्तरीय मत ओढ़ाइए, नहीं तो वह भी भस्म हो जाएगा।" यह ध्वनि मेरी थी।

"हाँ-हाँ, व्रण को बह जाने दीजिए, भीतर-ही-भीतर सड़ने मत दीजिए।" मामा ने कहा। परिषद् का अधिकांश स्वर हमारे पक्ष में था।

अब संजय को सत्य का उद्घाटन करना पड़ा, "अर्जुन ने कहा है कि मैं और कृष्ण जिस क्षण चाहेंगे, कौरवों का विनाश करके ही दम लेंगे। हमारे धनुष से स्वयं टंकार उठ रही है। बाण निकल-निकलकर तरकश से झाँक रहे हैं। हमारा अंतर हमें युद्ध के लिए बाध्य कर रहा है। फिर भी हम संधि चाहते हैं।"

"बातें करते हैं युद्ध की और चाहते हैं संधि! पांडवों का अभी भी वही पुराना स्वर है। रस्सी जल गई, पर ऐंठन नहीं गई।" दुर्योधन ने कहा। "हमें धमकी देकर कोई झुका नहीं सकता। यदि किसीका धनुष स्वयं टंकार भर रहा है तो हमारी भुजाएँ फड़क रही हैं।" मैंने कहा।

मेरे इतना कहते ही पितामह जैसे जल उठे, "अरे सूतज! तू ही सारे अनिष्ट के मूल में है। अर्जुन और कृष्ण की सम्मिलित शक्ति का अनुमान कभी तेरी अहम्मन्यता कर नहीं सकती। विराट में मिली पराजय के समय तेरी फड़कती भुजाएँ कहाँ थीं? गंधर्वों ने जब दुर्योधन को बंदी बनाया था तब तेरी फड़कती

भुजाएँ कहाँ थीं ?'' मेरे प्रति पितामह का पूर्वग्रह इस समय भी भभका।

मेरे क्रोध ने भी अपने संकोच का उल्लंघन किया, ''मेरे बोलने से ही आपकी गंभीरता वय की सीमा लाँघकर मुझे दबा देने की चेष्टा करती है। किंतु स्मरण रखिए, पितामह, व्यक्ति का तभी तक आदर होता है जब तक वह स्वयं को आदरणीय बनाए रहता है; अन्यथा मैं आपको···'' मेरा इतना कहते-कहते दुर्योधन ने अपने हाथों से मेरा मुँह बंद कर मुझे बैठा दिया। मैं अब भी क्रोध से काँप रहा था। पितामह बिना कुछ कहे सभाकक्ष से चले गए।

धृतराष्ट्र का स्वर भारी था, ''मेरे प्यारे बेटो! मेरी आंतरिक इच्छा है कि तुम लोग किसी तरह यह संधि-प्रस्ताव स्वीकार कर लेते। इसीमें तुम्हारी भलाई है और तुम्हारा गौरव भी; क्योंकि संधिवार्त्ता स्वयं पांडवों ने आरंभ की है और वे मात्र पाँच ग्राम लेकर संतुष्ट हो जाना चाहते हैं।''

''जानते हैं, क्यों संतुष्ट होना चाहते हैं ?'' उनकी बात पूरी होने के पहले ही मैं बोल पड़ा, ''केवल इसलिए कि वे हमारी बढ़ती हुई शक्ति से घबरा गए हैं।''

''तुम गलत सोचते हो, कर्ण!''

''मैं ठीक सोचता हूँ, महाराज!''

''कहीं ऐसा न हो कि जीवन के अंत में मुझे आर्यावर्त का विनाश ही देखना पड़े।'' धृतराष्ट्र का स्वर भर्रा गया।

''देखने की क्षमता होगी तब न आप देखेंगे।'' परिहास की आँधी बनकर यह आवाज किधर से आई और धृतराष्ट्र की गरिमा को उड़ाती चली गई, मुझे पता नहीं।

वह अपना सिर पकड़कर बैठ गए। बड़े हताश हो बोले, ''आप लोगों के मन में जो आए सो कीजिए।''

''आप विश्वास कीजिए, हम उनका उचित ही सम्मान करेंगे।'' इस बार मामा बोला। पर उसके 'उचित' का अर्थ शायद ही कोई समझ पाया।

कृष्ण के स्वागत की तैयारी आरंभ हो गई। जिस मार्ग से वे आने वाले थे उस मार्ग पर दूर-दूर तक व्यवस्था के नाम पर दुर्योधन ने गुप्तचरों को लगाया; क्योंकि इस बात की सूचना मिल चुकी थी कि उपप्लव्य से चलते समय वे योजनाबद्ध रूप से मार्ग में रुकते और युद्ध का विष बीज बोते चले आ रहे हैं। हमें समीची ने बताया कि कुशस्थली में कृष्ण ने जनता को संबोधित करते हुए कहा था कि हम युद्ध नहीं चाहते। पांडवों को यदि पाँच ग्राम भी मिल जाएँ तो भी वे जी-खा लेंगे। किंतु कौरव इसे स्वीकार कर पाएँगे, इसमें हमें संदेह है।

यह भी समाचार हम लोगों को मिल चुका था कि द्रौपदी किसी भी दशा में संधि नहीं चाहती। उसने कृष्ण से चलते समय कहा था, 'मेरे इन बिखरे हुए केशों को देखो और फिर कुछ निश्चित करो। पांडव भले ही न लड़ना चाहें, पर मेरे बेटे, मेरा भाई और मेरे बूढ़े पिता उस अग्नि में सबको भस्म करके ही दम लेंगे, जिसे मैं तेरह वर्षों से अपने सीने में दबाए हुए हूँ।' इतना कहकर वह रोने लगी थी। तब कृष्ण ने उसे आश्वासन दिया था, 'कृष्णा, तुम्हारे ये आँसू व्यर्थ नहीं जाएँगे। आर्यावर्त में युद्ध की ज्वाला धधकेगी। युद्धक्षेत्र में कौरवों के शव कुत्तों और श्रृगालों के आहार बनेंगे।'

इससे स्पष्ट था कि कृष्ण की यह संधियात्रा मात्र एक नाटक है। राजनीतिक चाल है और एक ऐसा कुचक्र है जिसके जाल में हम भले ही न फँसें, पर जनता निश्चित रूप से फँस जाएगी। यह सबकुछ सोचते हुए हमने अपनी भूमिका भी निश्चित की।

सात्यकि के साथ कृष्ण आए। उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। दु:शासन का प्रासाद दुर्योधन के प्रासाद से भी विशाल और भव्य था। उसीको अच्छी तरह सजाया गया था। वहीं उनके ठहरने की व्यवस्था थी। किंतु वे रथ से उतरते ही सीधे धृतराष्ट्र से मिलने गए। घंटों इधर-उधर की बातें कीं और हँसते रहे। विचित्र थी उनकी खिलखिलाहट; जैसे न कोई तनाव हो, न व्यग्रता और न घुटन। नितांत सामान्य भाव से अभिवादन करके निकले।

अब वे कौरवों के बीच आए। सबसे प्रेम से मिले। मैं कुछ दूर था। देखते ही बोल पड़े, "अरे, आप भी यहीं हैं।" फिर हँसते हुए उन्होंने मुझे गले लगाया। इसके बाद दुर्योधन ने उनसे दु:शासन के प्रासाद में चलने का आग्रह किया और कहा कि वहीं भोजन की व्यवस्था है। उन्होंने सत्कार के प्रति आभार व्यक्त किया और विनीत भाव से कहा, "राजन्! आज मैं आपका अतिथि नहीं हूँ, वरन् राजदूत हूँ। राजदूत का धर्म है कि जब तक वह अपने कर्तव्य का पालन न कर ले तब तक भोजन ग्रहण न करे। यों आपका राजभवन मेरे लिए पराया तो नहीं है।" फिर उनके अधरों की निर्झरणी से सभी प्रभावित हुए। इसी बीच उद्यान से आती समीची उन्हें दिखाई पड़ी। उन्होंने संकेत से उसे अपने पास बुलाया। उसकी आकृति का रंग जैसे उड़ गया। वह सहमी-सहमी निकट आई। "मैंने तुम्हारे राजन् का भोजन इसलिए नहीं स्वीकार किया कि मैं राजदूत हूँ। पहले हमें दूत-धर्म का पालन करना चाहिए। क्यों? मैंने ठीक कहा न?" कितना व्यंग्य था कृष्ण के इस पूछने में! बेचारी गड़ सी गई। हमारी नैतिकता स्वयं निर्वसन हो हमारे सामने खड़ी हो

गई और पूछने लगी कि भोजन में विष देने की व्यवस्था तो नहीं है।

वे हँसते रह गए और अपने रथ पर बैठकर विदुर के आवास की ओर चले गए। हम देखते रह गए। दुःशासन का सजा-सजाया भवन प्रतीक्षा करता रह गया।

मेरे मन ने कहा, 'देखा, कितना चतुर राजनीतिज्ञ है! दूत-धर्म की आड़ में उसने इस राजप्रासाद का जल तक ग्रहण नहीं किया।'

"लगता है, भोजन के बाद कुंती और विदुर से मंत्रणा करते हुए कृष्ण रात वहीं बिताएँगे।" मामा ने कहा।

"देखो, वह मायावी वहाँ कौन सी माया रचता है!" दुर्योधन बोला।

इसी तरह की बातें करते हम लोग उद्यान से प्रासाद की ओर लौटे। संध्या होते-होते दुर्योधन के सभाकक्ष में ही हमारा एक सम्मिलन और हुआ। विषय स्पष्ट था। कल प्रातः राजसभा में जब कृष्ण संधि-प्रस्ताव रखेंगे तो हमें कौन सी नीति अपनानी चाहिए। मुझे स्पष्ट लगा कि कृष्ण की बुद्धि का, उनकी वक्तृता का और उनकी मायावी अभिव्यक्ति का भय सबको है।

मामा ने कहा, "दुर्योधन, उसके वाग्जाल से सजग रहना और अंत तक अपनी माँग पर डटे रहना।"

"आप तो रहेंगे ही न?" दुर्योधन ने मामा से पूछा।

"मैं तो रहूँगा अवश्य, पर जहाँ तक हो सकेगा, बोलूँगा नहीं। नहीं तो उसके यह कहते जरा भी देर नहीं लगेगी कि आप क्यों टाँग अड़ाते हैं। यह हस्तिनापुर का पारिवारिक मामला है। इसमें आपको क्या लेना-देना? आपके लिए तो जैसे पांडव वैसे ही कौरव।" मामा कुछ सोचता रहा, फिर बोलने लगा, "चौसर के खेल के समय यदि यह व्यक्ति होता तो या तो खेल ही न होने पाता या खेलने न देता।"

"जब आपकी यह स्थिति है तब भला मैं किस अधिकार से बोलूँगा?" मैंने कहा।

"तुम ठीक सोचते हो, कर्ण! मेरी राय से तो तुम्हें रहना ही नहीं चाहिए। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि दुर्योधन के लिए विश्वस्त होते हुए भी तुम इस परिवार के नहीं हो। अपनी एक मुसकराहट से वह तुम्हारा मुँह बंद कर देगा। और दूसरा यह कि पितामह तुमसे सबसे अधिक जले-भुने हैं। तुम्हारे बोलते ही वे कुछ ऐसा कह देंगे कि तुम संतुलन खो बैठोगे।" मामा की यह बात तर्कसंगत थी और उपयोगी भी।

"तो आपके विचार से कर्ण को यहाँ से चले जाना चाहिए?" दुर्योधन ने मामा से पूछा।

उसने तत्क्षण उत्तर दिया, ''नहीं। सभाकक्ष के बाहर का सारा कार्य कर्ण को सौंपना चाहिए।''

''तो क्या मैं कृष्ण की वाक्-शक्ति का प्रहार सहने के लिए एकाकी रह जाऊँगा?'' दुर्योधन के स्वर में निराशा से अधिक घबराहट थी।

''नहीं जी, हम तो हैं ही।'' इस बार मैंने कहा, ''और तुम्हें बोलना ही क्या है! तुम स्पष्ट कहना कि युधिष्ठिर ने चौसर स्वेच्छा से खेला था—और वे बालक नहीं थे। यदि हार गए तो हम क्या करें? यदि वे जीतते तो हमारी वही गति होती जो आज उनकी है। यदि पाँच ग्राम की बात चलाएँ तो तुम्हें कहना चाहिए कि पाँच ग्राम देने का प्रश्न नहीं, प्रश्न है स्थायी शत्रु को अपनी सीमा में बसाने का। यदि पाँच गाँव वे चाहते हैं तो क्या राजा विराट उन्हें नहीं दे सकते? द्रुपद उन्हें नहीं दे सकते? कृष्ण! मैं तुम्हारी राजनीति अच्छी तरह समझता हूँ। तुम अँगुली पकड़कर बाँह पकड़ना चाहते हो।''

मेरे इतना कहते ही मामा मेरी पीठ ठोंकता उछल पड़ा, ''क्या बात है! तुम्हारा तर्क तो निरुत्तर कर देनेवाला है।'' फिर उसने दुर्योधन को सजग करते हुए कहा, ''जहाँ अनुभव करना कि मैं दबाया जा रहा हूँ वहाँ अपने साथियों के साथ सभा का बहिष्कार कर बाहर निकल आना। बाहर की सारी व्यवस्था कर्ण पहले से तैयार कर रखेगा।''

''बाहर की व्यवस्था!'' हममें से किसीने कुछ नहीं समझा।

शकुनि ने हमारे निकट आकर धीरे से समझाया, ''बाहर की गंभीर व्यवस्था रखनी पड़ेगी। प्रबल सैन्य शक्ति लगानी चाहिए। कृष्ण अकेला है। सात्यकि कुछ कर नहीं सकेगा। यदि उसे बंदी बना लिया जाए तो पांडव बिना मारे मर जाएँगे।''

''पर दूत को बंदी बनाना दूत-धर्म के विरुद्ध है।'' मैंने कहा।

मामा हँसने लगा, ''युद्ध और प्रेम में कुछ भी धर्म-विरुद्ध नहीं होता।''

मैंने अनुभव किया कि जब हजारों षड्यंत्रकारी मरे होंगे तब एक मामा पैदा हुआ होगा।

मेरे जीवन के ऐतिहासिक दिन का यह कोलाहलपूर्ण सवेरा था। भीतर सभा चल रही थी। मैं बाहर उद्यान के प्रशस्त प्रांगण में टहल रहा था। राजभवन के परिसर के बाहर भी जनसमूह एकत्र होने लगा था। मामा की योजना के अनुसार सभाकक्ष के प्रवेश-द्वार के निकट ही सैनिक व्यूह में सन्नद्ध थे।

सभाकक्ष की आवाज स्पष्ट तो सुनाई नहीं पड़ती थी, किंतु बीच-बीच में होती करतलध्वनि, 'साधु-साधु' का स्वर या कृष्ण का उन्मुक्त हास छलककर

मुझ तक भी आ जाता था। मेरी संवेदनशीलता इन ध्वनियों का अर्थ भी निकालती चलती थी।

समय बढ़ता गया। सभा की गंभीरता बढ़ती गई। परिणाम की उत्सुकता में परिसर के बाहर की भीड़ भी बढ़ती गई। अचानक गंभीर कोलाहल हुआ और ऐसा लगा जैसे कुछ लोग उठकर बाहर आ रहे हैं। मैं सभा के द्वार की ओर लपका। दुर्योधन, दु:शासन आदि आवेश में आते दिखाई दिए। सैनिकों को सावधान किया गया।

बाहर निकलकर दुर्योधन सीधे मेरे पास आया। धीरे से बोला, ''सब ठीक है न?''

मैंने संकेत से उसे संतुष्ट किया।

उसने फिर पूछा, ''तुम्हारा रथ कहाँ है?''

''उसे तो तैयार नहीं किया है।'' मैंने कहा।

''शीघ्र सारथि बुलाकर अपना रथ तैयार रखो। हो सकता है, उसका पीछा करना पड़े। देखो, जाल में आया मृग निकलने न पाए।'' वह अत्यधिक घबराया हुआ था।

मैंने अपने सारथि को बुलवाया और रथ तैयार करने को कहा।

''देखो, वह दासीपुत्र आ रहा है।'' सभाद्वार की ओर लक्ष्य कर दुर्योधन ने कहा। मैंने दृष्टि घुमाई, विदुर दो अन्य सहयोगियों के साथ आ रहे थे।

''आपको महाराज स्मरण कर रहे हैं।'' उन्होंने दुर्योधन से कहा।

''करने दीजिए स्मरण।'' दुर्योधन ने झल्लाकर कहा।

''राजमाता भी आपको स्मरण कर रही हैं।'' विदुर ने कहा।

''क्या वह भी सभा में आई हैं?'' चकित हो दुर्योधन ने पूछा।

''आई नहीं, बुलाई गई हैं।''

इतना सुनते ही दुर्योधन पुन: सभाकक्ष की ओर बढ़ा। पीछे-पीछे उसके और भी बंधु थे।

थोड़ी ही देर बाद 'पकड़ो-पकड़ो, मारो-मारो' की भयानक आवाजें आने लगीं। सैनिकों ने बढ़कर सभाद्वार घेर लिया। पर अद्‌भुत था वह व्यक्तित्व! जैसे मेघों को चीरकर बिजली आ रही हो, हिरणों के बीच से सिंह निकल रहा हो। वह अग्निबाण-सा चक्र घुमाता और दहाड़ता सभाकक्ष से निकल आया, ''मूर्खो! आग से मत खेलो। राजदूत को बंदी बनाने की कुचेष्टा अधर्म है। तुम्हारे पापों की वासना ही तुम्हें निगल जाएगी।'' मात्र वे थोड़े से वाक्य मुझे स्मरण हैं जिन्हें वह

दहाड़ता जा रहा था। उसके नेत्रों से आग फूट रही थी। उसकी ध्वनि में ज्वार के सिंधु का गर्जन था और बीच-बीच में फूटते उसके अट्टहास में बादलों की गड़गड़ाहट थी। एक विचित्र सम्मोहन था उसके व्यक्तित्व में। सबके सब उसे देखते ही रह गए और वह निकल गया।

जब वह रथ में बैठने लगा तो उसकी चीखती आवाज पुनः सुनाई पड़ी, ''मुझे बंदी बनानेवाले मूढ़ो! तुम स्वयं अपनी अज्ञता में बंदी हो। तुम्हारी आँखों पर स्वार्थ की पट्टियाँ बँधी हैं। अनर्थ और विनाश के संभावित भूकंप को तुम देख नहीं पा रहे हो।''

एक ऐंद्रजालिक छलना थी, जो सब पर छा गई। सब किंकर्तव्यविमूढ़-से रह गए। मुझसे जैसे किसीने कहा, 'अरे, वह तो जा रहा है।' मैंने अपना रथ उसके पीछे दौड़ाया। मार्ग पर खड़ी भीड़ उसकी जय-जयकार कर रही थी और मैं उसका पीछा कर रहा था।

नगर के बाहर होते-होते मैंने एक बाण उसे खींचकर मारा। वह उसके बाईं ओर से सनसनाता निकल गया।

उसने मुझे पीछे मुड़कर देखा और रथ रोककर धरती पर कूद पड़ा। अपनी मायावी हँसी के बीच बोला, ''तुम मुझे मारना चाहते हो, मारो मुझे; किंतु जब कालदेवता तुमसे पूछेगा तो उत्तर देना।'' वह फिर खिलखिला पड़ा। मैं उसका मुँह देखता रह गया, मानो पूछ रहा होऊँ कि क्या पूछेगा कालदेवता?

''कालदेवता पूछेगा तुमसे कि तुमने अपने भाइयों के समर्थक को ही मार डाला। तुम कितने कृतघ्न हो!''

''मेरा कोई भाई नहीं है। मैं पालित सूतपुत्र हूँ।'' मैंने कहा।

''यही तो विडंबना है कि तू सूर्यपुत्र होकर भी स्वयं को सूतपुत्र समझता है, राधेय समझता है; किंतु तू है वास्तव में कौंतेय। तेरी माँ कुंती है।'' इतना कहकर वह रहस्यमय हँसी हँसने लगा। थोड़ी देर बाद उसने कुछ संकेतों और कुछ शब्दों के माध्यम से मेरे जन्म की कथा बताई।

''मुझे विश्वास नहीं होता, माधव!'' मैंने कहा।

''मैं समझ रहा था कि तुम विश्वास नहीं करोगे। किंतु यह भलीभाँति जानो कि कृष्ण राजनीतिक हो सकता है, पर अविश्वस्त नहीं।'' उसने अपनी मायावी हँसी में घोलकर एक रहस्यमय पहेली मुझे पिलानी चाही, जो सरलता से मेरे गले के नीचे उतर नहीं रही थी। वह अपने प्रभावी स्वर में बोलता गया, ''तुम कुंती पुत्र हो। यह उतना ही सत्य है जितना यह कहना कि इस समय दिन है, जितना यह

कहना कि मनुष्य मरणधर्मा है, जितना यह कहना कि विजय अन्याय की नहीं बल्कि न्याय की होती है।''

''तो क्या मैं क्षत्रिय हूँ ?'' एक संशय मेरे मन में अँगड़ाई लेने लगा, ''आचार्य परशुराम ने भी तो कहा था कि भगवान् भूल नहीं कर सकता। तू कहीं-न-कहीं मूल में क्षत्रिय है।...तब लोगों ने सूतपुत्र कहकर मेरा अपमान क्यों किया ?'' मेरा मनस्ताप मुखरित हुआ, ''जब मैं कुंतीपुत्र था तो संसार ने मुझे सूतपुत्र कहकर मेरी भर्त्सना क्यों की ?''

''यह तुम संसार से पूछो।'' हँसते हुए कृष्ण ने उत्तर दिया।

''और जब संसार मेरी भर्त्सना कर रहा था तब कुंती ने उसका विरोध क्यों नहीं किया ?''

''यह तो तुम कुंती से पूछो।'' इस बार वे और जोर से हँसे। कुंती से भावी बातचीत की पीठिका निर्मित कर और एक विचित्र माया फैलाकर वे चल पड़े।

□

❦ पंद्रह ❦

मेरे मन में संशय ने अनेक घटनाओं का समर्थन पाया। आज की आराधना में मेरा चित्त एकाग्र न हो सका। प्रतियोगिता के समय मूर्च्छित होती हुई कुंती, अधिरथ की मृत्यु पर आई लड़खड़ाती हुई कुंती और हस्तिनापुर की ममत्व से निहारती कुंती मेरे मानस में उतरती और डूबती रही। मेरी अर्चना चलती रही। रविवार का दिन था, आराधना का विस्तार होना स्वाभाविक था। सूर्य मध्याह्न की ओर बढ़ रहा था। मैं ध्यानावस्थित था। पूजन का अंतिम मंत्र 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।' पढ़ते हुए मैंने आँखें खोलीं। सामने एकाकी कुंती खड़ी थी। उसकी दृष्टि अपरिमित संकोच से गड़ी जा रही थी।

मैं उसे देखते ही बोल पड़ा, ''अरे राजमाता, आप!''

''राजमाता नहीं, बेटे, मात्र माता कहो।'' उसने बड़े बोझिल स्वर से कहा।

''तू मेरी माता! नहीं, नहीं, तू मेरी माता नहीं हो सकती। मेरी माता तो राधा थी, जिसने मुझे पाला-पोसा और अपना दूध पिलाकर इस योग्य किया कि तू भी आज मुझे पुत्र स्वीकार करने चली आई।'' मैं व्यंग्यात्मक हँसी हँस पड़ा, ''यदि तुझे आना ही था तो राजभवन में आती। इस चिलचिलाती धूप में यहाँ आने का कष्ट क्यों किया?''

''मैंने सुना है कि पूजन के बाद तू याचक को मुँहमाँगी भिक्षा देता है।''

''ओह! तो आप याचिका बनकर आई हैं। माँगें, राजमाता, क्या माँगती हैं?''

''मैं अपना मातृत्व माँगती हूँ। आ जा, वत्स! मेरे वक्ष से लग जा।'' उसके भरे गले के साथ ही उसके दोनों हाथ आलिंगन के लिए खुल गए।

''कैसा मातृत्व? कहाँ रहा मातृत्व? जब तूने जन्म दिया था, जब तू मेरी माँ

थी। ज्यों ही तू ने मुझे गंगा में प्रवाहित कर दिया, तूने अपने मातृत्व को भी जल-समाधि दे दी। अब इस गंगा में से तेरे मातृत्व को खोजकर तुझे कैसे वापस दूँ?''

''वह गंगा में नहीं मिलेगा, वत्स! अपने धड़कते हुए हृदय पर हाथ रखकर देख, मेरे हृदय में मेरे हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है या नहीं। तू चाहे मुझे माँ कह या न कह, पर तेरी धमनियों में मेरा ही रक्त है।'' फिर उसने मेरे जन्म की कथा बताने का प्रयास किया।

मैंने उसे रोकते हुए बताया, ''मैं सब माधव से सुन चुका हूँ। किंतु एक बात पूछूँ?''

''क्या?''

''इस समय तुझे मेरे हृदय की धड़कन में अपने हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है। मेरी धमनियों में तुझे अपना रक्त दिखाई देता है। तू मुझमें अपने बेटे को देखती है। पर उस समय तुम्हारी ममता कहाँ चली गई थी, जब शस्त्र-प्रतियोगिता में मुझे 'सूतपुत्र' कहकर अपमानित किया गया था? उस समय तुम्हारी ममता कहाँ चली गई थी जब राजसूय यज्ञमंडप से मुझे कुल और गोत्रविहीन कहकर निकाला जा रहा था। जब सारा समाज मुझे पितृहीन जारज पुत्र कहकर मुझपर थूक रहा था तब तुम्हारा मातृत्व इतना निष्ठुर, इतना कठोर और पाषाणवत् क्यों हो गया था?''

''इसमें मेरा कोई दोष नहीं, बेटे। विश्वास करो, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। परिस्थितियों ने मुझे लाचार कर दिया था। मैं विवश थी!'' वह लगभग बिलखने को हुई।

''तू विवश नहीं थी, लाचार नहीं थी, वरन् नितांत दुर्बल थी। परिस्थितियाँ तुझे दबा सकती थीं, पर तू परिस्थितियों को दबा न सकी। तू अपने पुत्र को प्रवाहित कर सकती थी, पर स्वयं गंगा में डूबकर मर न सकी।''

''मैं जीवन का मोह छोड़ नहीं पाई, बेटा। सचमुच मैं दुर्बल हूँ।...परिस्थितियों के अनेक आघातों को सहते हुए भी जिसका व्यक्तित्व चट्टान की तरह अडिग है, उसकी माँ को दुर्बल तो नहीं होना चाहिए।''

मेरा अहं उभर आया, ''क्या तू सचमुच मेरी माँ है? ऐसा तो नहीं लगता। भविष्य को मेरी माँ को कभी भी तिरस्कृत नहीं करना चाहिए, पर तू तो तिरस्कृत होती रहेगी। तू ने अपने पुत्र को प्रवाहित कर जारज पुत्रों के पैदा करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब कोई माता ऐसा पुत्र पैदा कर फेंकते हुए बड़े अभिमान से कहेगी कि राजमाता कुंती ने भी तो ऐसा किया था।''

मेरी बातें सुनते-सुनते वह एकदम व्यग्र हो गई। उसकी आकृति से घबराहट

का आभास हुआ। मैंने उसे प्रकृतिस्थ करते हुए कहा, ''घबराइए मत, राजमाता! मैं सत्य कह रहा हूँ, सत्य का तेज सूर्य के तेज से भी प्रखर होता है। उसके संवरण के लिए धैर्य और धर्म की छाया चाहिए।'' मैंने अनुभव किया कि कुंती की घबराहट बढ़ती जा रही है। बात दूसरी ओर मोड़ दी, ''तो आप याचिका बनकर आई थीं न?''

''आई तो थी। माँगा भी, पर अपने पुत्र को पा न सकी।'' बड़ी कातरता से वह बोली।

''जब वह तुम्हारा रह ही नहीं गया तो तुम उसे पातीं कैसे?'' मैंने कहा, ''जैसे परिस्थितिवश तुमने उसे छोड़ दिया वैसे ही परिस्थितियों ने उसे दूसरों का बना दिया।''

''तो क्या तू अपने भाइयों के विरुद्ध असि उठाएगा? इतिहास क्या कहेगा, बेटा!''

''कहेगा क्या! सिवा इसके कि उसकी मित्रता और संकल्पबद्धता की वेदी पर उस मातृत्व की बलि चढ़ा दी, जिसने उसे सदा तिरस्कृत किया था।''

इतना सुनते ही उसकी आँखों में आँसू आ गए। उसने अब आँचल फैलाकर अपने पुत्रों के अभयदान की भीख माँगी। मेरा दानवीर जाग उठा। वह देता गया, कुंती माँगती गई। सर्वप्रथम मैंने नकुल और सहदेव को अभयदान दिया। तब वह बोली, ''ये तो माद्री के गर्भ से पैदा हुए हैं। क्या तू अपने सहोदर भाई का ही वध करेगा?'' अब मैंने युधिष्ठिर को भी अभयदान दिया; किंतु मैं भीम और अर्जुन को किसी प्रकार छोड़ने को तैयार नहीं था। वह सचमुच रो पड़ी। उसने बिलखते हुए पूछा, ''क्या अब पांडव पाँच नहीं रह जाएँगे?''

मैं कुछ क्षणों तक उसे देखता रहा। फिर मेरे भीतर का एक पाषाणखंड पिघलकर और गिरा, ''अच्छा जा, मैं वचन देता हूँ कि मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा जिससे तेरे पांडवों की संख्या पाँच से कम हो।''

वह उत्फुल्ल हो उठी, ''क्या तू अर्जुन को भी अभयदान देता है?''

''नहीं, ऐसी बात नहीं!'' मैं चीख पड़ा, ''उसके वध के लिए तो मैं संकल्पबद्ध हूँ।''

''तब मेरे पांडव फिर पाँच कैसे रहेंगे?'' मुसकराहट पुनः व्यग्रता में बदली।

मैंने उससे कहा, ''अर्जुन और मेरे संघर्ष में यदि अर्जुन विजयी हुआ तो तेरे पाँच पुत्र रहेंगे और यदि वह मारा गया तो तू मुझे लेकर अपने पाँच की संख्या पूरी कर लेना।''

पता नहीं वह क्या-क्या सोचती रही, फिर अतिशय गंभीरता से बोली, ''क्या कोई ऐसी स्थिति नहीं आ सकती कि युद्ध न हो?''

''जब तक द्रौपदी और कृष्ण जीवित हैं, ऐसी कोई संभावना नहीं है।''

''मैं और गांधारी कितनी भाग्यहीना हैं, जो अपने नेत्रों से ही अपने पुत्रों का विनाश देखेंगी।''

''एक तो आँखों पर पट्टी बाँधे रहेगी। वह क्या देख पाएगी!'' मुझे हँसी आ गई। फिर मैं गंभीर होते हुए बोला, ''तुम दोनों माताएँ मिलकर यदि कोई विकल्प ढूँढ़तीं तो शायद युद्ध टल सकता था। तुमने शांति प्रस्ताव का कार्य सौंप दिया कृष्ण को। भला राजनीतिक पुरुष कभी शांति की बात सोच सकता है!''

कुछ देर तक वह और खड़ी रही, फिर मुझे आशीर्वाद दे जाने लगी।

''अच्छा यह बताइए, आप मेरी माँ हैं, इसे कितने लोग जानते हैं?'' मैंने पूछा।

''पहले तो केवल कृष्ण और मैं—और अब तुम भी।''

''इन तीन के अतिरिक्त किसीको भी इस सत्य का पता न चले। नहीं तो युधिष्ठिर बिना युद्ध किए ही पराजय स्वीकार कर लेंगे।''

चिलचिलाती धूप में वह श्वेतवसना दूर—बहुत दूर खड़े रथ की ओर धीरे-धीरे बढ़ती चली गई।

□

मेरे जीवन की पुस्तक के बंद पृष्ठ अब खुल गए थे। स्वयं पढ़ता था, गुनता था और उसके उस महान् लेखक को प्रणाम करता था; पर उसका एक शब्द भी किसीको सुना नहीं पाता था। यहाँ तक कि माला से भी कुछ कह नहीं पाया। कभी-कभी भीतर से विचारों का ज्वार जोर मारता था; पर गले तक आते-आते रुक जाता था।

उधर आर्यावर्त के क्षितिज पर युद्ध के बादल एकत्र होने लगे थे। दोनों पक्षों से तैयारियाँ आरंभ हो गईं। रण-निमंत्रण भेजे जा रहे थे। इसी क्रम में अनेक राजाओं को निमंत्रित करता हुआ एक दिन कौरव समूह मेरे यहाँ भी आ धमका।

मैंने स्वागत करते हुए पूछा, ''निमंत्रण देने की औपचारिकता क्या यहाँ भी करनी थी?''

सबके सब एक साथ हँस पड़े। ''नहीं, रात्रि हो रही थी। विश्राम हेतु चला आया। हर व्यक्ति किसी विराट की छाया ही विश्राम के लिए खोजता है।'' दुर्योधन ने हँसते हुए कहा।

''अब आपकी शब्दावली में आत्मीयता से अधिक औपचारिकता ने स्थान पा लिया है।'' मैंने छूटते ही उत्तर दिया।

वातावरण पुनः खिलखिला उठा।

रात्रि भोज के बाद युद्ध की तैयारियों के संबंध में बातें होने लगीं। दुर्योधन ने विस्तृत जानकारी दी। वह प्रसन्न था कि लोग उसके पक्ष में आ रहे हैं।

''अच्छा यह तो बताओ, कहीं ऐसा अवसर तो नहीं आया जहाँ दोनों पक्ष एक साथ ही पहुँचे हों?'' मैंने पूछा।

''एक साथ तो नहीं पहुँचे थे, पर आमना-सामना हो गया।'' फिर उसने द्वारकाधीश के यहाँ घटी घटनाओं की नाटकीय चर्चा की और ज्यों ही बताया कि मैंने कृष्ण की सारी सैन्य शक्ति ले ली तथा निरस्त्र कृष्ण को अर्जुन के लिए छोड़ दिया। त्यों ही मेरे मुख से निकला, ''कुरुक्षेत्र के युद्ध का परिणाम चाहे जो हो, मित्र! किंतु तुम द्वारका के राजभवन में लड़ाई हार गए।'' वह मेरा मुख देखता रह गया। मैं बोलता रहा, ''तुमने आत्मा को छोड़कर शरीर को स्वीकार किया, मैं तुम्हारी बुद्धि को क्या कहूँ! कृष्ण विपक्ष में रहेगा और उसकी सेना क्या तुम्हारे पक्ष से लड़ सकेगी? वह मात्र कठपुतली होगी। कृष्ण के भृकुटि-विलास की प्रतीक्षा करती रहेगी। तुम्हारी सेना के भीतर होते हुए उसीकी सेना रहेगी।''

''किंतु उसपर नियंत्रण तो मेरा ही रहेगा।'' दुर्योधन ने कहा।

मुझे हँसी आ गई, ''ऊपर से तुम्हारा नियंत्रण भले ही रहे, पर वे रहेंगे विपक्ष के गुप्तचर ही।'' मेरी झुँझलाहट थोड़ी बढ़ी, ''तुम्हें कृष्ण की लोकप्रियता का अनुमान नहीं है, मित्र! लोग उसे जनार्दन समझते हैं। तब उसकी सेना क्या समझती होगी? भला वह तुम्हारे नियंत्रण में रहेगी! कैसी बच्चों जैसी बातें करते हो!''

''फिर निरस्त्र कृष्ण को स्वीकार कर मैं क्या करता? उससे मेरा क्या हित होता?'' दुर्योधन ने अपनी लाचारी व्यक्त की।

''तब क्या आवश्यकता थी उसे रण-निमंत्रण देने की? आखिर पांडव तो अपना निमंत्रण लेकर मेरे पास नहीं आए। वे जानते हैं कि मैं उनका हित सोच भी नहीं सकता।'' दुर्योधन ही नहीं वरन् अन्य कौरव बंधु भी मेरी बात सुनकर गंभीर हो गए। मैंने शीघ्र ही वातावरण को हलका करते हुए कहा, ''अब जो हो चुका सो हो चुका। उसपर अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। यह बताइए कि आप लोग बलराम से मिले या नहीं?''

''बलराम से भी मिला था, पर उन्होंने तो दो टूक उत्तर दिया।''

''क्या कहा?''

"कहा कि 'युद्ध के निमंत्रण से मुझे क्या मतलब? इसे चक्रधर के पास ले जाओ। मैं तो हलधर हूँ। आर्यावर्त के कृषकों का मूर्धन्य प्रतिनिधि। कृषक को युद्ध से क्या लेना-देना! वह तो धरती का पुत्र है। अपना पसीना बोता है, स्वर्णिम बालियाँ काटता है। उसे गला काटने का अभ्यास नहीं।' तब मैंने पूछा कि 'जब सारा देश युद्ध में कूद पड़ेगा तब आप क्या करेंगे?' उन्होंने निर्लिप्त भाव से कहा, 'मैं तुम्हारे पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए तीर्थयात्रा करूँगा।' " इतना कह दुर्योधन ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "बलराम तो मुझे कृष्ण से अधिक स्पष्ट और सरल मालूम पड़े।"

"इसीलिए कि बलराम को पहचानना जितना सरल है, कृष्ण को उतना ही कठिन।" मैंने कहा।

संभवत: इसी परिधि में बातें कुछ देर तक और चलीं, फिर मैं उनकी शयन-व्यवस्था कर चला आया।

जब मैं शय्या पर ढुलका, कुंती और कृष्ण के चित्र मेरे मन पर विभिन्न रंगों तथा रेखाओं में उभरते रहे और मैं उन्हींके संदर्भ में सोचते-सोचते सो गया। मैंने एक स्वप्न देखा। रात्रि का कौन सा प्रहर था, कह नहीं सकता। स्वप्न में वह व्यक्ति दिखाई दिया, जिसे मैं पहले अनेक बार देख चुका हूँ। वह बहुधा विपत्ति में मुझे ढाढ़स बँधाता था। भावी अनिष्ट के प्रति चेतावनी देता था। इस बार भी उसने सावधान किया, 'कल ज्यों ही तुम अपना पूजन समाप्त करोगे, एक ब्राह्मण तुमसे याचना करने आएगा। तुम उसे कुछ मत देना।'

'ऐसा कैसे हो सकता है? यह लोक-विश्रुत है कि कर्ण पूजनोपरांत ब्राह्मणों को इच्छित दान देता है।'

'कल ऐसा मत करना। तुम्हारे जीवन के लिए घातक है।' दिव्य पुरुष बोला।

'ऐसा न करने से मेरा संकल्प च्युत होगा।'

'जीवन रहेगा तो संकल्प भी होता रहेगा।'

'किंतु संकल्पहीन जीवन की सार्थकता क्या?'

'मैं जानता हूँ कि तू बड़ा हठी है। पर इसे अच्छी तरह समझ ले। इंद्र स्वयं ब्राह्मण का रूप धारण कर तेरे पास आएगा और तेरा दैवी कवच तथा कुंडल माँगेगा; पर उसे देना मत।'

'किंतु इंद्र मेरा कवच और कुंडल लेकर करेगा क्या?' मैंने पूछा।

'तुझे मालूम नहीं है। वह अर्जुन का पिता है। अपने पुत्र की रक्षा के लिए व्यग्र है। जब तक यह कवच और कुंडल तेरे पास है, तेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं

सकता।'

मैं घबराया। कोई दूसरी स्थिति होती तो मेरी नींद भी खुल जाती, पर लगता है, मैं दैवी प्रेरणा से ही सोता रहा। मैंने धीरे से कहा, 'मैं ब्राह्मण को 'ना' कैसे कहूँगा?'

अब वह दिव्य पुरुष भी मौन हो गया, मानो कोई विकल्प खोज रहा हो। फिर उसने कहा, 'इंद्र के पास एक अमोघ शक्ति है। उसका प्रयोग जिसपर भी किया जाएगा, चाहे वह देवता ही क्यों न हो, उसका अंत निश्चित है। वह अमोघ शक्ति लेकर ही तुम उसे अपने कवच और कुंडल देना।'

'याचक वृत्ति मेरे स्वभाव का अंग नहीं है। मैं उस अमोघ शक्ति के लिए कैसे याचना कर सकूँगा?'

'तुम कर सकोगे। पहले तुम इंद्र को अपने इस कार्य पर लज्जित और अपमानित करना। बाद में उसे याचित वस्तु देना। लज्जित होने के बाद यदि उसमें लेश मात्र सम्मान की भावना होगी तो वह तुमसे वर माँगने को कहेगा। तभी तुम उसकी अमोघ शक्ति को माँग लेना। अच्छा, मैं चला। मैं बड़ा प्रसन्न हूँ कि तुमने आदर्शों के समक्ष अपने प्राणों की चिंता नहीं की। किसी भी पिता को अपने ऐसे पुत्र पर गर्व होगा।' इतना कहकर वह जाने लगे।

'पर यह तो बताते जाइए कि आप हैं कौन?' मैंने घबराकर पूछा।

वे हँसने लगे, 'तुमने मुझे अभी भी नहीं पहचाना! मैं तेरा पिता सूर्य हूँ।'

इतना सुनते ही मैं जैसे विक्षिप्त हो गया, 'तू मेरा पिता सूर्य! अरे सूर्य!' मेरी नींद टूट गई। मेरे चारों ओर अँधेरा था। इस अँधेरे में सूर्य कहाँ?

फिर भी यह स्वप्न मेरी आँखों के सामने तैरता रहा। मैंने वातायन से देखा, भोर का तारा चू पड़ा था।

उस दिन गंगातट पर ज्यों ही मेरा पूजन समाप्त हुआ, एक दरिद्र ब्राह्मण मेरे निकट चला आया। किंतु उसने मेरी ओर देखा नहीं। वह सूर्य को निर्निमेष निहार रहा था। मैंने उसके चरणस्पर्श किए। उसने दबे स्वर से कहा, ''यशस्वी भव।'' ब्राह्मणों के आशीर्वाद देने का सामान्य वाक्य 'आयुष्मान् भव' उसके मुख से नहीं निकला। पिछला स्वप्न मेरे मस्तिष्क से पहली बार टकराया।

उसने दूसरी ओर मुख किए हुए ही कहा कि ''मैंने सुना है कि तुम दानवीर हो।'' मैं मौन रहा। उसने पुनः कहा, ''मैं आज तुम्हारी दानवीरता की परीक्षा लेने आया हूँ।''

''परीक्षा लेने या दान लेने?'' मुझे हँसी आ गई। मेरी निश्चिंतता से वह

थोड़ी उलझन में पड़ा। मैंने उसकी मन:स्थिति भाँप ली। मैंने स्वयं कहा, ''माँगिए ब्राह्मण देवता, आप क्या माँगते हैं? गौ, धरती, रत्न, संपत्ति या और कुछ?''

''यह सब मुझे कुछ नहीं चाहिए।'' थोड़ा रुककर उसने फिर कहा, ''कुछ माँगने के पहले मैं वचन माँगता हूँ कि मैं जो कुछ माँगूँ, तुम उसे अवश्य दोगे।''

''महाराज, अभी तक तो ऐसा नहीं हुआ कि पूजन के बाद किसी ब्राह्मण ने माँगा हो और मैंने वह न दिया हो।'' मेरे अधरों के बीच मुसकराहट की एक मद्धिम रेखा उभरी, ''इस संदर्भ में किसी ब्राह्मण ने ऐसी सजगता भी नहीं दिखाई।''

वह थोड़ा सहमा। फिर कुटिल हँसी हँसते हुए बोला, ''भलीभाँति सोच लो, अंगराज, जो माँगूँगा वह देना पड़ेगा।''

''अंगराज देने के पहले सोचा नहीं करता।'' मेरे अहं ने अँगड़ाई ली।

''तब तुम अपना कवच और कुंडल दे दो।''

उसने दूसरी ही ओर मुँह करके माँगा। पिछला स्वप्न मेरे मन से दूसरी बार टकराया। मैं एक कृत्रिम अट्टहास कर बैठा, ''ब्राह्मण को तो धन, धरती और विद्या की चाह होती है। उसे कवच-कुंडल की क्या आवश्यकता? ये आभूषण तो क्षत्रियों की श्रीवृद्धि के लिए हैं। ऐसा तो नहीं कि आप कहीं मूल में क्षत्रिय हों?''

यदि मैंने किसी और ब्राह्मण के मूल के संबंध में संदेह किया होता तो वह बिगड़ जाता, पर इंद्र पानी-पानी हो गया। उसके मस्तक पर स्वेद कण झलक आए। मैंने कहा, ''विचलित न हों, देवाधिदेव! मैंने जो वचन दिया है उसका अवश्य निर्वाह करूँगा।'' अपने लिए 'देवाधिदेव' संबोधन सुनते ही उसके ऊपर असंख्य हिमखंड एक साथ गिर पड़े।

वह एक निर्लज्ज हँसी हँसते हुए बोला, ''मेरी धारणा थी कि तुम मुझे पहचान नहीं पाओगे।''

''ब्रह्म की भाँति धारणा की सत्ता भी स्वतंत्र नहीं होती, देवाधिदेव! उसका एक छोर धारक के पास तो दूसरा छोर कारक के पास होता है।'' मैं मुसकराते हुए कहता रहा, ''आप जितने अपने पुत्र के लिए व्यग्र हैं, क्या मेरा पिता मेरे लिए उतना व्यग्र नहीं होगा? क्या उसने मुझे सावधान नहीं किया होगा?'' इतना कहकर मैंने कटि से असि निकाली। पहले कान काटकर कुंडल दिए। मेरी आकृति पर पीड़ा की रेखाएँ उभरीं। इंद्र लज्जा से गड़ा जा रहा था। वह मुझे वर देने लगा कि तुझे पीड़ा की अनुभूति न हो।

मैंने कहा, ''आप जरा भी व्यग्र न हों। दाता कभी पीड़ा की अनुभूति नहीं करता। यदि उसे पीड़ा हो तो समझिए, बलात् दे रहा है। क्या रंतिदेव को अपने

अंग काटने में पीड़ा हुई होगी?'' वह मेरा मुख देखता रह गया। मैंने असि से अपना कवच काटकर निकाल दिया। वह कवच, जो जन्म से मेरे वक्षचर्म से लगा था, जिसकी छाया में मैं अवध्य था, जिससे टकराकर भयंकर-से-भयंकर आयुध चूर-चूर हो जाता था, पर मैंने हँसते-हँसते निर्लिप्त भाव से उसे दे दिया; जैसे हेमंत में वृक्ष अपने पत्ते गिरा देते हैं, शुक पंख छोड़ देता है।

निकट का जल मेरे रक्त से लाल हो उठा। मैं इंद्र को सुनाते हुए बोला, ''माँ गंगे, जैसे कभी तुमने मुझे अधिरथ को दिया था वैसे ही आज मैं अपना रक्त तुझे दे रहा हूँ और आशीर्वाद दे माँ! ऐसे ही निर्लिप्त भाव से मेरा तन भी तुझे समर्पित हो सके।''

मेरे कवच और कुंडल इंद्र के हाथों में थे; पर उसके दोनों हाथ काँप रहे थे। वह पसीने-पसीने था। उसकी अपराधी आत्मा भीतर से ही उसे धिक्कारने लगी थी।

मैंने कहा, ''आपका कार्य हो गया न! अब आप जा सकते हैं।''

वह लज्जा से गड़ा जा रहा था। उसके पैर जैसे हिल नहीं पा रहे थे। इसी समय मैंने उसपर एक प्रहार और किया, ''देवाधिदेव! ब्राह्मण वेश में आपने मुझसे केवल कवच और कुंडल लिया, पर पूरे ब्राह्मण समाज से उसका विश्वास छल लिया। अब कोई भी ब्राह्मण का विश्वास नहीं करेगा। अब इस देश में ब्राह्मण को देखते ही हर किसीके मन में आपका ही घृणित चित्र उभरेगा और सोचेगा कि कहीं मुझे छलने तो नहीं आया है। ब्राह्मण अर्थात् बुद्धिजीवी—जिस देश की जनता का बुद्धिजीवियों पर से विश्वास उठ जाएगा उस देश का भगवान् ही भला करे। आपने मेरे साथ ही नहीं वरन् पूरे समाज के साथ धोखा किया है। वह आपको कभी क्षमा नहीं करेगा, राजन्! कभी क्षमा नहीं करेगा।''

मैंने देखा, उसके पैर भी काँपने लगे। अपने जीवन में वह शायद ही कभी इतना अपमानित हुआ हो। फिर भी वह वहाँ से हटा नहीं।

''अब आपको मुझसे क्या चाहिए? क्यों खड़े हैं?'' मैंने हँसते हुए पुनः पूछा।

''कुछ चाहिए नहीं। तुझे कुछ देकर अपने पाप का प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ।'' लज्जा से नम उसकी आँखें जल में बहता मेरा रक्त देख रही थीं।

मैं हँस पड़ा, ''हा-हा! स्वयं याचक दाता को देना चाहता है। पर मैंने कभी किसीसे नहीं माँगा, आपसे क्या माँगूँ?''

वह शांतभाव से अब भी खड़ा था। मेरे मन ने कहा, अब विलंब करने की

आवश्यकता नहीं है। मैंने माँग ही लिया, ''यदि देना ही चाहते हैं तो अपनी अमोघ शक्ति दे दें।''

वह पाषाण हो गया। स्थितप्रज्ञ सा देखता रहा। फिर बड़े विनीत भाव से बोला, ''वही एक शक्ति है, वत्स, जिससे मैं असुरों का संहार करता हूँ। उस शक्ति से वंचित होकर यह इंद्र इंद्र नहीं रह जाएगा।''

''क्या यह शक्ति संहार कर फिर आपके पास चली आती है?'' मैंने पूछा। उसने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। ''तब मुझे केवल एक बार के प्रयोग के लिए दे दीजिए।'' मेरे दृष्टिपथ में मात्र एक अर्जुन था।

''एवमस्तु!'' इतना कह वह चल पड़ा। पीछे मुड़कर देखा भी नहीं। पाप के समय लज्जा प्रकृति की चेतावनी है और पाप के बाद उसका शाप। इस समय वह अपनी प्रकृति से ही शापित था। इसीसे मुख छिपाकर चला गया।

अब कर्ण कवच-कुंडलविहीन हो गया—अरण्य की अग्नि की भाँति यह समाचार फैलने लगा। ब्राह्मणों ने आकर मुझे आशीर्वाद दिया और स्वयं अनुरोध किया, ''महाराज! अब याचक को इच्छानुसार देने की परंपरा बंद करें। ऐसा न हो कि कोई आकर आपके प्राण ही माँग ले।''

''एक दिन उसे महाकाल तो ले ही लेगा, तब क्यों नहीं किसी याचक को ही दे दूँ!''

'साधु-साधु' कहकर उन्होंने मेरे प्रति आदरभाव व्यक्त किया।

माला भी अत्यधिक अप्रसन्न थी। उसने बड़े क्रोध में कहा, ''यह क्या बात है कि किसीने कवच-कुंडल माँगा और आपने दे दिया! ऐसे ही कोई मुझे माँग ले तो?''

''तो तुझे भी दे दूँगा।'' हँसते हुए मैंने कहा और उसके कपोल पर प्यार की एक चपत जमाई तथा चल पड़ा, क्योंकि मुझे जल्दी थी। हस्तिनापुर की युद्ध परिषद् में भाग लेने जाना था।

हस्तिनापुर में भी मुझे आश्चर्य से देखा गया। कई ने तो कहा, ''अब आपकी आकृति ही विचित्र लग रही है।'' अधिकांश ने मेरी दानवीरता की सराहना की; पर सबने कहा कि यह अच्छा नहीं हुआ। सबसे अधिक दुःख दुर्योधन को था। वह मुझे देखते ही विचलित हो उठा।

मैंने उसे एकांत में ले जाकर धीरे से कहा, ''घबराओ नहीं, इंद्र की अमोघ शक्ति ले आया हूँ।''

वह प्रसन्नता से उछल पड़ा। बोला, ''कैसे?''

''यह जानकर क्या करोगे?'' मैंने कहा।

कल से युद्ध होने वाला है। पितामह ही कौरवों के सेनापित होंगे। मेरे पास अमोघ शक्ति आ गई थी। मेरा अहं सीमाहीन हो चुका था। युद्ध के पूर्व ही मुझमें विजयोन्माद होने लगा था। इसका आभास पूरे प्रासाद को हो गया था।

रात्रि का प्रथम प्रहर चल रहा था। मंत्रणा की गंभीरता बढ़ती जा रही थी। बीच-बीच में अब मेरा उन्माद हँस पड़ता। पितामह मुझपर छेद देनेवाली एक तीखी दृष्टि डालते। मुझे चुभन सी होती। मैं तिलमिलाता। फिर भी दुर्योधन की सलाह पर चुप था। दोनों पक्षों के वीरों की चर्चा चल रही थी। कौन किसका सामना करेगा, यह निश्चित किया जा रहा था। इसी प्रसंग में अर्जुन का नाम आया। दुर्योधन बोला, ''अर्जुन के लिए तो कर्ण ही पर्याप्त है।''

बस इतना सुनना था कि पितामह भभक पड़े, ''तू जिस कर्ण को बहुत बड़ा प्रतापी समझता है न, मैं उसे अनेक बार देख चुका हूँ। वह मात्र अहं का हिमालय है!'' इतना कहकर वह थोड़ा रुके, ''मैं जानता हूँ, दुर्योधन, तुझे मेरी बात अच्छी नहीं लगेगी; पर यह मैं तुम्हारे और कर्ण दोनों के मुँह पर कह रहा हूँ कि उसने सदैव तुझे दिग्भ्रमित किया है, पांडवों के प्रति तेरे मन में द्वेष भाव बढ़ाया है। यदि शकुनि और कर्ण का तुझे साथ न मिला होता तो आज यह स्थिति न आती।''

इतना सुनना था कि मैं उठ खड़ा हुआ। दूसरी ओर शकुनि ने भी कुछ कहना चाहा। दुर्योधन ने मामा को तो बैठा दिया, पर मुझे न बैठा पाया। मेरी वाणी से धधकते अंगारे निकले, ''पितामह! मैं सदा आपका सम्मान करता आया, पर आप मुझे अपमानित ही करते रहे। अब मैं यह सहने की स्थिति में नहीं हूँ। आज के कर्ण के पास कल से अधिक शक्ति है; क्योंकि···।''

मैं अमोघ शक्तिवाली बात कहूँ, इसके पहले ही पितामह बोले, ''···क्योंकि वह कवच-कुंडल भी खो चुका है। परशुराम की क्रोधाग्नि में उसके पराक्रम का फल भस्म हो चुका है। वह गया था ब्रह्मास्त्र लेने और ले आया शाप। यथा पात्र तथा प्राप्ति!''

अभी भीष्म हँस ही रहे थे कि द्रोण की आवाज सुनाई पड़ी, ''पितामह ठीक कहते हैं, कर्ण, वह गरजनेवाला मेघ है जो बरसेगा नहीं।''

मेरी क्रोधाग्नि भभकती रही, ''पितामह मेरी और दुर्योधन की मित्रता फूटी आँखों देख नहीं सकते। वे सदा चाहते हैं कि हममें विग्रह हो जाय। और आचार्य! यह तो अर्जुन को अपने पुत्र से भी अधिक मानते हैं। ये दोनों वृद्ध कभी भी कौरवों का भला नहीं सोच सकते।'' मैं क्रोध में और क्या-क्या कह गया, मुझे ठीक याद

नहीं। पर इतना याद है कि पितामह तिलमिला उठे थे। वह काँपते हुए उठकर खड़े हो गए थे और उन्होंने कहा, ''कर्ण! परिस्थिति विकट है, इसीसे मैं खून का घूँट पीकर रह जा रहा हूँ। युद्ध का सारा भार मेरे ही ऊपर है। इसीसे तेरी बातें मैं सुनता जा रहा हूँ। अन्यथा अब तक तू जीवित न रहता।''

हम दोनों को उलझते देख दुर्योधन ने स्थिति सँभाली। उसने पितामह को शांत किया। वह शांत हो गए, क्योंकि उन्हें सेनापति होना था। मुझे क्या लेना-देना था। मैंने संकल्प किया कि ''जब तक यह बूढ़ा सेनापति रहेगा, मैं शस्त्र-ग्रहण नहीं करूँगा।'' इतना कहता हुआ मैं सभाकक्ष से बाहर निकल गया।

प्रक्षेपित आग्नेयास्त्र-सा आवेश में मैं चला जा रहा था कि एक व्यक्ति ने झुककर मेरे चरणस्पर्श किए। यहाँ मेरा चरणस्पर्श करनेवाला कौन? विस्मय ने क्रोध को ढक लिया। मेरी मुद्रा बदली।

तब तक उसने अपना परिचय दिया, ''मैं अग्रसेन मृत्युबाण लेकर आया हूँ—अर्जुन के विनाश के लिए। कल से युद्ध होने वाला है न!''

''ले जा, दे दे उस बूढ़े को। इससे अपना पराक्रम दिखा दे।'' मैंने क्षुब्ध हो सभाकक्ष की ओर संकेत करते हुए कहा, किंतु वह शांतभाव से मेरा मुख देखता रहा। मैंने वह बाण उससे ले लिया और कहा, ''जब तक वह बूढ़ा भीष्म सेनापति रहेगा, मैं युद्धक्षेत्र में नहीं जाऊँगा।''

अग्रसेन व्याकुल हो उठा, ''खांडव वन की दाह अब भी मेरे अंतर में पल रही है, तात! जब तक अर्जुन का वध नहीं होगा, वह शांत नहीं होगी।''

''घबराओ नहीं। यदि भीष्म के जीते जी अर्जुन मारा जाता है तब इस बाण की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, अन्यथा मैं इसका सदुपयोग करूँगा।''

उसने संतोष की साँस ली और आभार प्रदर्शित करते हुए मेरे चरणस्पर्श कर चला गया।

मेरा मन अब भी उद्विग्न था। मैं उद्यान में पुष्करिणी के किनारे आकर बैठ गया। चारों ओर कोमलकांत पदावली की भाँति स्निग्ध ज्योत्स्ना थी। धीरे-धीरे मन शांत हुआ। कुछ ही समय बाद पश्चिम से सुवर्चा और समीची आते दिखाई दिए। 'चंद्रिका की मादकता बूढ़े को समीची के साथ ला रही है।' यह सोचकर हँसी आ गई।

''क्यों हँस रहे हो, अंगराज?'' सुवर्चा ने पूछा और निकट आकर उसने मुझे ध्यान से देखा। फिर पूछ बैठा, ''आपका कुंडल का क्या हुआ?''

मेरे उत्तर देने के पहले ही समीची बोल उठी, ''इंद्र ले गया।'' वह सदा की

भाँति हँसने लगी। फिर उसने बताया कि कुंती और इंद्र को कृष्ण ने ही आपके पास भेजा था।

"तुझे कैसे मालूम?" मैंने पूछा।

"आज ही किसी गुप्तचर ने बताया है।"

अब मुझे ऐसा लगा कि एक छलपूर्ण हँसी हँसते हुए कृष्ण सामने खड़ा है। मैं उसकी काल्पनिक हँसी में खोता गया।

अचानक सुवर्चा ने आकाश के उत्तर की ओर संकेत कर कहा, "वह देखो।"

मैंने आकाश की ओर देखा। धूमकेतु अपनी अनिष्टकारी हँसी हँस रहा था।

"अब आर्यावर्त में कुशल नहीं है, राजन्! मैं तीर्थयात्रा पर जा रहा हूँ।"

"मैं भी सोचती हूँ, आचार्य के साथ चली जाऊँ और अपने पापों का प्रायश्चित्त कर डालूँ।" समीची की हँसी उस ज्योत्स्ना में घुलकर और भी उज्ज्वल हो गई थी।

□

सोलह

युद्ध! युद्ध! सर्वत्र युद्ध!!!

दिन में युद्ध, रात्रि में युद्ध की योजनाएँ। दिन में संघर्ष और संहार, रात्रि में घायलों की चिकित्सा। दिन में विद्वेष, स्पर्धा एवं प्रतिहिंसा; रात्रि में सहकार, सहयोग और स्नेह। दिन में हिंसा का अंधकार, रात्रि में प्रेम का प्रकाश।

आह! इस जीवन-शैली में कितना विरोधाभास है!

युद्ध के दसवें दिन पितामह धराशायी हो गए। जीवन के शेष दिन बिताने के लिए अर्जुन ने शरशय्या बना दी। संध्या की गंभीर शांति घुटन भरी कालिमा में डूबने लगी।

मैं पितामह के पास पहुँचा और उनका चरणस्पर्श कर सायास बोला, "आपकी उपेक्षा का पात्र कर्ण आपको प्रणाम करता है।"

उन्होंने मेरी ओर नेत्र घुमाए। एक दयार्द्र दृष्टि डाली। मुझे आशीर्वाद देते हुए बड़ी वेदना से कहा, "वत्स! अब तो मैं दिन गिन रहा हूँ। चाहता था कि मेरे युद्ध-क्षेत्र से हटते ही यह संग्राम समाप्त हो जाता।"

मैं कुछ बोला तो नहीं, पर मेरी आँखों ने पूछा, 'मैं क्या कर सकता हूँ?'

"तुझे शायद अपने जीवन की भूल का ज्ञान नहीं है।" उनके स्वर में मेरे प्रति ऐसी ममता कभी नहीं थी। मैंने समझ लिया कि मेरे जन्म की गाथा से पितामह किसी तरह परिचित हो चुके हैं।

पास ही कृष्ण, कुंती, द्रौपदी, पांडव तथा कौरव पक्ष के अनेक लोग खड़े थे। मैं उस गाथा का और अधिक उद्घाटन कराना नहीं चाहता था, अतएव बोल पड़ा, "मुझे सब मालूम है, पितामह! पर मैं कुछ कर नहीं सकता। कौरवों की सारी आशाएँ मुझपर हैं। मैं उन्हें छोड़ नहीं सकता, पितामह! उनके उपकारों से दबा हूँ। मैं राज्य के लिए नहीं, संपत्ति के लिए नहीं, आत्मसम्मान के लिए नहीं,

केवल दुर्योधन को विजयी बनाने के लिए लड़ूँगा। यदि विजयी हुआ तो राज्य छोड़कर तपस्या के लिए चला जाऊँगा। यदि पराजय मिली तो दुर्योधन के साथ ही स्वर्ग सिधारूँगा। भले ही मेरा पक्ष सत्य या असत्य का हो। यह मैं दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ।''

उन्होंने मुझे बड़े ध्यान से सुना। फिर बोले, ''जैसी तेरी इच्छा हो वही कर, बेटा; क्योंकि तेरा निश्चय बदलने की शक्ति मुझमें क्या, इंद्र में भी नहीं है।'' वे शांतभाव से निर्निमेष आकाश की ओर देखते रहे।

अवसर से न चूकनेवाले कृष्ण बड़ी गंभीरता से बोले, ''यदि कर्ण में हठ और क्रोध न होता तो शायद आर्यावर्त का यह सबसे यशस्वी व्यक्ति होता।''

पितामह हँस पड़े, ''इसमें इसका क्या दोष है, माधव! जन्म देते ही जिस क्षण इसकी माँ ने इसे त्यागा था उसी क्षण हठ और क्रोध का बीज इसके मानस में पड़ गया था। एक उपेक्षित बालक के सामान्य विकास की आशा करना ही व्यर्थ है। मेरे विचार से तो इसकी दानवीरता भी इसके हठ का ही एक रूप है।'' इतना सुनते ही कुंती अगली पंक्ति से धीरे से सरक गई; पर द्रौपदी मुझे अब भी घूर रही थी। यदि शिव का तीसरा नेत्र उसे मिला होता तो शायद भस्म कर देती।

जीवन में पहली बार पितामह मेरे पक्ष में बोले थे। अपने जीवन की ऐसी गंभीर मीमांसा इसके पूर्व मुझे कहीं सुनाई नहीं पड़ी थी। लगता है, पितामह शरीर छोड़ने के पहले राग-द्वेष छोड़ चुके हैं। उनकी बुद्धि सांसारिक परिवेश से बहुत ऊपर उठ चुकी थी। उन्होंने मुझसे पुनः कहा, ''अंत में विजय न्याय की ही होगी।''

''यदि ऐसा होता तो आपकी यह गति न होती। आपने भला कौन सा अन्याय किया था, जो पराजय मिली?'' मैं कह तो गया, पर लगा, पितामह का मर्म कहीं छू गया।

पहले तो वह तिलमिला उठे, फिर अविचलित भाव से बोले, ''अच्छा जाओ, वत्स! तुम्हें मेरा आशीर्वाद है। आचार्य को सेनापति बनाए जाने का उपक्रम करो। यद्यपि मुझे उनसे बहुत अधिक आशा नहीं है। उन्होंने अपनी सारी विद्या अर्जुन को दे दी है। इस समय कौरवों के एकमात्र कर्णधार तुम्हीं हो।''

आशीर्वाद ले मैं चल पड़ा। मेरे साथ ही कौरव दल भी था। थोड़ी देर बाद ही तूर्य और शंखध्वनि हुई। मंत्रोच्चारण के बीच विधिवत् आचार्य को सेनापति बनाया गया। रात गाढ़ी होती गई। पर आज युद्धक्षेत्र में विशेष चहल-पहल थी। जिस समय मैं आचार्य के निकट बैठा था उस समय पांडवों को साथ लेकर कृष्ण भी पधारे।

"सेनापति पद के लिए बधाई देने और प्रणाम करने हम आए हैं।" आते ही उन्होंने कहा।

हम सबने उठकर उनका स्वागत किया। उस छोटे से शिविर में सभी एक-दूसरे के बगल में बैठ गए।

युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। उन्हें संबोधित करते हुए आचार्य ने कहा, "आज बड़े प्रसन्न हो, युधिष्ठिर।"

मैंने सोचा, पितामह के अवसान पर प्रसन्न तो होना ही चाहिए; किंतु युधिष्ठिर का उत्तर कुछ दूसरा ही था, "आचार्य, संभवतः तेरह वर्षों बाद आज हम लोग एक-दूसरे के बगल में बैठे हैं। इसी स्थिति के लिए मैं तरस गया था।" फिर उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई और बोले, "मामा कहाँ हैं?"

शकुनि हम लोगों के पीछे था। हँसते हुए खड़ा हो गया। युधिष्ठिर ने पुनः उनसे पूछा, "पासे हैं क्या? आइए, दो-चार बाजियाँ हो जाएँ।"

पूरा शिविर हँस पड़ा।

"अब बाजी पासों के हाथ में नहीं, युद्ध के हाथ में है।"

"यह तो दिन में न! रात तो पासों के हाथ में है।" सामूहिक हँसी के बीच युधिष्ठिर ने कहा, "ऐसा नहीं हो सकता कि आज की रात पिछले दस दिनों के बराबर हो जाए!"

एक बार फिर हँसी छूटी।

युधिष्ठिर का यह व्यंग्य अंधकार की छाती छेदता निकल गया।

यह रात कितनी भयानक थी!

जयद्रथ-वध हो चुका था। पांडव शिविर विहँस रहे थे, कौरव पक्ष बिलख रहा था। एक ओर सिसकन, दूसरी ओर खिलखिलाहट। एक ओर विजय का उन्माद, दूसरी ओर पराजय का विक्षोभ। एक ओर शीतलता, दूसरी ओर ऊष्णता। इन दोनों के बीच उठे कुहरे में मैं घुट रहा था। आँखें बंद थीं, फिर भी जाग रहा था। धीरे-धीरे भयानक सन्नाटा दोनों शिविरों की ध्वनियाँ निगलता गया। साँय-साँय करती, कुत्तों और शृगालों के कंठों से रोती रात रह गई।

मुझे ऐसा लगा जैसे कोई स्त्री बाल खोले विक्षिप्त सी मेरे पास आ रही है। 'तुम मुझे पहचानते हो?' उसने आते ही पूछा, 'जरा ध्यान से देखो, मैं दुःशला हूँ। आज मेरे पति का वध हो गया और तुम अभी भी जीवित हो! तुम मेरे धर्मभ्राता थे न! तुमने कहा था न कि मैं अंत तक इस भ्रातृत्व का निर्वाह करूँगा! किंतु क्या किया तुमने? मेरी माँग का सिंदूर मिट गया। कहाँ तुम लोग द्रौपदी की वेणी

खोलने चले थे और कहाँ मेरी वेणी खुल गई!'

'किंतु मैं क्या करता? मैं तो भीम से ही युद्ध में फँसा रहा।' मैं व्यग्र हो बोला। उसकी उन्माद भरी खिलखिलाहट गूँज उठी, 'अरे मूढ़! जिसे तुमने अभयदान दे दिया था तुम उसीसे युद्ध करते रह गए। तुम्हें तो अर्जुन को घेरना चाहिए था। कहाँ रह गई तुम्हारी अमोघ शक्ति? द्रोण ठीक कहते थे कि कर्ण गरजनेवाला मेघ है, बरसनेवाला नहीं।' दुःशला की हँसी जैसे मुझे चुभती चली जा रही थी।

मैंने फिर अपनी विवशता व्यक्त की, 'कृष्ण की माया ने सूर्य को छिपा लिया। हम लोगों ने सोचा, संध्या हो गई, अर्जुन बिना मारे जलकर भस्म हो जाएगा। हम लगभग आश्वस्त थे, तभी तुम्हारा पति मारा गया।'

इस बार दुःशला चीख उठी, 'कृष्ण की माया ने सूर्य को छिपा लिया! तुम्हारा पिता तुम्हीं से छिप गया, कितना महान् आश्चर्य! तुम समझने की चेष्टा करो, कर्ण! वस्तुतः कृष्ण की माया ने सूर्य को नहीं छिपाया, वरन् तुम्हारे पापों ने स्वयं सूर्य को ढक लिया।' इतना कह दुःशला ने दूसरी ओर संकेत किया। मेरे श्रवणों में एक किशोर की ध्वनि गूँजने लगी, 'मैं अभिमन्यु की अतृप्त आत्मा हूँ। तुम्हारे ऐसे सात महारथियों ने मिलकर उस किशोर तन की हत्या की। मैं पूछने आई हूँ कि उसका क्या अपराध था कि तुमने ऐसा जघन्य कार्य किया? वह भी जिस समय वह निरस्त्र था। मैं पूछती हूँ, क्या यही तुम्हारा युद्ध-धर्म था? क्या यही तुम्हारी मानवता थी? ठीक है, उसने दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण का वध कर डाला था। बस, इतने पर ही तुम पागल हो उठे। तुमने अपने पुत्र पर ही घेरा डाल दिया। तुम उसके पितृव्य हो। तुम्हारा ही रक्त उसकी शिराओं में था। तुम अपने ही रक्त के प्यासे बन गए!

'मैं ऐसी छटपटाती आत्मा हूँ, जो तुम्हारा पाप बनकर आज सूर्य पर छा गई थी। इसका फल देखा, तुम्हारा ही पिता तुमसे मुख मोड़ बैठा। जयद्रथ मारा गया। मैं इसी तरह छटपटाती हुई युद्धस्थल में घूमती रहूँगी, जब तक मैं तुम सबका विनाश नहीं कर लूँगी।'

मैं एकदम घबरा उठा। मैंने दोनों कान बंद कर लिये। कहाँ हो तुम? कहाँ हो तुम? मैं चीख पड़ा। शय्या से उठकर देखा, कहीं कोई नहीं था। न कहीं दुःशला थी और न अभिमन्यु की आत्मा, वरन् यह मेरा अवचेतन था, जो धिक्कारता हुआ मेरे सामने खड़ा हो गया था। रात काली पड़ गई थी। सन्नाटा साँस भर रहा था, शृगाल और कुत्ते रो रहे थे।

□

आप जानते हैं? हिडिंबा नामक राक्षसी से उत्पन्न भीम का एक पुत्र था घटोत्कच। मुझे उसी रात सूचना मिली कि कृष्ण अर्जुन को लेकर उसके यहाँ गए हैं। किंतु मैं कर क्या सकता था? कहाँ रहता है घटोत्कच? इसका भी तो ज्ञान नहीं था।

निश्चित था कि कल के युद्ध में कृष्ण उसे ही ले आएँगे। उसे समझाएँगे कि कर्ण ने तुम्हारे पिता की दुर्दशा कर दी। उनके शरीर के व्रण अभी रक्तस्राव कर रहे हैं। क्या तुम अपना पितृऋण नहीं चुकाओगे? कृष्ण की माया में वह अवश्य फँसेगा और कल मुझे उसीसे युद्ध करना पड़ेगा।

किंतु मध्याह्न तक तो वह कहीं नहीं था। सूर्य के पश्चिम की ओर ढलते ही उसका रथ समरांगण में दिखाई पड़ा। विरूपाक्ष उसका कुशल सारथि था। वह बड़ी चतुराई से रथ-संचालन में लगा था। मानवी और राक्षसी अस्त्रों से घटोत्कच ने प्रलय मचा दी। हाहाकार मच गया। ज्यों-ज्यों संध्या होने लगी, उसकी राक्षसी माया बढ़ने लगी। वह प्रलय के बादलों-सा युद्धस्थल पर छा गया।

उसके गर्जन से हाथी तक चिंघाड़ कर भागने लगे। अश्वत्थ विचलित हो चिल्ला पड़ा, ''कर्ण, स्वयं को बचाओ, अन्यथा यह राक्षस समाप्त कर देगा।''

घटोत्कच ने भी भीषण रव के साथ निरंतर अस्त्र चलाने आरंभ कर दिए। मैं एकदम घबरा उठा। मैंने इंद्र की अमोघ शक्ति चला दी।

हे भगवान्, मैंने यह क्या किया? अर्जुन के संहार के लिए सुरक्षित शक्ति मेरे हाथ से निकल गई।

पल भर में घटोत्कच दुर्बल के संकल्प की भाँति व्यर्थ हो धरती पर गिर पड़ा। युद्ध बंद हो गया। जय-जयकार करती हुई कौरव सेना ने मुझे घेर लिया। मैं श्रीहत सम्राट्-सा अवसन्न, गुमसुम और मौन खड़ा रह गया; क्योंकि मैं लुट चुका था। अश्वत्थ ने मुझे बधाई दी। स्वयं आचार्य ने मेरे पराक्रम की सराहना की। किंतु मैं जड़वत् रथ पर ही बैठा रहा। विजयोल्लास के बीच मेरी हताशा हिम की परिधि में अग्नि-सी सुलगती रही।

मैंने देखा, सारा पांडव पक्ष पराजय के संताप में डूबा था, पर कृष्ण मुसकराते हुए अर्जुन से बातें कर रहे थे।

मेरे जीवन की यह ऐतिहासिक संध्या! द्रोण का अंत हो चुका था। अश्वत्थ लिपटकर मुझसे रोने लगा, ''कर्ण, कर्ण! पिताजी चले गए; पर जिस पुत्र के वियोग में गए, वह अब भी जीवित है। यह कैसा अनर्थ है, कर्ण? धर्मराज कहा जानेवाला व्यक्ति भी झूठ बोल सकता है! कहाँ रह गई नैतिकता? कहाँ रह गया धर्म?''

जी में आया कि शकुनि की बात दुहरा दूँ—प्रेम और युद्ध में कुछ भी अधर्म नहीं होता; किंतु मैं बोल नहीं पाया। कृष्ण के कुचक्रों के संदर्भ में ही सोचता रहा।

निराशा से लिपटी संध्या भी ढुलक गई। रात्रि की कालिमा बढ़ी। इसी बीच दुर्योधन का निमंत्रण आया। मैं अश्वत्थ को ले उसके मंत्रणा शिविर की ओर बढ़ा।

"अब क्या होगा, कर्ण?" हताश हो अश्वत्थ बोल पड़ा।

"लड़ाई लड़ी जाएगी, और क्या होगा!" मैंने उसे सांत्वना दी, "हार-जीत तो योद्धाओं के जीवन का अंग है, मित्र।"

मंत्रणा शिविर में मात्र एक प्रश्न था—कल का सेनापति किसे बनाया जाय? बिना किसी विचार और बिना किसी भूमिका के अश्वत्थ ने मेरा नाम प्रस्तावित किया और दुर्योधन ने उसका अनुमोदन। घटोत्कच के वध का सब पर आतंक था ही, सबने मुझे स्वीकार कर लिया। शंख, तूर्य और नगाड़े बज उठे।

"सेनापति कर्ण की जय!" तुमुल हर्षध्वनि हुई।

कुछ विलंब से महाराज शल्य पधारे। आते ही उन्होंने दुर्योधन से पूछा, "क्या अब तेरे पास कोई और योद्धा नहीं रहा, जो तू ने एक सूतपुत्र को सेनापति बनाया है?"

सूतपुत्र सुनते ही मेरी पुरानी आग धुआँ छोड़ने लगी। अब तो मैं अपनी वास्तविकता जानता था। यह शब्द मुझे जरा भी स्वीकार नहीं था। मन में आया कि धक्के मारकर शल्य को निकाल दूँ; पर दुर्योधन का मुँह देखता रह गया।

उसने शल्य को समझाया भी, "महाराज! हम लोगों ने सेनापति के चयन के लिए इसका विचार नहीं किया कि कौन सूतपुत्र है और कौन क्षत्रिय! हम लोगों ने तो केवल इसका ध्यान रखा कि कौन अर्जुन का वध कर सकता है!"

"अच्छा, तो अब कर्ण अर्जुन का वध करेगा! वामन चंद्रमा छूएगा! चींटी हिमालय पार करेगी!" वह हँसने लगा। उसकी हँसी मुझे चुभती गई। मन में आया कि कह दूँ, यह नकुल और सहदेव का मामा है। कब चाहेगा कि मैं सेनापति बनाया जाऊँ!

फिर भी शल्य बोलता गया, "यदि कर्ण में ही अर्जुन के वध का सामर्थ्य था, तब आपने पितामह और आचार्य को व्यर्थ ही सेनापति बनाया। यह दायित्व तो आरंभ से ही कर्ण को सौंपना था। वह अर्जुन का वध कर डालता। इस महायुद्ध का अंत हो जाता। विजय तो आपकी मुट्ठी में थी।"

"व्यंग्य मत करो, शल्य। देख लेना, विधना ने अर्जुन का अंत मेरे ही हाथों लिखा है।" उस मंत्रणा शिविर में मेरी ध्वनि से कर्कशता पहली बार उभरी।

"वाह, क्या कहा तुमने! कवच-कुंडल खोकर भी, परशुराम से शापित होकर भी, इंद्र की अमोघ शक्ति गँवाकर भी तेरा अभिमान ज्यों-का-त्यों बना है। तू धन्य है, कर्ण! जलने के बाद भी तेरी ऐंठन फुफकारती है।" शल्य का यह प्रहार पहले से तीखा था।

दुर्योधन घबरा गया। उसे लगा, कहीं दोनों इस शिविर में ही न लड़ मरें। वह तुरंत शल्य के चरणों पर गिर पड़ा। आर्द्र कंठ से बोला, "महाराज! सब भूल जाइए। केवल मेरी परिस्थिति देखिए।" जीवन में शायद पहली बार दुर्योधन किसीके चरणों में गिरा था।

शल्य मान गया, "अच्छा चल, जो तू कहेगा वही करूँगा।"

"वही करेंगे न?" दुर्योधन पुनः विनीतभाव से बोला। शल्य ने मुसकराते हुए पुनः सिर हिला दिया। "तो महाराज, आपके योग्य हमें सारथि नहीं मिलेगा। आप कर्ण के सारथि हो जाइए।"

"नहीं, नहीं। मैं यह नहीं कर सकता!"

शल्य के मुख से निकला ही था कि शिविर के द्वार से एक विहँसती ध्वनि आई, "क्यों नहीं कर सकते? क्या मैं अर्जुन का सारथि नहीं हूँ? कोई कर्म हीन नहीं होता, शल्य, मात्र कर्मी हीन होता है।" कृष्ण का यह अप्रत्याशित आगमन हम सबको चकित कर देनेवाला था। हम अपने विवाद में ही इतने उलझे रहे कि हमें उनके आने की आहट तक न लगी। उनके साथ पांडव भी थे। सेनापति के लिए मुझे बधाई देने आए थे।

"सूतपुत्र कर्ण को नहीं वरन् सेनापति कर्ण को प्रणाम करता हूँ।" युधिष्ठिर बोले।

"सूतपुत्र कर्ण बहुत पहले ही मर चुका है, युधिष्ठिर। सेनापति कर्ण तुम्हें आशीर्वाद देता है।" मैंने ठीक उन्हींके स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा।

कृष्ण खिलखिला पड़े। उनकी हँसी औरों के चेहरों पर भी बिखर गई। थोड़ी देर तक शिविर में हास्य तरंग टकराती रहीं। फिर पांडव औपचारिकता का निर्वाह कर चले गए।

जब मैं अपने शिविर की ओर चला, रात्रि का द्वितीय प्रहर चल रहा था। शिविरों की ज्योति बुझ चुकी थी। घायलों की कराहें वातावरण में तैर रही थीं। मैंने देखा, मेरे शिविर के बाहर एक नारी टहल रही है। युद्धक्षेत्र में नारियों का प्रवेश वर्जित है। फिर द्रौपदी इस समय यहाँ कैसे चली आई? कहीं कृष्ण ने कोई और माया तो नहीं फेंकी? मैं उस व्यक्ति से बुरी तरह आतंकित था।

किसी भी शत्रु से कहीं अधिक मेरे ही क्रोध ने मेरा विनाश किया है। निश्चित रूप से कृष्ण की मंत्रणा पर वह मुझे चिढ़ाने ही आई थी। उसने कहा, "अब तुम मेरा चीर खिंचवाना चाहते हो, तो···" द्रौपदी अपनी बात पूरी करे, इसके पहले ही मैं संतुलन खोते हुए चीख पड़ा, "मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा चीर!"

"तब तुम क्या चाहते हो?"

उसकी निर्भीकता ने मेरे संतुलन को एक बार फिर झकझोरा, "तुम्हारा वैधव्य।"

इतना सुनते ही वह अट्टहास करती चली गई। मैंने आकाश की ओर देखा। आज फिर धूमकेतु अपनी अनिष्ट हँसी हँस रहा था।

मन इन जलती हुई हँसियों के दोनों छोर छूता रहा। मेरी व्यग्रता शय्या पर करवटें बदलती रही। कुत्तों और शृगालों की अशुभ ध्वनियाँ टकराती रहीं।

सामने अग्रसेन का टँगा मृत्युबाण अर्जुन के प्राणों की प्रतीक्षा करता रहा।

मनु शर्मा

१९२८ की शरत् पूर्णिमा को अकबरपुर (अब अंबेडकर नगर), फैजाबाद (उ.प्र.) में जनमे हनुमान प्रसाद शर्मा लेखन जगत् में 'मनु शर्मा' नाम से विख्यात हैं। लगभग डेढ़ दर्जन उपन्यास, दो सौ कहानियों और अनगिनत कविताओं के प्रणेता श्री मनु शर्मा की साहित्य साधना हिंदी की किसी भी खेमेबंदी से दूर, अपनी ही बनाई पगडंडी पर इस विश्वास के साथ चलती रही है कि 'आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, परसों नहीं तो बरसों बाद मैं डायनासोर के जीवाश्म की तरह पढ़ा जाऊँगा।'

अनेक सम्मानों और पुरस्कारों से विभूषित श्री मनु शर्मा ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लिखा है; पर कथा आपकी मुख्य विधा है। 'तीन प्रश्न', 'मरीचिका', 'के बोले माँ तुमि अबले', 'विवशिता' एवं 'लक्ष्मणरेखा' आपके प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं। 'पोस्टर उखड़ गया' सामाजिक कहानियों का संग्रह है। 'मुंशी नवनीतलाल' और अन्य कहानियों में सामाजिक विकृतियों तथा विसंगतियों पर कटाक्ष करनेवाले तीखे व्यंग्य हैं। 'द्रौपदी की आत्मकथा', 'अभिशप्त कथा', 'कृष्ण की आत्मकथा' (आठ भागों में), 'द्रोण की आत्मकथा', 'गांधारी की आत्मकथा' और अब यह अत्यंत रोचक कृति—'कर्ण की आत्मकथा'।

सम्मान और अलंकरण—गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट. की मानद उपाधि और उत्तर प्रदेश हिंदी समिति द्वारा 'साहित्य भूषण' विशेष उल्लेख्य हैं।